प्रभु आवत
सुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्रभु आवत

९५

लेखक—
श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'

६२२
२१

[इस पुस्तकको सम्पूर्ण अथवा इसके किसी अंशको भी
प्रकाशित करने, उद्धृत करने या किसी भी भाषामें
अनूदित करनेका अधिकार सबको है।]

"यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये
कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।"

प्रकाशक—
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान
मथुरा—२८१००१

प्रथम आवृत्ति : सन् १९८१ ई०
संस्करण : २,१५०
मूल्य : ८) आठ रुपये मात्र

मुद्रक—
पीयूष कुमार
शारदा प्रिंटर्स, मथुरा।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ सं०
	प्रथम खण्ड	
१.	विभीषणका प्रस्ताव	७
२.	श्रीरामका आग्रह	६
३.	व्यस्त विभीषण	११
४.	महारानी मन्दोदरी	१३
५.	शीलमयी सरमा	१५
६.	त्रिजटा	१७
७.	करुणामयी	१६
८.	पुष्पक	२१
९.	श्रीरामका विनोद	२३
१०.	विसैन्यीकरण	२५
११.	सहचर	२८
१२.	माल्यवन्त	३०
१३	प्रस्थान	३२
१४.	युद्ध-स्थली	३४
१५.	सेतु-भङ्ग	३७
१६.	रामेश्वर	३९
१७.	किष्किन्धा	४१
१८.	तारा	४३
१९.	रुमा	४५
२०.	आशीर्वाद	४७
२१.	माता अञ्जना	४९
२२.	महर्षि अगस्त्य	५१
२३.	पञ्चवटी	५३
२४.	महामुनि सुतीक्ष्ण	५५
२५.	अत्रि आश्रम	५७
२६.	चित्रकूट	५९
२७.	महर्षि बाल्मीकि	६१
२८.	अयोध्याकी झांकी	६३
२९.	त्रिवेणी स्नान	६५
३०.	सन्देश	६७
३१.	भरद्वाजाश्रम	६९
३२.	पवनकुमार आये	७१
३३.	शृङ्गबेरपुर	७३
३४.	अयोध्याके आकाशमें	७६
	द्वितीय खण्ड	
३५.	कैकय नरेश	८१
३६.	दक्षिण कोसल	८३
३७.	महाराज सुमित्र	८५
३८.	महाराज जनक	८७
३९.	महर्षि याज्ञवल्क्य	८९
४०.	महारानी सुनयना	९१
४१.	कुमार लक्ष्मीनिधि	९३
४२.	बहिन शान्ता	९५
४३.	ब्रह्मर्षि विश्वामित्र	९७
४४.	महर्षि भरद्वाज	९९
४५.	निषादराज	१०१
४६.	भगवान शिव	१०३
४७.	सृष्टिकर्ता	१०५
४८.	देवराज	१०७
४९.	प्रचेता	१०९
५०.	कुबेर	१११
५१.	यम	११३
५२.	अश्विनी कुमार	११५
५३.	विश्वकर्मा	११७
५४.	देव-वृन्द	११९
५५.	गंधर्वराज	१२१
५६.	अप्सराएँ	१२३
५७.	ग्रहगण	१२५

५८. सुरगुरु १२७
५९. महर्षि भृगु १२९
६०. देवर्षि १३१
६१. भगवान भास्कर १३३
६२. वैवस्वत मनु १३५
६३. महाराज दशरथ १३७
६४. देवी शारदा १३९
६५. भगवती धरा १४१
६६. भगवान शेष १४३
६७. दैत्यराज बलि १४५
६८. सूर्पणखा १४७
६९. लवणासुर १४९
७०. दानवेन्द्र मय १५१
७१. आचार्य शुक्र १५३
७२. बाणासुर १५६

तृतीय खण्ड

७३. श्रीभरतलाल १६१
७४. कुमार शत्रुघ्न १६३
७५, महामन्त्री सुमन्त्र १६५
७६. महर्षि वशिष्ठ १६७
७७. माता कौसल्या १६९
७८. माता सुमित्रा १७१
७९. माता कैकेयी १७३
८०. मन्थरा १७५
८१. माण्डवी १७७
८२, उर्मिला १७९
८३. श्रुतिकीर्ति १८१
८४. सेविकाएँ १८३
८५, विप्रवर्ग १८५
८६. सेवक १८७
८७. सैनिक १८९
८८. सखा १९१
८९. सहेलियाँ १९३
९०. पुरजन १९५
९१. पुरनारियाँ १९७
९२. बालक १९९
९३. बृद्धजन २०१
९४. पुर-रक्षक २०३
९५. पुर-सेवक २०५
९६, कलाजीवी २०७
९७. पुर-देवता २०९
९८. सरयू २११
९९. पुष्पक २१३
१००. कपिगण २१५
१०१. नल-नील २१७
१०२. सुग्रीव २१९
१०३. विभीषण २२१
१०४. अङ्गद २२३
१०५. जाम्बवान् २२५
१०६. हनूमान २२७
१०७. श्रीलक्ष्मण २२९
१०८. श्रीजानकीजी २३१
१०९: श्रीरघुनाथ २३३
११०, श्रीभरत २३५

प्रभु आवत

दो शब्द

विचार बहुत दिनोंसे था—'श्रीकृष्ण चरित' सम्पूर्ण करनेके पश्चात्से ही कि 'ब्रजका एक दिन' लिखना है। अनेक बार इच्छाकी और रुक भी गया—सदा इच्छा कार्यका रूप तो नहीं लिया करती।

रामवन आने पर भाई श्री भगवानदास सफड़िया प्रायः आग्रह करते हैं कि मैं कुछ लिखूँ। उनका प्रारम्भसे आग्रह है कि मैं उपन्यास लिखूँ और उनके आग्रहसे ही मैंने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। 'राक्षसराज' तथा 'शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा' ये दोनों उपन्यास उनके आग्रहसे लिखे गये; किन्तु दोनोंमे ही मैंने उन्हें निराश ही किया। वे चाहते थे कि मैं सचमुच उपन्यास लिखूँ—कल्पना प्रधान उपन्यास, किन्तु मेरे दोनों उपन्यास इतिहास ही अधिक हैं, उपन्यास तो वे किसी प्रकार ही कहे जा सकते हैं।

इस बार भाई सफड़ियाजीने कोई विशेष आग्रह तो नहीं किया, किन्तु उन्होंने एक अंग्रेजी (अमेरिकन) उपन्यासका हिन्दी अनुवाद पढ़नेको दिया, ऐसा उपन्यास जिसकी कुल घटनाएँ केवल चौबीस घण्टेकी थीं। उसे पढ़ते-पढ़ते 'ब्रजका एक दिन' लिखनेकी इच्छा तीव्र हो उठी। साथ ही 'अयोध्याका एक दिन' भी लिखनेकी बात मन में आयी।

विचार तो पहिले 'ब्रजका एक दिन' लिखनेका ही था, किन्तु रामवनकी अपेक्षा ब्रजमें रहकर उसे लिखना अधिक उपयुक्त होगा। रामवनमें तो श्रीराम, रामचरितकी ही चर्चा चिन्ता अधिक उचित है। अतः 'अवधका एक दिन' ही पहिले।

अवधका कौनसा दिन? यह प्रश्न मेरे मनमें आया और तुरन्त समाधान भीतरसे आ गया— **'रहेउ एक दिन अवधि आधार'** वाला दिन। भाई सफड़ियाजीने सुझाया था 'वह दिन जिस दिन श्रीरामको युवराज होना था और वनवासी होना पड़ा' लेकिन उस दिनकी चर्चा दुःखान्त है। मैं जानता हूँ कि पाश्चात्य कला मर्मज्ञ दुःखान्त कलाको अधिक मर्मस्पर्शिनी एवं महत्वशीला मानते हैं, लेकिन मेरी रुचि भारतीय परम्परा आनन्दकी आराधिका है। सुखान्त कला ही इस परम्पराको प्रिय

रही है । अतः मैंने वह दिन चुना जिसका सन्देश परम आह्लादमें पर्यवसित हो सके ।

'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत ।
सीता अनुज सहित प्रभु आवत ।।'

श्रीआञ्जनेयका यह सन्देश ही इस दिनका सन्देश है । इसीलिये मैंने अपने उपन्यासका नाम 'अवधका एक दिन' न रखकर **'प्रभु आवत'** रखना ठीक माना ।

श्रीरघुनाथ लंका-युद्धकी विजय एवं श्रीवैदेही-अग्निपरीक्षाके पश्चात् अयोध्याके लिए प्रस्थान करना चाहते हैं, बस यहीं से उपन्यास प्रारम्भ होता है । पुष्पक अयोध्याकी भूमि पर उतर पड़ता है और श्रीभरतलाल **'सीस धरे प्रभु पावँरी'** वेग पूर्वक बढ़ते हैं । पुष्पकसे उतर कर श्रीरघुनाथ दोनों भुजाएँ फैलाये दौड़े आ रहे हैं श्रीभरतसे मिलने, यहाँ उपन्यास समाप्त हो जाता है । **'प्रभु आवत'** एक भावना, पुष्पकसे उतर कर प्रभु अत्र इसी क्षण आते ही हैं, अस्त-व्यस्त, दोनों सुविशाल भुजा फैलाये अंकमें भर लेनेको, जैसे इस चिन्तनमें, इस आशाका आभास दे जाता है ।

यह उपन्यास है, केवल कुछ अध्यायोंको छोड़ कर । इस बार यह वास्तविक उपन्यास है । क्योंकि मेरी कल्पनाने जो कुछ देखा है, उसका किसी इतिहासकार, रामचरित चिन्तक ऋषिने वर्णन नहीं किया है । रामचरित मानसके आधार पर केवल थोड़ेसे पृष्ठ हैं और उनका वह अंश नीचे दे दिया गया है । एक अछूते पृष्ठ पर जब कल्पनाकी तूलिका रेखाएँ खींचकर कुछ चित्र बना देती है, उसको उपन्यास कहा जाता है । यह एक भिन्न बात है कि जो श्रीराघवेन्द्र परम सत्य हैं, उनके श्रीचरणोंका स्पर्श करके कल्पना भी सत्य हो जाती है और इस अर्थमें मेरी कल्पनाका यह चित्र भी उपन्यास होते हुए भी इतिहास हो गया है ।

इसकी कला या विवेचनादिके सम्बन्धमें मुझे कुछ नहीं कहना । आपको यह प्रिय लगे तो मेरा सौभाग्य, किन्तु अप्रिय लगे अभाग्य आपका । क्योंकि—

'राम चरित जे सुनत अघाहीं ।
रस बिसेढ जाना तिह नाहीं ।।'

मुझे तो इस प्रयासमें ही प्रयासकी परम सार्थकता प्राप्त हो गयी मेरा चित्त चिन्तनमें लगा रहा उन चारु चरणोंके जिनका क्षणार्ध चिन्तन भी जीवनको धन्य कर देता है । अतः मुझे तो इस प्रयासने पवित्र किया, आनन्दित किया और सफल किया मेरी प्रयत्न-शक्तिको ।

श्याम कुटि कैलास (आगरा) सुदर्शनसिंह 'चक्र'

तुलसी जयन्ती सं० २०१६ वि०

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें–

इसके प्रथम संस्करणमें दो मुख्य त्रुटियाँ मेरे प्रमादके कारण रह गयी थी। १. महारानी कैकयीके पिताका नाम अश्वजितके स्थान पर प्रसेनजित चला गया था। २. दो महत्वपूर्ण पात्र छूट गये थे। एक महारानी सुमित्राके पिता महाराज सुमित्र और दूसरी बहिन शान्ता। ये त्रुटियाँ इस संस्करणमें दूर हो गयी हैं।

ससुरालमें बहुओंका नाम न लेनेकी पुरानी प्रथा है। अतः उनके नाम उनके तृगृहके राज्यके अनुसार लिये जाते थे। कौसल्या दक्षिण कोसलकी, सुमित्रा मित्रकी, कैकयी कैकयकी। ये व्यक्तिके सांकेतिक नाम हैं। मुझे महारानी सल्याका पितृगृहका नाम नहीं मिला। महारानी सुमित्रा का नाम गुणावती और महारानी कैकेयीका नाम रुपमालनी था। इस संस्करणमें यह स्पष्ट कर दिया गया।

अब इस पुस्तकका यह संस्करण श्रीकृष्ण जन्म-स्थान सेवा-संस्थान कर रहा है; क्योंकि मानस संघ रामवन (सतना) से प्रकाशित प्रथम संस्करण अनुपलब्ध हो गयाहै और वे पुनमुद्रिण करनेकी स्थितिमें नहीं हैं?   — लेखक

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती ।
रटहु निरन्तर गुन गन पाँती ।।
रघुकुल तिलक सुजन सुख दाता ।
आयउ कुसल देव मुनि त्रांता ।।
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत ।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत ।।

श्रीरा. च. म. उ. १. ३-५

प्रथम-खण्ड

१. विभीषणका प्रस्ताव—

'नाथ' ! प्रेम और विनय जैसे स्वरमें साकार हो उठे—विभीषणने अञ्जलि बाँध रखी थी और मस्तक झुका रखा था। आज वे लङ्काके अधीश्वर थे, उस रावणकी लङ्काके जिसके भ्रूभंङ्गसे त्रिभुवन कम्पित होता था। विभीषण सदासे सच्चे—अर्थोमें लङ्काके शासक थे, क्योंकि रावण तो प्रायः अपनी दिग्विजयके प्रयत्नोंमें बाहर ही रहता था, किन्तु आज विभीषण वास्तविक सम्राट थे, राक्षस-सम्राट और यह स्थिति उन्हें जिनकी अनुकम्पासे प्राप्त हुई थी, वे नव-दूर्वादलश्याम नयनाभिराम श्रीराम अभी भी युद्धके अपने शिविरमें ही विराजमान थे। अब तक श्रीअङ्ग पर पड़े रक्तके विन्दु सूख चुके थे, किन्तु प्रभुने अभी स्नान तक नहीं किया था।

'लङ्कानाथ क्या चाहते है ?' श्रीराघवने सप्रेम विभीषणकी ओर देखा। लंकाभियानके पूर्व सागरके दूसरे तट पर जिन्हें सागरके क्षार जलसे तिलक करके उन्होंने 'लंकेश' कहा था, अब उन्हें लंकाके सिंहासन पर लक्ष्मणके करोंने अभिषिक्त कर दिया था। शरण्य आज सफल शरणद थे। विभीषणकी ओर उनकी सानुग्रह दृष्टि उठी।

'लोकरावण रावण आपके प्रचण्ड प्रतापानलमें सदल भस्म हो गया। विभीषणके स्वरमें विषाद स्पष्ट था—'दशग्रीवका कुल प्रायः समाप्त हो चुका है।'

'आप जानते हैं, बन्धु' श्रीराघवके कमलदलायत लोचन सजल हो उठे,—'रामको आपसे कम अन्तर्व्यथा नहीं है।'

'मैं दूसरी बात कह रहा था प्रभु !' विभीणने झटपट अपनेको सम्हाल लिया। पश्चाताप करनेके लिए तो सम्पूर्ण जीवन पड़ा है; किन्तु अपने आश्रयदाता परमोदार कौशल-किशोरकी अत्यल्प चरणार्चाका अवसर कदाचित ही कभी आवे—'आपका भुवन-पावन विरद अनन्तकाल तक लोकमानसको परिपूत करता रहेगा।'

लेकिन आप भी क्या औरोंके समान स्तवनही करना चाहेंगे ?' संकुचित हो रहे थे मर्यादापुरुषोत्तम।

'भगवान शंकर तक जिनका स्तवन करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, मैं उनका स्तवन कर पाता' भाव क्षुब्ध कण्ठ हो उठा विभीषणका—'किन्तु इतना सौभाग्य इतनी योग्यता इस जनके भालमें अंकित नहीं। प्रभु दीनबन्धु हैं, पतित-पावन हैं और यह राक्षस कुलमें उत्पन्न अधम दीन प्राणी है, यह जानकर दयामयने इसे

अपना लिया। करुणा-वरुणालयकी कृपा पाकर यह पामर धन्य हो गया। इस असीम अनुकम्पाने धृष्ट कर दिया है इसे।'

'राम को लज्जित किये विना भी आप अपनी बात कह सकते हैं मित्र।' सचमुच श्रीरामके समान संकोचशील स्वामी सृष्टिने दूसरा नहीं देखा।

'श्रीअङ्ग अब भी शोणित सीकरोसे शोभित हैं।' विभीषणने अंजलि बाँध ली और उनका स्वर अत्यन्त विनय-पूर्ण हो गया 'जब इस अधमको आपने अपना ही लिया तो इसे सब प्रकार धन्य हो लेने दीजिये।'

श्री रघुनाथ बोले नहीं। वे शान्त देखते रहे विभीषणकी ओर। उनकी वह दृष्टि; धन्य तो हो गया वह जिसके ध्यानमें भी उस दृष्टिकी एक झलक आगयी।

'लंका अपवित्र है दशग्रीवकी राजधानी होनेके कारण। प्रभुके श्रीचरण पड़े तो वह पुनीत हो जायगी। इस जनका गृह चरणरजसे तीर्थ बन जाय आज। सम्यक स्नानकी व्यवस्था कर आया है सेवक। इससे युद्ध-श्रम शान्त हो जायगा।' विभीषणने अपनी प्रार्थना पूर्णकी —'लंकाका कोष, उसकी सम्पत्ति, उसके स्वर्ण-सौध कम-से-कम एक बार प्रभुकी दृष्टिसे पवित्र हों। प्रभुके करोंसे मेरे बानर-रीछ मित्र आनन्दोपहार प्राप्त करें। सब प्रकार इस जनको अपना कर कृतार्थ करें प्रभु।'

श्रीरघुनाथ एक क्षण मौन ही रहे। स्पष्ट था कि विभीषण अभी कुछ और कहना चाहते हैं। सचमुच उन्होंने अपनी बात आगे चलायी 'मुझे ज्ञात है, प्रभुको अवध-प्रस्थानकी शीघ्रता है; किन्तु इस जनको साथ चलनेकी आज्ञा मिल जायगी ऐसी दुराशा अपने परमोदार स्वामीके स्वभावको देखते यह कर चुका है। इसकी यह आशा भी सफल होनी चाहिये नाथ।' ★

विभीषणने चरणों पर मस्तक रख दिया। वे शीघ्रता पूर्वक बैठ गये थे श्रीचरणोंके समीप और उनके-नेत्र बिन्दुओंने श्रीरघुनाथके पादपद्मोंका अभिषेक प्रारम्भ भी कर दिया था। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बलपूर्वक उठाकर हृदयसे लगा लिया।

★ दीन मलीन हीन मति जाती। मोपर कृपा कीन्हि बहु भाँती॥
अब जन गृह पुनित प्रभु कीजे। मज्जन करिअ समर श्रम छीजे॥
देखी कोस मन्दिर सम्पदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहुँ मुदा॥
सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥
श्रीरा. च. मा. लंका. ११५.४-७

—卐—

२. श्रीराम का आग्रह–

'मित्र लंकाधिप ! आपका कोष, गृह, राज्य सब मेरा ही है !' स्वरोंमें शिष्टता नहीं, हृदय बोल रहा था–'आप जानते हैं कि रामकी वाणी असत्य स्पर्श नहीं करतीं; किन्तु........'

'किन्तु क्या देव ?' प्रभुके नेत्र सजल हो गये और उनकी वाणी अवरुद्ध होने लगी—यह देख कर विभीषण चौंके।

'पवन कुमार संजीविनी लानेके प्रसङ्गमें अयोध्या गये थे और भरतलालसे मिल आये थे।' प्रभुके लोचनोंसे बिन्दु टपकने लगे। उन्होंने उन्हें रोकनेका उत्तरीयसे मार्जित कर देनेका कोई प्रयत्न नहीं किया। 'आपने सुना है मित्र कि मेरे भाईकी क्या अवस्था है।

'सुना है देव !' विभीषणके नेत्र सजल हो उठे।

'श्याम शरीर, वल्कल वस्त्र, जटा मुकुट-जैसे प्रभुकी ही एक दूसरी प्रतिच्छवि हो, किन्तु अत्यन्त कृश, अत्यन्त म्लान !' पवनपुत्रने उस समय सुनाया था—'भूमिको खोदकर नीचे कुश बिछा लिये गये हैं और भरतलाल उसी पर आसन लगाये बैठे रहते हैं। 'गोमूत्र-यावक' * के कुछ ग्रास उनके आहार हैं और उनको भी वे महीनेमें दो-चार बार ही ग्रहण करते हैं। उनके व्रतोंका क्रम अविच्छिन्न है।'

''नेत्र सिंहासनासीन प्रभु-पादुका पर लगे, कर उन आराध्य पादुकाओं पर छत्र धारण किये, रसना रात-दिन 'राम राम' रटती, ऐसी वह अश्रुस्नात, पुलक पूरित केवल तपः तेजधन श्रीमूर्ति' श्रीहनुमानजीने कहा था 'इतना पावन सात्विक कठोर तप त्रिभुवनने कदाचित कभी देखा नहीं और आगे देखनेकी सम्भावना भी नहीं।'

'भाई भरतका स्मरण आता है तो मुझे एक पल एक कल्प प्रतीत होता है विभीषण !' श्रीरघुनाथका स्वर स्पष्ट नहीं हो रहा था। गद्गद कण्ठ बोलनेमें असमर्थ हो रहा था।

'मित्र ! तुम मुझ पर इस समय अनुग्रह कर सकते हो !' जैसे कोई आर्त प्रार्थना

---

* गायको जौ खिला दिया जाता है। वह जौ गोबरमें आता है तो धोकर सुखा लेते हैं। फिर उसे गो-मूत्रमें पकाया जाता है। यह गोमूत्रमें पका जौ 'गो-मूत्र-यावक' कहलाता है।

कह रहा हो, श्रीरामके कण्ठसे, त्रिभुवनके परम प्रभु श्रीरामके कण्ठसे ऐसा स्वर सुननेकी कोई कैसे आशा कर सकता था।

'देव !' विह्वल हो उठे विभीषण। प्रभु अनुनय करें, इतने आर्त स्वरमें अनुनय करें—अपने सेवकसे अनुनय ! वे आज्ञा क्यों नहीं करते ?

'मुझे अयोध्या छोड़े आज चौदह वर्ष पूरे हो जायेंगे। पितृ-चरणने चौदह वर्ष वनवासकी अवधि निश्चित की थी और आजकी रात्रि समाप्त होनेके साथ वह अवधि समाप्त हो जायगी। 'जैसे श्रीरघुनाथ आत्मलीन बोल रहे हों—'चित्रकूटसे विदा होते समय भरतने अपना निश्चय सूचित कर दिया था। और इक्ष्वाकु-कुलका निश्चय तो आप जानते ही हैं !'

'वह निश्चय ?' विभीषणने पूछ लिया, यद्यपि वे अनुमान कर चुके थे कि वह निश्चय क्या हो सकता है।

'अवधि समाप्त होनेके पश्चात यदि मैं अयोध्या न पहुँचा, स्वर किञ्चित कम्पित हुआ—'भरतके प्राण उस दिनका सूर्यास्त-दर्शन करनेकी प्रतीक्षा देहमें रह-कर नहीं करेंगे !'

विभीषण स्तब्ध रह गये। एक शब्द नहीं निकल सका उनके मुखसे।

'वह दिन कलका ही है मित्र ! मैं यदि अवधि व्यतीत होने पर भी नहीं पहुँचता हूँ, मेरा भाई मुझे जीवित नहीं मिलेगा।' शरीर पुलकित हो गया, नेत्रोंके टपकते बिन्दु वारिधारा बन गये। स्वरमें वही अपार अनुनय पुनः आया—'आप मुझपर अनुग्रह कीजिये राक्षसेश्वर ! कोई ऐसी व्यवस्था कीजिये जिससे मैं कल प्रातः अयोध्यामें उपस्थित हो सकूँ। रामका इससे बड़ा उपकार दूसरा कोई नहीं कर सकते आप !'

'नाथ !' विभीषण लगभग चीत्कार करके गिर पड़े श्रीचरणों पर और फूट कर रो उठे। बड़ी कठिनाईसे उनके कण्ठसे थोड़से शब्द निकले- 'हम सब कल प्रातः भरतजीके दर्शन करके धन्य होंगे।'

—+—

---

* तीर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
—श्रीरा. च. मा. लंका. ११६

३. व्यस्त-विभीषण—

'श्रीरघुनाथ अभी ही प्रस्थान कर देना चाहते हैं!' विभीषण नगरमें लौटे थे और व्यस्त हो गये थे। उन्होंने मातामह वयोवृद्ध माल्यवन्तको प्रबन्धका समस्त भार दे दिया था।

लंकाका प्रबन्ध विभीषणके लिए नवीन नहीं था। सदासे इस स्वर्णपुरीके वही मुख्य व्यवस्थापक थे; किन्तु आज वे अभिषिक्त नरेश होकर भी यहाँ कैसे रह सकते थे। श्रीराघवेन्द्रके साथ अयोध्या जाकर उनके राज्याभिषेकमें सम्मिलित होनेके महालाभ के लिए तो त्रिलोकीका राज्य छोड़ दिया जा सकता था।

'आप चिन्ता न करें!' माल्यवन्तने आश्वासन दिया। वे दशग्रीवकी राज्यसभाके वरिष्ठ मन्त्री—लंकाकी व्यवस्था उन पर छोड़ दी जा सकती थी।

'चिन्ता करनेको अब रह ही क्या गया है।' विभीषणके स्वरमें वेदना बोल रही थी—'जनहीन इस नगरका राजा—श्मशानका कोई नरेश हो जाय तो वह भी विभीषणके समान निश्चिन्त रह सकता है।'

'आप विज्ञ हैं। काल की गति अनुल्लंघ्य है' माल्यवन्तने आश्वासन दिया—'जब कोई त्रिभुवन कण्टक बन जाय, विश्वका व्यवस्थापक उसे कुशली कैसे रहने दे सकता है।'

'अब इस चर्चाका अर्थ भी क्या है और अवसर भी कहाँ हैं।' विभीषणने अपनेको स्थिर कर लिया—'असुर अपने हैं तथा सुरोंकी शत्रुता समाप्त हो ही चुकी। जो शिशु पितृहीन हो गये हैं, जो वृद्ध पुत्रहीन है, जो माताएँ एवं वधुएँ पुत्र-पति हीना हो गयी हैं उनको आश्वासन प्राप्त हो, उनका क्लेश जैसे भी कम हो, आप उसकी व्यवस्था अधिक उत्तम रीतिसे कर सकेंगे।'

'अपनी कुल परम्परा नारियों का पुनर्विवाह अनुचित नहीं मानती।' माल्यवन्तने एक आवश्यक निर्देशकी अपेक्षा की।

'जो विवाह करना चाहें, उन्हें समुचित सुअवसर एवं सुविधा दीजिये। मेरी सम्मतिमें इस दिशामें प्रोत्साहन देना उपयुक्त होगा।' विभीषणने अनुमति दे दी एक विशेष संकेतके साथ—'बिना किसी प्रतिबन्धके यह होने दीजिये; किन्तु लंका जनहीन प्रायः हो गयी है। अतः हम प्रसन्न होंगे यदि नव विवाहित दम्पति यहीं आवास बनायें। उन्हें उचित गृह तथा गृहोपकरण उदारता पूर्वक प्रदान कीजिये।'

'आप यदि सम्राटके अभिषेकके अवसर पर पधारते !' माल्यवन्तने बड़े संकोचके साथ कहा—'हम लोगोंको कहीं गगन-मार्गसे जानेमें पुष्पककी अपेक्षा नहीं होती।'

'आप भूलते हैं मातामह !' विभीषणने महामन्त्रीको रोक दिया—मर्यादा पुरूषोत्तमने नगरमें पधारना तक स्वीकार नहीं किया । आर्य परम्परामें ही विजितको पराधीन बनाना या उसका धन अपहरण करना निन्द्य माना जाता है और वे परमोदार तो विजयके पूर्व मेरा अभिषेक सम्पन्न कर चुके थे । हम धन्य होजाते यदि वे अल्प उपहार भी स्वीकार कर लेते ; किन्तु इसकी आशा नहीं है । लेकिन मैं प्रभुके अनुगमनका सौभाग्य छोड़ना नहीं चाहता । दूसरे लंकामें अब है कौन ? शोक संतप्त नारियाँ. वृद्ध एव शिशु । उनको असहाय बना देनेमें विभीषण छोटा निमित्त नहीं रहा है। मेरी उपस्थिति उन्हें आकुल करेगी—आश्वासन नहीं देगी। कुछ काल मैं लंकासे अनुपस्थित रहूँ यह उनके हितमें ही होगा।'

'आपकी धारणा है कि पुष्पक लंका लौट आवेगा ?' माल्यवन्तने पूछा।

'नहीं !' विभीषणने स्थिर स्वरमें कहा—'वह लंकाका तो है नहीं। उसे धनाध्यक्षके पास अलका जाना चाहिये और मुझे विश्वास है, श्रीरघुनाथ उसे वहीं भेजेंगे । हम मर्यादा-पुरुषोत्तमके अनुचर हैं । उनके सेवकके उपयुक्त हमें बनना चाहिये। आपको यह भी व्यवस्था करनी है कि अपने समीप जो बलात् हरण करके लायी वस्तुएँ हैं वे द्रव्य हों या प्राणी, उन्हें उनके वास्तविक स्वामीके समीप सादर भेजदें। मेरी ओरसे क्षमा माँगलें कि हम पिछले अपराधोंका प्रायश्चित करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं।'

विभीषण बहुत व्यस्त थे। अत्यल्प समय है । श्रीरघुनाथको तत्काल प्रस्थान कर देना है । विभीषणका कार्य महामन्त्रीको निर्देश दे देने मात्रसे पूर्ण नहीं हो जाता। उन्हें स्वजनोंसे विदा लेनी है। सम्मान्योंको प्रणाम करना है तथा उनसे अनुमति प्राप्त करनी है। कुछ गृहों एवं स्थानोंका स्वतः निरीक्षण करना है । जो श्रीराम-जानकीके दर्शनको आतुर हैं, उनको वहाँ तक पहुँचानेकी व्यवस्था भी करनी है। वे इन सब कार्योंमें लग गये हैं।

४, महारानी मन्दोदरी—

मैं किस मुखसे प्रार्थना करती कि राज-सदन श्रीचरणोंसे पवित्र हो ।' मय-तनयाने जैसे ही सुना कि प्रभु अयोध्या प्रस्थान करनेवाले हैं, उन्होंने व्यवस्थाकी श्रीवैदेहीके समीप पहुँचनेकी और उन भुवन-वन्द्याके पावन पदोंमें प्रणत होनेके पश्चात् भूमिमें ही बैठ गयी थीं—'मैं इतनी ही प्रार्थना करती हूँ कि इस किंकरीको आप क्षमा कर देंगी ।'

'आर्यपुत्र अवध पहुँचनेकी त्वरामें हैं महारानी !' श्रीमैथिलीने अत्यन्त संकोच पूर्वक कहा—'क्षमा तो मुझे मांगनी चाहिये । यह वन-वासिनी आपको यहाँ तृणासन देनेमें भी असमर्थ है '

'लंङ्का का सिंहासन जिनके भ्रू-भङ्गसे प्रदत्त बन गया ।' मन्दोदरी खिन्न हो उठी थीं—'उन सर्वेश्वरकी सहधर्मिणीके लिए यह विनय उपयुक्त ही है । मन्दोदरीका अभाग्य यही है कि वह आज भी महारानी ही है । इन चरणोंमें दासीके रूपमें उसे स्वीकृति नहीं मिली । इस स्वर्ण-भूमिमें जगन्माताको जो क्लेश मिला, जो अपमान सहना पड़ा, उसमें यह हतभागिनी भी कम अपराधिनी नहीं है ।'

'तुम अकारण दुःखी होती हो सखी !' श्रीवैदेहीके नेत्र सजल हुए—'मैं इस वेदनाको किसी प्रकार विस्मृत नहीं कर सकती कि इस वैभवमयी आमोदपूर्ण नगरीमें 'सीता कालरात्रि बन कर आयी । यह क्रूर कपाल लेकर यहाँ न आयी होती, लंकाको ये दिन क्यों देखने पड़ते ।'

'दयामयी अनन्त करुण-वरुणालयके उपयुक्त हैं ये उद्गार देवि ! मन्दोदरीने पुनः चरणों पर मस्तक रखा—मैं जो हो चुका, उसके लिए खेद नहीं करती । असत्य पथ-को अपना कर कोई कहीं कुशली रह जाय, सृष्टाकी सृष्टिका विधान ही अस्त-व्यस्त हो जायगा । आप-सी महिमामयी जहाँ उत्पीड़ित हुई, वहाँ आज भी जीवन है, आमोद है, प्रभुका अनुग्रह अपार न होता, लंका इस योग्य कहाँ थी कि उसका कोई चिह्न सागरके वक्ष पर सुरक्षित रहता । यहाँका अन्याय-कलुष वैभव इस योग्य नहीं था कि उससे किञ्चत भी प्रभुका सत्कार हो पाता, अतः ऐसा आग्रह मैं नहीं करती ।'

'सखि मैं सन्तुष्ट होती तुम्हारे सदनमें तुमसे मिलकर, किन्तु हम वनवासी हैं । नगर एवं सौध अवधि रहते हमारे लिए वर्जनीय हैं ।' श्री जानकीने मृदु स्वरमें

कहा—'अवधि पूर्ण होते ही अवधमें उपस्थित न होना अनर्थ कर देगा। प्रभु आशा करते हैं कि लंकाकी नवीन व्यवस्थामें महारानीके सम्मानका सम्यक् ध्यान रखा जायगा और……………

'मन्दोदरी महारानी रहेगी। उसकी इच्छाका पूर्वापेक्षा भी अधिक आदर होगा। किन्तु……'कण्ठ भर आया लंकेश्वरीका, 'आप नारी हैं देवि ! आप समझ सकती हैं। मेरी वेदना। यह ठीक है कि राक्षस कुलमें पुनर्विवाह प्रचलित है। यह भी ठीक है कि सहस्र-सहस्र राक्षसकुल वधुएँ जो अनाश्रया हो गयीं है, उनका क्रन्दन शान्त करनेके लिए मन्दोदरीका भी कुछ कर्तव्य है और उसने इस कर्तव्यकी वेदी पर अपनी आहुति दे दी है। वह महारानी है, पूर्वापेक्षा अधिक अधिकार सम्पन्ना, आदरार्हा महारानी ; किन्तु नारीको क्या कभी सम्मानसे संतोष मिला है ? आप वन न आतीं, कम स्नेह सम्मान था अयोध्यामें आपका।'

'सुना है, विभीषणजीने विधिवत आपको अङ्गीकार कर लिया है। ' बड़े संकोच पूर्वक श्रीजानकी यह कह सकीं। उन्हें यह पुनर्वरणकी बात ही अद्भुत एवं असह्य लगती थी।

'वधू प्रमिला मेघनादके साथ सती होगयी। धन्य होगयी वह ; किन्तु उसकी सासके भाग्यमें यह सौभाग्य नहीं था देवि ! मन्दोदरीके नेत्र टपकने लगे 'वह महारानी जो है ! अपनी अनाश्रया प्रजाके प्रति उसका कर्तव्य। सब रक्षोकुल वधुएँ जब सती नहीं हो सकतीं, मन्दोदरी ही यह सौभाग्य कैसे स्वीकार कर ले। हृदय पर शिला रखकर उन सबको उनके कुलाचारका आदर्श प्रदान करना था। आप आशा करती हैं कि मैं सरमाकी संस्पर्धिनी बनूँगी ? प्रभुने जिन्हें अपने अनुग्रहके उपयुक्त माना, वे ही अपनी साध्वीके प्रति अन्याय करेंगे ? यह सदासे उनकी श्रद्धेया रही है और आज भी है, क्या हुआ जो अब वह श्रद्धा शब्दोंमें व्यक्त नहीं हो पाती।

'हाँ सखि ! ' अंकमें भर लिया श्रीवैदेहीने मयपुत्रीको और अपने अश्रुओंसे उसकी अलकें सिञ्चित कर दीं—'तुम्हारी व्यथाका तो अन्त ही नहीं है।'

विडम्बना यह है देवि कि नवीन लंका नरेशके साथ उसकी यह महारानी भी कल्पा-अमरत्व पागयी है।' मन्दोदरीकी नेत्र-धारा श्रीजनकनन्दिनीके पाद-पद्म प्रक्षालित कर रही थी, 'केवल एक आश्वासन मिला इन चरणोंमें उपस्थित होकर कि आपने इस अधमाको सखि कहा। धन्य हुई।'

शीघ्र ही यह मिलन समाप्त हुआ। मन्दोदरीने विदा ली स्वयं ; क्योंकि उसने देख लिया कि विभीषणजीकी पत्नीकी शिविका निकट आ गयी है।

—★—

५–शीलमयी सरमा—

'सखि ! विपत्तिकी सङ्गिनी !' महाराज विभीषणकी पत्नी सरमाने दूर ही शिविका त्याग दी थी और वे पैदल ही आयीं थीं । उन्हे प्रणत होनेका भी अवसर नहीं मिला । आगे बढ़कर श्रीजनकनन्दिनीने उन्हें अपने अङ्कमें भर लिया और उनके नेत्र-विन्दु सरमाकी अलकोंको आर्द्र करने लगे ।

सौन्दर्य कई प्रकारका होता है । महारानी मन्दोदरीका सौन्दर्य भी अपनी तुलना नहीं रखता । वह सौन्दर्य जो मादकता विखेरता है । जिसे देखकर मन उन्मत्त हो उठता है । जगज्जननी श्रीजानकीके सौन्दर्यकी कल्पना ही असम्भव है ; किन्तु वह सौन्दर्य ऐसा है, जिसके सम्मुख मस्तक झुक जाता है । जिसमें अपार माधुर्य एवं अनन्त वात्सल्य एकाकार हो गये हैं । शैलूष गन्धर्व राजकी कन्या सरमाका सौन्दर्य इन दोनोंसे भिन्न है । उसमें न मादकता है, न महिमा । वह जैसे कोमल कलाकी एक अत्यन्त सुकुमार सौम्य प्रतिमा है । उसमें पवित्रता है, शान्ति है, शील है । उसे देखकर उन्मादीका अन्तर भी शान्त हो उठेगा । उसके प्रति स्नेह उमड़ेगा ।

सरमा अब भी उसी शान्त सौम्यवेशमें हैं । उनके वस्त्र भड़कीले नहीं हैं और उनके शरीर पर नाम मात्रको आभूषण हैं । वे सदासे शृंगारसे लगभग विरत रही हैं । उनके जो आराध्य है, उनकी रुचि जैसी हैं, उसे देखते सरमाको शृंगारकी आवश्यकता भी क्या है ।

"इस दासीको सेवाका सौभाग्य कहाँ मिला !" देर तक श्रीवैदेहीने अंकमें लगाये रखा था । वहाँसे अवसर मिलने पर श्रीचरणोंको मस्तकसे स्पर्श करनेके अनन्तर सरमाने कहा—'लंकामें जो अपार कष्ट हम सबने दिया, आप अपने सहज वात्सल्वश उसे स्मरण नहीं करती; यह स्वभाविक है; किन्तु हम सब रहे अन्ततः भाग्यहीन ही ।'

'क्या कहती हो सखि ! तुम्हारी सहायता, स्नेह और सहानुभूति प्राप्त न होती—जानकी क्या आज जीवित मिलती अपने अराध्यको । तुम्हारे उपकारसे मर्यादा-पुरुषोत्तम उऋण हो सकते हैं ?' नेत्र झरते जा रहे थे श्रीमिथिलेशकुमारीके—

'श्रीलंकानाथके साथ तुम अवध चलतीं सखि ! जानकी कुछ तो सेवाका समय पाती ।'

'देवि ! आपका दास्य पाकर यह राक्षसी धन्य हो गयी है ।' सरमाने गम्भीरता पूर्वक कहा—'मर्यादा पुरुषोत्तम अश्वमेध यज्ञ करेंगे, तब इस किंकरीको आप विस्मृत नहीं करेंगी, ऐसी यह आशा करती है । लेकिन इस समय लंकाके नवीन नरेशको एकाकी ही जाना चाहिये । उनके साथ जानेका स्वत्व जिन्हें है—लंकाकी महारानीको इस समय चलनेको कहना उनकी अत्यधिक अवमानना होगी ?'

'लंकाकी महारानी' श्रीजानकीके नेत्र सरमाके मुखकी ओर उठे—'तुम खिन्न नहीं हो सखि इस व्यवस्था से ? तुम्हारा स्वत्व——'

'मर्यादा पुरुषोत्तमके द्वारा किसीकी कभी स्वत्व हानि सम्भव है देवि ? मेरे आराध्य उन श्रीचरणोंके ही अनुगामी हैं ।' सरमाके अधरों पर मन्द स्मित आया—'मेरा स्वत्व तो मुझे नित्य प्राप्त है । सिंहासनकी अपेक्षा मुझे कभी नहीं थी । आपसे अधिक यह कौन समझेगा कि नारीका सच्चा सिंहासन कहाँ है । महारानीको सिंहासन ही तो मिला—वह तो उनका था ही । यह नवीन व्यवस्था तो एक विवशता है । लंकाकी अनाश्रया कुल वधुओंके लिए एक आश्वासनका प्रयत्न मात्र । सिंहासन पर महारानी नरेशके वामाङ्कमें आसीन हुईं—इससे अधिक विडम्बना उनकी और क्या होती । केवल सिंहासन पर ! अन्यथा इस सेविकाका स्वत्व तो सदा ही सुरक्षित है । लंकाके नरेश हैं वे महारानीके साथ; किन्तु सदा ही तो वे नरेश नहीं हैं । इस किंकरीके हैं— उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम जानते है ।'

'सखि ! सीताको सुअवसर नहीं मिला तुम्हारा किञ्चित् भी सत्कार करनेका ।'

'देवि ! कहना तो मुझे था ' सरमा हँस गयी एक भोली बालिकाके समान—'इस दासीको इस योग्य भी नहीं माना गया कि अपने सदनमें वह इन श्रीचरणोंको प्रक्षालित करके चरणोंदकसे गृहको सिञ्चित कर लेती । राक्षसका घर भी पवित्र हो जाता । लेकिन मैं आज उपालम्भ नहीं दूँगी । आप अपनी इस दासीको विस्मृत न करें, इतना ही इसका अहोभाग्य ।'

'तुम्हारे सदनमें जानेकी इच्छा मेरे मनमें कम नहीं थी । लंकामें एक ही सदन था, जहाँ मेरी सखी रहती थी; किन्तु आर्यपुत्र त्वरामें हैं और अभी अवधि·······'

'ज्ञात है देवि !' सरमाने बीचमें ही कहा—'इस सेविकाको आपने अपना माना, यही कम सम्मान नहीं है ।'

—✱—

६. त्रिजटा—

कज्जिल कृष्ण वर्ण, किञ्चित स्थूल काय, निम्न नासिका; स्थूलोदर, स्थूलाधर होने पर भी त्रिजटाको भयंकर या कुरूप कह पाना कठिन है। यह ठीक है कि वह सुन्दर कभी नहीं रहती होगी; किन्तु उसके छोटे-छोटे नेत्र निर्मल हैं, उसका ललाट संकीर्ण नहीं हैं। न हीं उसके मुखपर एक सौम्यता है। त्रिजटाको देखकर भय नहीं लगेगा किसीको। उसके प्रति अकारण श्रद्धा हो उठती है। लंकाकी दारुण राक्षसियोंके मध्य जब वह होती है लगता है कोई देवी उनमें भटक गयी है।

त्रिजटाके केशोंमें चतुर्थांश श्वेत हो चुके हैं। उसके शरीर पर जराके चिन्ह व्यक्त भले ही न हुए हों, तारुण्य व्यतीत हो जानेके सब लक्षण हैं और उसमें जो सौम्य भाव, शान्त स्वभाव है—वह सदासे ही शान्त रही है और राक्षसियाँ उसका सदासे इसलिए भी सम्मान करती रही हैं कि वह उन सबमें बुद्धिमान है।

त्रिजटा आज रत्नजटित पालकी पर आयी है। उसके साथ अंगरक्षिकाओंका एक समूह—यद्यपि उसने आभूषण थोड़ेसे ही धारण किये है; किन्तु वे आभूषण तथा त्रिजटाके वस्त्र महा मूल्यवान है। उसकी शिविका दूर नहीं रुकी। समीप आयी और उसमें-से जैसे ही वह उतरी, श्रीजनक-नन्दिनी तथा सरमा दोनों उठ खड़ी हुई।

'मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूँ बेटी !; सरमाने आगे बढ़कर त्रिजटाके पैरों पर मस्तक रखा तो उसने उसे दोनों हाथोंसे झुक कर उठाया—'मर्यादा पुरुषोत्तम तुम्हें अखण्ड सौभाग्य प्रदान कर चुके है।'

'माता ! यह आपके द्वारा रक्षित सीता वन्दन करती है ?, लेकिन श्रीवैदेहीको त्रिजटाने त्वरापूर्वक रोक लिया और अंकमें भर लिया।

'सम्राज्ञी ! भुवनवन्द्या अखिलेश्वरी ! इस राक्षसीको आपका अनुग्रह अभिप्रेत है' त्रिजटाका स्वर गद्गद् होगया। ' यह तो उसी क्षण धन्य हो गयी जब आपके श्रीचरणोंके सान्निध्यमें रहनेका इसे सुयोग प्राप्त हुआ। दशग्रीव अत्यन्त दारुण था। उसने असंख्य अपराध किये; किन्तु मुझ पर तो उसके अनन्त उपकार हैं। उसीने मुझे अशोक वाटिकामें नियुक्त किया जिससे मैं इन सचराचर-वन्द्य पादपद्मोंमें बैठनेका-सौभाग्य पा सकी।'

'सखी सरमा ! तुम मुझपर एक उपकार कर सकती हो !' सहसा श्रीजनकनन्दिनीने सरमाकी ओर मुख किया--'लंकाधिपसे मेरी प्रार्थना कर देना ! त्रिजटा मेरी माताके समान हैं। अशोक वाटिकामें वे निरन्तर आश्वासन देने वाली न होती, उन्होंने बार-बार अपने अद्भुत प्रयत्नोंसे दशग्रीव द्वारा नियुक्त राक्षसियोंके त्रासदायक प्रयत्न रोके न होते, तो जानकी कदाचित ही जीवन धारण कर पाती। ये प्राण इन महनीयाके प्रसादसे बचे हैं। मैं किसी प्रकार इनके ऋणसे उऋण नहीं हो सकती। इनकी जो भी सेवा लंकाधिप करेंगे, वह जानकी अपने ऊपर उपकार मानेगी।'

'लेकिन हमारे नवीन नरेशने तो अभीसे इस कुरूपा दासीको राजमाता बना दिया है।' त्रिजटा खुलकर हंस पड़ीं। 'लंकामें अब तीन राजमाता हैं और उनमें भी त्रिजटा सबसे अधिक सम्मानिता है। सरमा मेरे पुत्रसे और क्या कहेगी।'

'सच सखि !' आश्चर्यसे श्रीमैथिलीने सरमाकी ओर देखा।

'मेरे आराध्य रणस्थलीसे नगरमें आये तो सीधे अशोक वाटिका ही गये थे।' सरमाने श्रद्धापूर्ण स्वरमें बताया—'शिशुपामूलमें प्रणिपात करनेसे उनका भाल, भ्रू युगल तथा नासिकाग्र श्रीचरणोंसे परिपूत हुए रजःकणोंसे भूषित होगया था और वहाँसे माता त्रिजटाको वे शिविका पर राजसदन ले आये थे। अभिषेकसे पूर्व ही उन्होंने घोषित कर दिया कि ये महनीया राजमाता हैं।'

'सखि ! सीता उपकृता हुई !' श्रीजानकीका स्वर गद्गद् हो उठा—'लंकाधिपको कहना—वस्तुतः उन्होंने मेरा इतना सम्मान किया है, जिसका आभार किसी प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता।'

'त्रिजटाने जिसे त्रास दिया वे इतनी दयामयी हैं कि उनके सान्निध्यसे ही अधम राक्षसी राजमाता होगयी।' त्रिजटाका स्वर भावविह्वल हो रहा था—'प्रलय तक श्रीजनकनन्दिनीका यह सुयश त्रिभुवनमें समुज्ज्वल रहेगा।'

श्रीरघुनाथजीको त्वरा थी। विभीषणजी शीघ्र पुष्पक सज्जित करके आजायेंगे, यह समाचार आगया। अतः सरमा तथा त्रिजटाको भी श्रीमैथिलीसे विदा लेनी पड़ी।

—×—

७: करुणामयी—

श्रीजनक-नन्दिनी अनन्त दयामयी हैं। किसीने कोई अपराध भी किया है, इसपर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। उन्होंने विभीषणजीकी पत्नीको विदा होते समय कह दिया कि अशोक वाटिकामें जो राक्षसियाँ उनके समीप रही हैं, उन सबसे विदा-लेकर वे जाना चाहती हैं।

वे दारुण राक्षसियाँ, विकट-मुखी, उग्र-लोचना, कराल-दशना, कुरूपताको छिपा देनेका विधाताने किसीके पास कोई उपाय तो दिया नहीं है। अपनी कुरूपताका वे क्या करतीं; किन्तु जितना सम्भव था, उन्होंने अपनेको सौम्य बना लिया था।

वे ही राक्षसियाँ—जिनके नेत्र अंगार बने रहते थे, जिनके दाँत कटकटाया करते थे, जो श्रीजानकीके मुखके समीप तक बार-बार अपने भयानक नखवाले हाथ ही नहीं, भाले और त्रिशूल तक ले जाया करती थीं। जिनके मुखोंने 'मार दो! खा जाओ' आदि डरावने तथा झिड़की देनेवाले शब्द ही सीखे थे—आज वे दीन थीं। दयनीया थीं वे और उनकी दीनता उनके रोम-रोमसे टपकती थी। उनकी वाणी, उनके नेत्र ही नहीं, उनके शरीरका कण-कण जैसे पश्चातापसे क्रन्दन कर रहा था।

श्रीमैथिलीने उन्हें बुलाया सरमाको बिदा करके। सरमा भले महारानी नहीं हुई; किन्तु वे नवीन लंकाधिपकी प्राणाधिका प्रिया पत्नी हैं। उनकी उपस्थिति राक्षसियोंको आतङ्कित करती, संकुचित करती। वे तो इन सबको श्रीजानकीकी ओरसे पुरस्कृत कर देंगीं, यह सन्देश लेकर चली गयी हैं।

'सज्जन पुरुषोंके साथ सात पद चलनेका अवसर मिल जाय तो वे मित्र बन जाते हैं—सतां सप्तपदी मैत्री।' श्रीजनककुमारीने अपने पदोंमें प्रणत उन सभी राक्षसियोंको उठाया। वे भयातुरा तो नहीं थीं। अभय तो उन्हें इन अखिलेश्वरीने अशोक वाटिकासे प्रस्थानके पूर्व ही दे दिया था; किन्तु इनकी यह असीम दया—पश्चातापकी जो प्राणोंको तिल-तिल भस्म करनेवाली वेदना है—कोई दण्ड क्या उससे अधिक दारुण हो सकता है। इन्हें—इन वात्सल्यमयी, अनन्त करुणार्णवा त्रिभुवन वन्दनीयाको कितनी पीड़ा दी, कितनी भर्त्सनकी इनकी, कितना तर्जन-त्रास दिया। पश्चातापने राक्षसियोंके अन्तरको विचूर्ण करके द्रव बना दिया है।

सचमुच पश्चातापसे अधिक हृदयको शुद्ध करनेकी शक्ति और किसीमें नहीं!

दशग्रीवने लंकाकी राक्षसियोंमें जो सर्वाधिक कुरूपा, सर्वाधिक निष्ठुरा थीं, उन्हें अशोक वाटिकामें नियुक्त किया था। त्रिजटाको उसने जानबूझकर वहाँ रखा था इनपर नियन्त्रण करनेके लिए। उसे स्वयं सन्देह था—ये दारुणहृदया—कहीं इनका क्रोध सीमा विस्मृत न कर जाय। कहीं ये सचमुच आघात न करने लगें। किसीकी हत्या, किसीको पीड़ाकी यन्त्रणासे छटपटाते देखना उनका अत्यन्त प्रिय विनोद हो सकता था।

जिनके हृदयने जाना नहीं था कि दया किसे कहते हैं और रूदन क्या होता है— आज उनसे सदय हृदय कहीं पाया जा सकता है ? उनसे अधिक अश्रु को नेत्र प्राप्त करनेकी कल्पना कर सकते हैं ?

'वह सब भूल जाओ ! वह तो तुम्हारा कर्तव्य था। तुम्हारी स्वामि-भक्ति किसी भी सत्पुरुषके लिए सदा प्रशंसनीय रहेगी। तुम अपने स्वामीके प्रति निष्कपट रहीं, यह सोचकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं।' श्रीजानकी कह रहीं थीं—'लेकिन इतने दिनों तुम सीताके समीप रहीं। तुम सब मेरी सखियाँ हो। मेरे स्वामी अब तक बनवासी हैं। मैं कंगालिनी हूँ। तुम्हें देनेके लिए मेरे पास कुछ नहीं। अतः तुम मुझे क्षमा करना। सखि ! सरमाने बचन दिया है कि वे तुम्हारा सत्कार करेंगी।'

'देवि ! आप हमें क्षमा........' लेकिन उन्हें वाक्य पूरा करनेका अवसर नहीं मिला।

'सखियों ! तुमने अपनी ओरसे मेरा कोई अपराध नहीं किया। तुमने स्वामीका आदेश पालन किया।' श्रीमैथिली कह रही थीं—'कर्तव्य दण्डनीय नहीं होता और न उसे क्षमायाचना करनी पड़ती। वह पुरस्कृत होता है; किन्तु आज सीता असमर्थ है !'

'दयामयी !' राक्षसियाँ क्या कहें। उनका कण्ठ असमर्थ हो गया था। उनके अश्रुओंके अर्घ्य बार-बार उन महिमामयीके श्रीचरणोंको प्रक्षालित कर रहे थे।

अब श्रीविभीषणजी पुष्पक लेकर प्रभुके सम्मुख आ गये थे। राक्षसियोंने चरण-वन्दनाकी बार-बार और श्रीजानकीजीने अत्यन्त स्नेहपूर्वक उन्हें विदा किया।

—×—

८. पुष्पक—

विश्वका सर्वश्रेष्ठ विमान था पुष्पक। विश्वकर्माका समस्त नैपुण्य उसमें साकार हो गया था। यह विमान भगवान ब्रह्माने कुबेरको उन्हें निधिपति लोकपाल होनेका वरदान देते हुए प्रदान किया था और कुबेरको युद्धमें पराजित करके रावण यह विमान उनसे अपनी विजयके प्रतीक स्वरूप छीन लाया था।

मणि जटित, काञ्चन विमान था पुष्पक। उसमें प्रशस्त कक्ष थे, विशद सभागृह था, गवाक्ष थे एवं विश्रामके समस्त उपकरण थे। उसका निर्माण इस प्रकार हुआ था कि आवश्यकताके अनुसार उसमें स्थान कम या अधिक किया जा सकता था।

पुष्पकको संचालित करनेके लिए किसी विशेष शिक्षाकी आवश्यकता नहीं थी। अपने मुख्यारोहीकी इच्छाके अनुसार वह संकल्प-शक्तिसे चलने वाला विमान था। वह भूमि पर, गिरि शिखर पर या वनमें भी उतर सकता था और बिना भूमि पर दौड़े सीधे ही ऊपर उठ सकता था। उसे उतरने या आकाशमें जानेके लिए कोई समतल विशेष भूमिकी तनिक भी अपेक्षा नहीं थी।

पुष्पकके समान सुखद एवं सुरक्षित विमानकी अभी कल्पना तक नहीं की गयी है। उसके आरोहियोंको पता तक नहीं लगता था कि विमान चल रहा है। भूमि पर अपने गृहकी भाँति वे उसमें बैठने, शयन करने अथवा घूमने-फिरनेकी सुविधा पाते थे। विमान अपनी दिशा बदले या ऊपर-नीचे गति करे, आरोहियोंको किञ्चित कम्पका भी अनुभव नहीं होता था।

गगनमें आँधी चले, घनघोर घटा छायी हो या प्रलयङ्कर वायु-वर्षा अपना पुरुषार्थ प्रकट करे, पुष्पकको कोई हिला तक नहीं सकता था। झंझाके मध्य भी वह वैसे ही चलता था, जैसे भूमिकी आकर्षण सीमासे बाहर शून्याकाशमें। वह अद्भुत अन्तरिक्ष-यान था, जिसपर किसी ग्रहकी आकर्षण शक्तिका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता था।

इसके साथ पुष्पकके भीतरकी व्यवस्था भी आजके लिए अकल्पनीय थी। यानके आरोहियोंको वाह्य वातावरणके शीत तथा उष्माका कोई अनुभव नहीं होता था। यान जब अत्यधिक ऊँचाई पर पहुँचे, उन्हे प्राणवायु (ओषजन) के अभावका क्लेश

भी नहीं होता था और जब यान पृथ्वीकी आकर्षण सीमासे बाहर हो जाय— आरोहियोंके शरीर भारशून्य होकर अस्त-व्यस्त न हों, इसकी भी उसमें व्यवस्था थी।

पुष्पक किसी स्थितिमें हो, कहीं उठता हो, भूमिके समीप हो या सूर्य अथवा शुक्रके समीप, उसके आरोहीको शीत, ऊष्मा, वायुकी प्राणदायिनी शक्ति, शरीरका भार आदि किसीके सम्बन्धमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं थी। उसके लिए विमानमें एक समान, सुखद अवस्था बनी रहती थी।

यद्यपि पुष्पक एक आमोदके लिए निर्मित विमान था किन्तु वह सरलतासे युद्धयानका काम दे देता था। उसपर किसी अस्त्र-शस्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता था। उसकी टक्कर हो जाय, तो गिरि-शिखर चूर हो जाय, किन्तु विमानकी कोई क्षति न हो एवं आरोहीको कोई हल्का धक्का भी न लगे, यह व्यवस्था उसमें थी।

पुष्पक पर अन्तरिक्षके उल्कापात तथा अदृश्य प्रबल किरणों (कास्मिकादि) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उसकी गति मुख्यारोहीकी इच्छाके अनुसार बिना किसी यन्त्रका स्पर्श किये संकल्पमात्रसे नियन्त्रित होती थी। इस प्रकार पुष्पक गगनमें स्थिर खड़ा रह सकता था, मन्दतम गतिसे चलाया जा सकता था और संकल्पके अनुसार प्रकाशकी गतिसे भी चल सकता था।

पुष्पक जब चलता था उसकी गतिसे कोई कर्णकटु तीव्र स्वर नहीं होता था। उससे एक सुमधुर झंकृति एवं वेणुसे उठनेवाली स्वर लहरीके समान संगीतकी ध्वनि उठती थी। आरोही इच्छा करते ही उसे भी बन्द कर दे सकते थे और सर्वथा नीरव यान तब भी अपनी सम्पूर्ण गतिसे चल सकता था।

एक बात और---पुष्पकके मुख्यारोही उससे उतर कर चाहें तो उनके संकल्पके अनुसार बिना किसी आरोहीके भी पुष्पक चल सकता था और संकल्पके द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर जाकर उतर जा सकता था।

अब वह पुष्पक विभीषणके अधिकारमें था। उन्होंने उसे मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषणोंसे भर दिया और लाकर श्रीराघवेन्द्रके सम्मुख उपस्थित कर दिया।

बहुरि विभीषन भवन सिधायो। मनिगन बसन विमान भरायो॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा। श्रीरा. च.मा. ६. ११६, ३,४

६. श्रीरामका विनोद—

श्रीरघुनाथने पुष्पकको देखा। वस्त्र-आभूषण, मणि-रत्नोंका अम्बार था उसमें। एकसे एक श्रेष्ठ। दिग्विजयी, परम दुर्दान्त दशग्रीवका कोषागार–त्रिभुवनमें जहाँ जो रत्न श्रेष्ठ हैं—रावणने उन्हें अपना स्वत्व माना। उसकी आकांक्षा जानकर ही उसे अधिकांश जनोंने अर्पित कर दिये। जहाँ ऐसा नहीं हुआ, दशग्रीवको बलात् छीन लेनेमें क्या हिचक थी। आज उसका कोषागार विभीषणका था और विभीषणकी इससे बड़ी कोई आकांक्षा नहीं हो सकती थी कि उनको जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसका श्रेष्ठतम अंश वे उन दयामयके श्रीचरणोंमें अर्पित करें, जिनकी कृपाका यह सब उपहार उन्होंने पाया है।

सुरेन्द्र भी जिनकी स्पृहा करें—त्रिभुवनके वे अलभ्य आभूषण, अतुलनीय रत्न-राशि पुष्पकमें भरी थीं। एक दृष्टि मात्र डाली उस पर श्रीराघवने और उनके कमलमुख पर स्मितकी रेखा आयी। विभीषणने देखा वह स्मित और उनका हृदय कह उठा—'धन्य हो गया तुम्हारा यह सम्भार !'

'मित्र विभीषण ! मेरा एक कार्य आप और कर दें।' श्रीरघुनाथने प्रसन्न स्वरमें कहा—'रुचिके अनुकूल वितरणमें कठिनाई बहुत होगी और समय भी अत्यधिक लगेगा। आप विमानपर बैठकर आकाशमें चले जायँ और वहाँसे इस सब सामग्रीकी वर्षा कर दें।'

'जैसी प्रभुकी इच्छा !' विभीषणजीने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा स्वीकारकी। किसीको कोई उपहार देनेके पश्चात् अपने उपहारको किसी अन्यको प्रदत्त होते देख वे खिन्न होते हैं, जो उपहारको वस्तुतः देते नहीं। उसपर अपना ममत्व बनाये रखते हैं। विभीषणने जो भेंट प्रभुके सम्मुख उपस्थित कर दी, वह प्रभुकी। वे उसका क्या करेंगे ! यह उनका कार्य है। वे उसे वितरित करना चाहते हैं इसका अर्थ ही है कि उन्होंने उस भेंटको स्वीकार कर लिया। विभीषणके लिए इससे अधिक प्रसन्नताकी बात और क्या हो सकती थी।

'सम्पूर्ण दलको आदेश दे दिया जाय' श्रीरघुनाथने सुग्रीवकी ओर देखा—'सब लोग अपनी रुचिके अनुसार वस्त्र, आभूषण, रत्न-मणि स्वयं स्वीकार कर लें।'

सुग्रीवकी घोषणा शीघ्र ही उस अपार वानर-रीछ, सैन्य-समूहमें प्रचारित हो गयी। 'प्रभुका प्रसाद !' यही अर्थ ग्रहण किया सबने। प्रभुका प्रसाद न होता--किसीको उन सामग्रियोंका न लोभ था, न स्पृहा। वे नागरिक मानव नहीं थे जो कञ्चन एवं मणियोंके चाकचिक्यके पीछे उन्मत्त हो उठते हैं। उन वन्यजनोंके लिए कोई अधिक मूल्य नहीं था उन सब वस्तुओंका, भले वे सुरोंके लिए भी वाँछनीय हों। लेकिन प्रभुका कृपा प्रसाद ग्रहण करनेका उत्साह उनमें आया और सम्पूर्ण रूपमें आया।

जो भूमि युद्धसे रक्ताक्त नहीं हुई थी, जो समतल थी, स्वच्छ थी और जहाँ नीचे बानर-भालुओंके समूह नहीं थे, ऐसा स्थान चुना विभीषणने और उस भूमिपर पुष्पकसे वर्षा होने लगी--रत्न, मणि, वस्त्र तथा आभूषणोंकी वर्षा।

अस्त-व्यस्त, एकके ऊपर--एक अद्‌भुत राशि लग गयी बहुमूल्य सामीग्रीकी उस भूमिपर और जैसे ही पुष्पकसे वह वृष्टि समाप्त हुई, वानर-रीछोंके यूथके यूथ उसमें उछलने-कूदने लगे।

श्रीजनकनन्दिनी तथा श्रीलक्ष्मणलालके साथ श्रीराघवेन्द्र एक ओर खड़े हो गये थे यह कौतुक देखने। कपिपति सुग्रीव, रीछराज जाम्वान, युवराज अंगद, श्रीहनुमान तथा नल नील, द्विविद-मयन्द, गय-गवाक्षादि यूथपति प्रभुके पीछे शान्त स्थित रहे। यह पुरस्कार-वितरण श्रीरघुनाथके सैन्यदलके सामान्य सैनिकोंके लिए था। यूथपतियोंने प्रभुके पीछे खड़े रहकर इस क्रीड़ाको सानन्द देखा।

वस्त्र या आभूषण उठाते हैं ओर आकाशमें उछाल देते हैं अथवा किसीके ऊपर डाल देते हैं। स्वभावच्चपल कपि-भालु वृन्द प्रसन्न क्रीड़ा कर रहे हैं। जिसे जो वस्त्र आभूषण ठीक लगा उसने उसे धारण कर लिया। लेकिन वे कोई आजकी सैनिक वर्दी पहिनने वाले नहीं थे। सिरका वस्त्र कटिमें और कटिका सिर पर, चरणाभरण भुजाओं या कण्ठमें और कंकण अथवा कण्ठाभरण पैरोंमें—अद्भुत वेश हो गया सबका। रक्तिम, पीताभ, नीलवर्णोंकी मणियोंको वे सुस्वादु द्रव्य समझ कर मुखमें डाल लेते और फिर जब गिरा देते—श्रीरघुनाथ हँस उठते थे। श्रीजनक-नन्दिनीका मन्द हास्य खिल उठता। सर्वसमर्थका यह विनोद उनके ही अनुरूप था। ×

× चढ़ि बिमान सुन सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट भूषन॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबही। वरषि दिए मनि अम्बर सबहीं॥
जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥
हँसे राम श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता॥
श्रीरा. च. म. ६. ११६. ५-८

—✕—

१०. विसैन्यीकरण–

अत्यन्त अद्‌भुत थी श्रीरामकी सेना। उसके लिए न भोजन-विभाग आवश्यक था, न आवास-विभाग, और न यात्रा-व्यवस्था विभाग ही। प्रत्येक सैनिक अपने भोजनकी स्वयं व्यवस्था कर लेता था चलते युद्धके भी बीचमें। वृक्षोंकी शाखाओं पर अथवा भूमिपर ही मजेसे उन्हें निद्रा आती थी। वर्षा, शीत या ग्रीष्मका प्रचण्ड ताप उन्हें कदाचित ही किञ्चित अपनी ओर ध्यान देनेको विवश कर पाता हो।

इस सेनाका प्रत्येक सैनिक स्वभावसे दिगम्बर रहना पसन्द करता था। अतः सैनिकोंके वस्त्र, कवच, शिरस्त्राण अथवा पादत्राणका यहाँ प्रश्न नहीं उठता था। पूरी सेनामें केवल श्रीरघुनाथ तथा उनके छोटे भाई सशस्त्र थे। इनके पास भी धनुष थे और त्रोण थे। धनुष कन्धे पर रहते थे एवं त्रोण पीठ पर बंधे रहते थे। ये दोनों त्रोग-अक्षय थे। अतः सेनाका कोई शस्त्रागार नहीं था। सैनिक ही नहीं, सेना-नायकगणोंके समीप भी उनके दाँत और नखमात्र शस्त्र थे। यों वृक्ष तथा शिलाएँ उनको आघातके लिए इच्छा करते ही मिल सकती थीं। सबसे बड़ी बात यह कि शत्रुके शस्त्र छीनकर उसीसे उसे मार देनेमें वे अधिक विश्वास करते थे। लेकिन वे धर्म युद्धके प्रेमी थे। किसी शत्रुका भल्ल, गदा, शूल, खड्‌ग उन्होंने छीना तो उससे उसीको पवित्र करके शस्त्र फेंक दिया। एकके शस्त्रसे दूसरा मुक्ति पाजाय, यह अन्याय मर्यादा पुरुषोतमके सैनिकोंके द्वारा कैसे सम्भव था।

सेनामें कोई चिकित्सा–विभाग भी नहीं था। केवल एक बार श्रीलक्ष्मणजीके लिए चिकित्सा आवश्यक हुई और लंकाके वैद्यराजको ही वह करनी पड़ी। शेष सैनिक तो जब दिवसान्तमें अपने उदार, चक्र चूड़ामणि प्रभुको युद्ध स्थलसे लौटकर प्रणिपात करते थे, वे पाते थे कि कि उनके शरीर पर कोई व्रण नहीं रहा है। उनके अङ्गोंमें न पीड़ा है, न श्रान्ति।

ऐसी अद्‌भुत सेनाके सैनिक विचित्र वस्त्राभूषणोंको धारण किये जब प्रभुके सम्मुख आ खड़े हुए, उनके वस्त्राभरण, उनका उन्हें धारण करनेका ढङ्ग-हास्यको कोई रोक कैसे सकता था। वे उछल रहे थे, कूद रहे थे, स्वयं अपने वस्त्राभूषणोंको देख रहे थे, उन्हें उलट-पुलट कर रहे थे। उनको एक अङ्गसे दूसरे अङ्गोंमें पहुँचा

रहे थे और इन सबमें अपने समीपके साथियोंकी सहायता भी करते जाते थे। यह सब देखकर प्रभु हँसते रहे, हँसते रहे और श्रीजानकीजी हँसती रहीं। सुग्रीवादिने इस हास्यमें योग दिया।

'आप सब मेरी विपत्तिके बन्धु हैं।' सहास श्रीरघुनाथ गम्भीर हो गये और उनका मेघ-गम्भीर स्वर गूँजा—'आपने विना किसी स्वार्थके इस अपरिचित, अकिञ्चन वनवासीकी सहायता की। अपनी जन्म-भूमि, आवास, स्वजन-परिजनोंसे इतनी दूर आये और अपने प्राणोंको आपने रामके लिए संकटमें डाला। रावण मारा गया, सुरासुर-विजयी लोक-भयानक दशग्रीव खेत रहा और विभीषणको राजतिलक कर दिया गया, यह आप सबकी सहायतासे। आप सबका इतना प्रबल सहयोग न होता, राघव क्या कर लेता। बहुत दिन हो गये आप सबको अपनी जन्म-भूमिसे पृथक हुए। अब अपने-अपने घरोंको पधारें। राम इतना कर सकता है, आपको कभी, कहीं किसीसे भय करनेकी आवश्यकता नहीं। कोई भय आपको भीत नहीं कर सकेगा। रामका आप जब स्मरण करेंगे, उसे अपने से दूर नहीं देखेंगे। ※

'कभी कहीं, किसीसे कोई भय नहीं' यह अभय बचन परात्पर प्रभुको छोड़कर कौन दे सकता है। इस लोकके भयकी बात नहीं, वे तो सदा सर्वदाके लिए अभय दे

※ भालु कपिन्ह पट भूषन पाए। पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आए॥
नाना जिनस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥
चितइ सबन्हि पर कीन्हीं दया। बोले मृदुल बचन रघुराया॥
तुम्हरे बल मैं रावन मार्‌यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यो॥
निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू॥
सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर॥
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥
दीन जानि कपि किए सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥
सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥
देखि राम रुख बानर रीछा। प्रेम मगन नहि गृह कै ईछा॥
प्रभु प्रेरित कपि भालु सब, राम रूप उर राखि।
हरष विषाद सहित चले, बिनय बिबिध बिधि भाषि॥

श्री रा. च. मा. लङ्काकाण्ड (११८)

रहे थे; किन्तु इस समय कपि-भालु दलका ध्यान ही इधर नहीं था । वे सब लोग शान्त मूर्तिवत शान्त स्थिर थे । सुई गिरे तो उसका शब्द भी सुन लिया जाय इतनी नीरवता । प्रभु कह क्या रहे हैं ! एक बार यह बात ही किसी की समझमें नहीं आयी ।

सबने अंजलि बाँध ली । सबके शरीर रोमाञ्चित हो गये । आपने कभी किसी रोमशबल प्राणीको कपि, शशक या गौको ही शीतसे रोम फुलाये देखा है ? सहस्र सहस्र कपि एवं रीछ यूथ और उनमें से प्रत्येकका रोम–रोम उत्थित हो गया था । उनके नेत्रोंसे वारिधारा चलने लगी थी । उनके कण्ठ बोलनेमें समर्थ ही नहीं हो रहे थे ।

'आप स्वामी हैं आप जो कहें, आपके श्रीमुखको वही शोभित करेगा, किन्तु देव !' बड़ी कठिनाईसे कोई वयोवृद्ध सबकी ओरसे बोल रहे थे—'हम सब अल्पज्ञ प्राणी हैं । हमें तो इन वचनोंसे मोह हो रहा है । हमारी बुद्धि भ्रममें पड़ रही है ।'

'आप त्रिभुवनके स्वामी, सर्वसमर्थ—सदासे ही आप दीनबन्धु हैं, अनाथोंके नाथ हैं, अशरणोंकी शरण हैं ।' एक और भाव-सबल स्वर सुनायी पड़ा—'हम कपि-भालु अत्यन्त दीन, अनाश्रय थे । प्रभुने अपना सेवक स्वीकार करके हमें सनाथ किया, हमसे चपल, अयोग्योंको आप करुणा-वरुणालयके अतिरिक्त दूसरा कोई अपना भी कैसे सकता था ।'

'हम सबने आपकी सहायता की' एक और कण्ठ कह रहा था—'हम तो लज्जासे मरे जाते हैं प्रभुके ये वचन सुनकर । कभी पक्षिराज गरुड़का कोई अल्पोपकार भी मच्छर कर सकते हैं नाथ ?'

सब प्रेम-विह्वल हो रहे थे । 'घर जाना है' कितना दुःखद लगता था यह सोचना भी; किन्तु जाना तो है । त्रिभुवनके स्वामीकी इच्छाका अनादर किया कैसे जा सकता है । वे चाहते हैं, आज्ञा देते हैं तो जाना ही ठहरा ।

'अब आप सब पाधारें !' प्रभुने बार-बार अनुरोध किया । बार-बार उनके श्रीचरणोंमें मस्तक रखकर, कपिराज सुग्रीव, रीछराज जाम्बवान, युवराज अंगद तथा अपने प्रमुख नायकसे मिलकर, अभिवादन करके वे विदा होने लगे । वह विपुल वाहिनी बिखरने लगी ।

'श्रीरघुनाथने अपना स्वीकार किया !' यह अपार हर्षका विषय था; किन्तु 'उनके श्रीचरणोंसे पृथक होना पड़ता है, यह कम विषादका हेतु भी नहीं था । अन्ततः समुद्र ऊपर बंधे सेतुसे वानर-भालु-यूथ सागरके पार उतर गया ।

सागर पार वे परस्पर मिले और यह वाहिनी वहाँसे विभिन्न दिशाओंमें बिखर गयी । श्रीरामकी अपार सेनाका इस प्रकार कुछ घटिकाओंमें सम्पूर्ण विसैन्यीकरण सम्पन्न हो गया ।

—×—

११. सहचर

सेना चली गयी, चले जाना चाहिये था सेनापतियोंको भी; किन्तु वे गये नहीं थे। आदेश उनके लिए भी वही था जो सेनाके लिए। कोई भेद नहीं रखा गया था; किन्तु उनके पद चल नहीं रहे थे। अपने दयामय अधीश्वरका सान्निध्य त्याग देना उनके लिए इतना सरल नहीं था। खड़े थे—हाथ जोड़े, मस्तक झुकाये, नेत्रोंमें अश्रु लिये वे सबके सब खड़े थे।

कौन थे वे ? श्रीरघुनाथने जिन्हें अग्निकी साक्षीमें अपना मित्र बनाया था, जिन्हें भय संत्रस्त रात-दिन व्यतीत करनेकी अवस्थासे कपिराज बना दिया था, वे सुग्रीव। उन्हें कम-से-कम किष्किन्धातक साथ जानेका अधिकार था। उनका स्थान अयोध्या लौटनेके मार्गमें था।

जिसके पिताको अपने बाणसे देह मुक्त करके श्रीरामने जिसे पितृहीन कर दिया, जिसके एकमात्र वे अशरण शरण ही शरण रह गये और जिसे उन्होंने पद दिया, वे अंगद। अंगद किष्किन्धा तक साथ जाकर सन्तुष्ट हो जायँगे, यह कोई कैसे सोच सकता है।

जिन्होंने श्रीरामके श्रीचरणोंको ही सर्वस्व बना लिया स्वयं श्रीराम एवं माता जानकी भी कह चुकीं 'तुमसे हम उऋण नहीं' वे पवनपुत्र। श्रीहनुमानकी प्रार्थना अस्वीकार कर सकते हैं श्रीराघवेन्द्र ?

आदि युगमें—वामनावतारके समयसे जो इन सर्वेशके निज जन हैं। जिन महाप्राणने विराट रूपकी भी श्रद्धापूर्वक सात प्रदक्षिणा की। जो अत्यन्त वयोवृद्ध होने पर भी लंकाके युद्धमें नित्य अजेय रहे, वे रीछराज। वे जाम्बवन्तजी कैसे चले जायँ प्रभुको सहसा छोड़कर।

जिनके निपुण करोंने सागरपर सेतु बना दिया। जिनके श्रमसे लंका जैसे दुर्ग पर सम्पूर्ण वाहिनीके साथ उतरना सम्भव हुआ, वे नल-नील। उनका इतना भी आग्रह प्रभु स्वीकार न करेंगे कि उन्हें श्रीअवध तक साथ चलने दें।

अपने दस मस्तकों की बार-बार आहुति देकर जो वैभव दशाननने भगवान आशुतोषसे प्राप्त किया था वह वैभव जिन्हे श्रीरघुनाथने अनायास दे दिया, अभी अभी जो लंकाके अधीश्वर होगये हैं वे विभीषण। प्रभुने उन्हें लंकाका सिंहासन दे दिया, अयोध्याके सिंहासन पर प्रभुके अभिषेकके समय एक सेवक —एक कृपा प्राप्त राज्यासीन सेवकके रूपमें उपस्थित होनेका उन्हें अधिकार है, इस बातसे कोई भी सहज सहमत होगा।

आप जानते हैं कि जब किसी समुदायमें दो चार प्रमुख व्यक्ति कुछ आशा करने लगें, वह सबका अभीष्ट हो तो औरोंको भी अवसर मिल जाता है। वे भी प्रतीक्षा करने लगते हैं। अतः अपने प्रमुखोंके समान जो दूसरे भी प्रधान-प्रधान दलपति थे वे भी प्रतीक्षा करने लगे। कदाचित प्रभु उनपर भी कृपा करें।

कहता कोई कुछ नहीं। कुछ कहनेका साहस ही किसीको नहीं होता; किन्तु मुखसे ही कहना तो कहना नहीं होता। उनके श्रीरघुनाथके मुखपर लगे वारिपूरित, अपलक लोचन, उनकी अधीर भङ्गिमा, उनका अनुरोध-आकुलतासे पूर्ण मुख—यह सब क्या कम कुछ कहते हैं ?

श्रीराम परम संकोचशील हैं। उन्हें भूले-भटके, धोखेसे भी स्मरण कर लेता है तो वे संकोचमें पड़ जाते हैं कि वे अपना स्मरण करनेवालेका कितना कैसे परम हित करदें और आज उनके सम्मुख उनकी सेनाके महानायक खड़े हैं नेत्रोंमें आतुर प्रार्थना लिये। ये सेनापति भले श्रीरघुनाथको 'प्रभु' कहते, मानते, समझते हैं, किन्तु श्रीरघुनाथने तो उन्हें बार-बार अपना सखा कहा है। वे अपनेको इनका नित्य उपकृत मानते हैं। इनका अनुरोध—अपनोंका अनुरोध ये परमोदार अस्वीकार कहाँ कर पाते हैं।

'आप सबकेस्नेहका राघव सदा आभारी रहेगा।' गद्‌गद् कण्ठ हो उठा श्रीरामका—'आप मुझे अकेले अवध नहीं जाने देना चाहते, यह मैं देख रहा हूँ। आपके प्रेमका सम्मान न करे तो राम कृतज्ञ नहीं रह जायेगा। अच्छा हैं, आप सब भी अयोध्या देख लें। वहाँ आपकीकिञ्चित सेवाका तो अवसर मिलेगा। अतः हम सब पुष्पकमें साथ ही बैठें !' *

जैसे प्राणदण्ड पाये अपराधीको फाँसीके तख्ते पर खड़े होनेके पश्चात् क्षमादान सुननेको मिल जाय—आनन्द उमड़ पड़ा मुखोंपर। उल्लास उच्छलित हो उठा। शत-शत कण्ठोंके सम्मिलित जयनादसे दिशाएँ गुंजित हो गयीं।

---

* 'कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।'

श्रीरा. च. मा. आयोध्या ३१२.४

कपिपति नील रीछ पति अंगद नल हनुमान।
सहित विभीषन अपर जे जूथप कपि बलवान॥
कहि न सकहि कछु प्रेम बस भरि भरि लोचन वारि।
सम्मुख चितवहि रामतन नयन निमेष निवारि॥
अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हें सकल बिमान चढ़ाई॥

श्रीरा. च. मा. लङ्का ११८

१२. माल्यवन्त–

रावणकी माता केशिनी (निकषा) के पिता सुमालीके बड़े भाई थे माल्यवन्त। माली, सुमाली और माल्यवन्त—ये तीनों भाई राक्षस-कुलके आदि सम्राटोंमें-से थे और इनमें भी माल्यवन्त सबसे अधिक सम्मान्य थे। केवल ज्येष्ठ होनेके कारण ही नहीं, अपनी अनेकानेक विशेषताओंके कारण।

दीर्घ सुगठित काय, कज्जल कृष्णवर्ण, वार्धक्यके कारण उनके केश अवश्य श्वेत हो गये थे, किन्तु उनका वज्र देह अब भी सुपुष्ट था। उनके शरीरपर जराका केवल इतना और प्रभाव था कि उनके चर्मपर सूक्ष्म आकुञ्चन आ चुका था।

प्रशस्त भाल, विशाल बाहु, विशद वक्ष माल्यवन्तको देखकर सहसा व्यक्ति उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। उनके दीर्घदृगोंकी दृष्टि जैसे हृदयके भीतर तक सीधे चली जाती थी। राक्षस कुलमें वे और विभीषण ही ऐसे थे, जिनकी आकृति आतङ्क नहीं उत्पन्न करती थी।

माल्यवन्त प्रारम्भसे गम्भीर प्रकृति थे वे। शीघ्रतामें कोई कार्य करना नहीं चाहते थे और उनके शब्द बहुत संतुलित, अर्थ गौरवपूर्ण तथा अधिकारपूर्वक उच्चरित होते थे। दशग्रीवकी राजसभाके वे मन्त्री थे। जहाँ सुमाली भी रावणसे आतङ्कित रहता था, माल्यवन्त ही लङ्कामें एकमात्र ऐसे थे जो निर्भय उस स्वभाव पुरुषकी भी भर्त्सना कर सकते थे। रावण भी उनका अत्यधिक सम्मान करता था।

माल्यवन्त अब लङ्काकी राजसभाके एक मन्त्री मात्र नहीं थे। विभीषणने अपने अभिषेकके क्षणोंमें ही उन्हें महामन्त्री घोषित कर दिया था।

'आप मेरे प्रणम्य हैं!' जैसे ही माल्यवन्त अञ्जलि बाँधे प्रभुके समीप पहुँचे, श्रीरघुनाथने मस्तक झुकाकर उन्हें अभिवादन किया, 'क्षत्रियका धर्म अत्यन्त निष्ठुर होता है। आप धर्मज्ञ हैं, नीति-निपुण हैं, इसलिए राघव आपसे केवल अपने अपराधोंकी क्षमा ही नहीं चाहता, यह भी आशा करता है कि आप विभीषणके साथ इस जनपर भी स्नेह रखेंगे।'

'त्रिभुवनके नाथकी यह विनय उचित ही है।' माल्यवन्तके नेत्र भर आये— 'दशग्रीव तथा उसके अनुचर अपने कर्मसे ही नष्ट हुए। आपका अपार वात्सल्य वत्स विभीषणने पाया और यह अनधिकारी जन भी श्रीचरणोंके दर्शन करके धन्य हुआ।'

'असुर ज्येष्ठ भ्राता हैं सुरोंके' श्रीरघुनाथजीने कहा 'अपने अनुजोंसे उन्हें अब

अपनी शत्रुता समाप्त करदेनी चाहिए। अब उनसे आपको कोई आतङ्क नही हो सकता।'

'आतङ्कित होना हमने कभी नहीं जाना।' अपने सहज शौर्यके अनुरूप माल्यवन्तने कहा; किन्तु तत्काल संकुचित हो गये।

'जब तक श्रीराघवेन्द्र हम सबके सम्राट हैं, त्रिभुवनमें कोई किसीको आतङ्कित करनेका सहास कैसे कर सकता है। सुर सदासे श्रीचरणोंके द्वारा पालित रहे हैं और अब वत्स विभीषणको भी वह अलभ्य कृपा-प्रसाद प्राप्त हो गया है।'

'मित्र लङ्काधिप मेरे साथ जाना चाहते हैं। वे शीघ्र ही लौट आवेंगे।' श्रीरघुनाथने पुनः मस्तक झुकाया—'आप अब हम सबको अनुमति दें! आशीर्वाद भी।'

'धन्य कृपामय! राक्षस भी आशीर्वाद दे सकता है, यह औदार्य आप उत्तम श्लोकके मानसमें ही आ सकता है।' माल्यवन्त अत्यन्त विह्वल हो—गये 'विभीषण आपके अनुग्रह भाजन हैं, उन्हें अपने रक्षकके रूपमें पाकर हमारा राक्षसकुल परिपूत हुआ।'

'आपके श्रीचरणोंके आश्रयने लङ्काधिपको तथा लङ्काको अभय दे दिया है।' माल्यवन्तने दो क्षणमें अपनेको स्थिर कर लिया—'अभाव इस स्वर्णपुरीने जाना नहीं था और अब तो इसमें निर्जनत्वके वृद्धि पा जानेसे बाहुल्य हो गया है पदार्थो का। वितरण एवं पीड़ित प्राणोंको आश्वासन—माल्यवन्तका मन्त्रित्व सफल बनेगा, यदि वह इतना कर सके; किन्तु इसमें भी आपकी अनुकम्पाकी याचना करने आया है यह असमर्थ वृद्ध!'

'अयोध्या आपसे दूर नहीं है' अपने ममत्वमें प्रभुने अद्‌भुत आश्वासन दिया—'किञ्चित भी सेवा अथवा कोई भी सहायता कर सकेगा अयोध्याका यह पुत्र आपकी तो वह समझेगा, आपने उसपर अनुग्रह किया। उसे जो विनाश यहाँ विवश होकर उपस्थित करना पड़ा, उसके परिमार्जनका किञ्चित भी अवसर वह अपना अहोभाग्य मानेगा।'

माल्यवन्तके नेत्र वृष्टि करने लगे थे। वे इस करुण प्रसङ्गको चलने देना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने प्रभुसे विमानमें विराजनेकी प्रार्थना की। श्री जानकीके साथ श्रीरघुनाथ पुष्पकारूढ़ हुए। श्रीलक्ष्मणलाल तथा अन्य सभी लोग विमानमें पहुँच गये। विभीषणजीने अन्तमें माल्यवन्तको प्रणाम करके विदा ली। माल्यवन्त अपने अनुचरोंके साथ खड़े रहे, अपलक देखते रहे उस ऊपर उठते पुष्पकको। पुष्पक जब उनकी दृष्टिसे बाहर होगया, तब भी वे देर तक उधर ही देखते खड़े रहे।

—★—

१३. प्रस्थान–

पुष्पक पृथ्वीसे उठा—वह बिना किसी शब्द के, बिना किसी धक्केके सीधे ऊपर उठा। लेकिन वह बिना किसी शब्दके उठा या नहीं, यह कहना इस समय सम्भव नहीं था। पुष्पकके भीतर प्रशस्त उच्च सिंहासनपर श्रीजानकीके साथ जैसे ही श्रीरघुनाथ आसीन हुए, दिशाएँ जयध्वनिसे गूँज उठी।

पूरा कपिनायकोंका समूह हर्षोल्लसित होकर बार-बार 'श्रीराघवेन्द्रकी जय!' 'श्रीरघुनाथकी जय!' जैसे जयनाद कर रहा था उच्च स्वरसे। सभी लोग प्रायः खड़े थे और विमान चलते समय वे बैठ जायें, इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। वे इच्छानुसार खड़े रह सकते थे और उछल-कूद करना चाहते तो वैसा भी कर सकते थे।

माल्यवन्तके साथ लंकाके जो वयोवृद्धराक्षसगण आये थे, उनका प्रचण्ड कण्ठ जयघोष करनेमें किसीसे पीछे नहीं रहना चाहता था।

नगरके कंगूरोंपर, हर्म्यकी छतोंपर बालकों, वृद्धाओं तथा अन्य नागरिकाओंका समूह स्थान-स्थानपर एकत्र होगया था। वे कंगूरे, वे नगर-परिखाके उच्च रक्षाकेन्द्र तथा-हर्म्य शिखर स्थान-स्थानसे ध्वस्त दीखते थे। युद्धमें कपिदलने लंकाकी परिखा एवं भवनोंको बहुत अधिक क्षतिग्रस्त किया था। उसी स्वर्णपुरीमें नष्ट-भ्रष्ट भवनोंके स्वर्णोपकरणोंकी जहाँ-तहाँ अस्त-व्यस्त ढेरियाँ पड़ी थीं, किन्तु अब भी नगर-परिखाके बहुत-से खण्ड अक्षत थे और ऐसे सब स्थल जनाकीर्ण हो गये थे।

'श्रीरघुनाथ नगरमें नहीं आवेंगे! महाराज विभीषण भी उनके साथ अयोध्या जा रहे हैं।' पूरे नगरको यह विदित हो चुका था और पुष्पककी एक झलक—श्रीराम-को लिये आकाश यात्रा करते पुष्पकका दर्शन पानेके लिए वहाँ सबके प्राण समुत्सुक हो उठे थे।

पुष्पक अभी दृष्टि पथमें आया नहीं था, किन्तु पूरी लंका श्रीरामके जयनादसे मुखरित हो रही थी क्षण-क्षणमें और जैसे ही पुष्पक ऊपर उठता दृष्टि पड़ा, प्रायः प्रत्येक करोंने पुष्पाञ्जलि उठायी। पुष्पकको लक्षित करके विसर्जित हो गयी लक्ष-लक्ष अंजलियाँ, श्रद्धावनत हो गये मस्तक तथा लंकाके हर्म्योंसे उठा जयनाद सागरकी लहरोंपर लहराता बढ़ता गया—बढ़ता चला गया।

श्रीराम लंकाके शत्रु बनकर इस स्वर्ण भूमिपर आये थे। इस समय पुष्पकमें जो लोग हैं, उनके द्वारा लंकामें जो महाविनाश हुआ है—भवन खण्डहर बने खड़े हैं। युद्धभूमि रक्तसे लथ-पथ है और अभी तक वहाँसे शव उठाये तक नहीं गये हैं। कोई घर नहीं बचा, जिसके तरुण रणशय्या न पा चुके हों। विधवा तरुणियाँ, पुत्रहीन माता-पिता, पितृहीन शिशु, भ्रातृ-बिरहिता बहिनें—अभी अश्रु तक सूखे नहीं और यह सब जिन्होंने किया, उनका जय-नाद गूँज रहा है लंकामें।

श्रीरामका जयघोष—धन्य श्रीराम ! कोई भय नहीं, कोई आतङ्क नहीं, कोई विवशता नहीं। कोई देखने वाला नहीं; किन्तु लंकाका जन-जन स्वयं जयघोष कर रहा है। सच्ची श्रद्धा, सच्चा हार्दिक अनुराग है इस जयनादमें ! कभी किसी विजेताने विजितसे ऐसा हार्दिक अभिनन्दन पाया है ? आशा भी कर सकता है कोई इसकी ?

सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हैं—ऐसी स्वच्छ, जैसे अभी-अभी वर्षा होकर बन्द हुई है और मेघोंने गगन छोड़ दिया है। धुली दिशाएँ, नितान्त निर्मल स्वच्छ आकाश। गगन ही नहीं, धरा तक जैसे धुल गयी है। सरिताओं और सरोवरोंमें सागरके समान नीलमणि जैसा अमल वारि झलमल करता है। शीतल, मन्द, सुरभि-संयुत वायु चलने लगी है। अकस्मात् समस्त प्राणियोंके मनमें आल्हाद उमड़ पड़ा है और शकुन—इससे उपयुक्त अवसर शकुनोंको अपने सफल होनेका कहाँ मिलेगा।

देवकार्य सम्पन्न कर दिया श्रीरामने। सुरोंके शीश पर जो दारुण विपत्ति पिछले पूरे इकहत्तर मन्वन्तर मंडराती रही, जिसने उनकी क्षुधा-पिपासा तथा निद्रा दुर्लभ बना दिया था, वह विपत्ति आज समाप्त हो गयी। अतएव अमरावतीके हर्षका पारावार नहीं है। सुरोंके कर श्रान्त नहीं हुआ करते और न अमर कानन नन्दनके पुष्प वीरुध- लताएँ आदि कभी पुष्प हीन होती; किन्तु आज तो गगनने पृथ्वीको जैसे सुरपादपके सुमनोंसे आच्छादित करना निश्चित किया है।

गगनमें देव दुन्दभियाँ बज रही हैं। गन्धर्वोंका गान एवं अप्सराओंका नृत्य भी धन्य हो रहा है; किन्तु वहाँ जो जय-ध्वनि उठ रही है, जो अखण्ड पुष्प-वृष्टि चल रही है—इस महामहोत्सवमें ही पुष्पक पृथ्वीसे गगनकी ओर उठा।

—★—

१४. युद्ध-स्थली—

'यह निकुम्भिला मन्दिर !' पुष्पक ऊपर उठकर लंकापुरीके एक ओर गतिमान हुआ था । विभीषणजीकी दृष्टि नीचे गयी और उनके नेत्र भर आये। इस स्वपूर्णपुरीके गौरव, त्रिभुवनजयी मेघनादकी यहाँ मृत्यु हुई और वह हुई विभीषणके कारण । वे ही तो श्रीरामानुजको वहाँ ले आये थे ।

'सुरेन्द्रको भी संग्राममें बन्दी करने वाले दशग्रीवके ज्येष्ठ कुमार मेघनादको लक्ष्मण लालने यहाँ रणशय्या दी !'* श्रीरघुनाथजीने लक्ष्य कर लिया विभीषणकी वेदनाको। श्रीजानकीजीकी दृष्टि नीचे लगी थी और वे एक बार लंकाकी युद्ध भूमिको देखनेके लिए उत्सुक हो गयी थीं, अतः श्रीराघवेन्द्रने स्वयं युद्धस्थलीका उन्हें निर्देश करना प्रारम्भ किया।

'हे भगवान् !' सहसा श्रीवैदेहीके नेत्र सजल हो गये। वे चौंक पड़ीं। पुष्पक अपने मुख्यारोहीकी इच्छानुसार मुख्य युद्ध स्थलीके ऊपर आ गया था और भूमिका दृश्य स्पष्ट दृष्टिमें आ सके, इतनी ऊँचाई पर वह मन्द-गतिसे एक चक्कर लगाने लगा था।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी—पृथ्वी देखने योग्य नहीं थी। चारों ओर रक्त ही रक्त था जो अब सूखकर काला पड़ गया था। निम्न स्थलोंमें जमे हुए रक्तका कीचड़ भरा पड़ा था। वह सम्पूर्ण भूमि शवोंसे पटी पड़ी थी। शव—राक्षसोंके, घोड़ोंके, खच्चरोंके, गजोंके और वे इस प्रकार छिन्न-भिन्न, अस्तव्यस्त, एक दूसरे पर लदे पड़े थे कि उनको देखना कठिन था।

छिन्न सिर, कटे बाहु-पाद, बिखरी अन्त्रावली और उनके मध्यमें टूटे अथवा पूरे धनुष, बाण, खड्ग, भाले, त्रोण, गदा, मुद्गर परिघादि अस्त्र-शस्त्र, भग्न रथ, इतस्ततः चमकते आभूषण, रक्त लथ-पथ वस्त्र।

शृगाल, कुत्ते, गीध, काक तथा दूसरे मांसाशी पशु-पक्षियोंका समूह मानो वहाँ

---

*लछिमन इहाँ हत्यो इन्द्रजीता।

रा. च. मा. लङ्का ११८.६

महामहोत्सव मना रहा हो। उनके झुण्डके झुण्ड जहाँ-तहाँ चीख रहे थे, उड़ रहे थे, भाग रहे थे और मांस, अँतड़ियाँ आदि नोच-नोच कर खा रहे थे।

जहाँ वायुके पद भी भय शिथिल हो उठते थे, वह लंकापुरीका बाह्य भाग आज पिशाच-भूमि हो रहा था। उसकी ओर देखना तक अत्यन्त दुखद था। श्रीजानकीने दोनों हाथोंसे नेत्र बन्द कर लिये। दीर्घ निःश्वास निकला उनके नासारन्ध्र से—'आह! मैं इस महासंहारकी हेतु बनी।'

'इनमें जो विशाल काय, अमित पराक्रम यूथप हैं' श्रीरघुनाथने अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया—'उनमें प्रायः सब महावीर श्रीहनुमान अथवा युवराज अंगदके करोंसे वीरगति प्राप्त करके देह बन्धनसे मुक्त हो चुकते है।

शरीर नश्वर है। उसे नष्ट होना ही था। किसी भी शूरकेलिए सम्मुख समरमें वीरगति प्राप्त करना सदा श्लाघ्य है। जो युद्ध भूमिमें खेत रहे—वे चिन्ताके योग्य नहीं हैं। यह आश्वासन शब्दों द्वारा भले न दिया गया हो; प्रभुकी भंगिमा यह आश्वासन दे रही थी।

'जिन्होंने अमरोंका जीवन दुर्लभ बना दिया था। जो त्रिभुवन वंद्य मुनियोंके महान् उत्पीड़क थे' श्रीराघवने यह वर्णन शैली जान बूझकर इसलिए अपनायी कि श्रीमैथिली रण भूमि देखकर अत्यन्त करुणाकातर हो उठी थीं। इस महासंहारका हेतु वे नहीं हैं, यह उन्हें सूचित कर देना था। 'जो धर्म श्रुति एवं सदाचारके कण्टक बन चुके थे, उन कुम्भकर्ण तथा दशग्रीवका दर्प यहाँ समाप्त हो गया। मेरे वाणोंने उनके देहको यहाँ धरित्रीकी शरण दे दी सदाके लिए।'*

रावण कुम्भकर्णके शरीरोंका अन्त्येष्टि संस्कार हो चुका था। उनके देह न दीखे नीचे और श्रीमैथिलीके मनमें एक प्रश्न उठा। इन्होंने कुछ कहा नहीं; किन्तु श्रीरघुनाथकी ओर देखा। उनके नेत्र कह रहें थे—'शेष शर क्या इस योग्य भी नहीं कि उनके शरीरोंका अग्नि संस्कार किया जाता। उनके शरीर गीध-कुत्ते नोचें, क्या यह उचित हुआ? वे अनाश्रय हो गये सही, पर…………'

---

*हनुमान अंगद के आरे। रन महि परे निसाचर भारे॥
कुम्भकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुरमुनि दुखदाई॥
श्रीरा. च. मा. लङ्का ११८.१०,११

'माल्यवन्त सबसे पूर्व यही प्रबन्ध करेंगे देवि !' विभीषणने लक्ष्यकर लिया कि श्रीजानकी क्या कहना चाहेंगी । उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'प्रभुने स्नान तक नहीं किया है। समय नहीं मिला हमें; किन्तु आप देख सकती हैं कि उद्योग प्रारम्भ हो चुका है। शीघ्र यह भूमि स्वच्छ हो जायगी।'

नीचे यूथके लोग सुविशाल—योजन-दीर्घ चिता सजानेमें लगे थे और युद्ध स्थलीमें शवोंको एकत्र करना प्रारम्भ हो चुका था। अश्व, गज, खच्चरों आदिके शरीरोंको राक्षसगण समुद्रमें जलचरों को अर्पित करते जा रहे थे।

यह अप्रिय दृश्य देखते रहना किसीको अभीष्ट नहीं हो सकता था । महाचिता प्रज्वलित हो, उससे पूर्व चल देना ही उचित था। श्रीरामकी इच्छासे पुष्पक उत्तर सागरके ऊपर चल पड़ा।

—×—

१५- सेतु-भंग—

उच्छलित सिन्धु के वक्षस्थल पर श्रीरघुनाथका सेतु—जैसे महोदधिको माला पहिना दी गयी हो । पुष्पक पर्याप्त नीचेसे जा रहा था । उसका वेग भी बहुत तीव्र नहीं था ।

'यह महाशिल्पी नल-नीलके करोंका कौशल है ।' श्रीरघुनाथने वैदेहीको बताया—'समुद्रके वक्षपर तैरती शिलाओंका यह सेतु—अपार बानरी सेना लंका पहुँच ही न पाती, यदि बानर विश्वकर्मा बन्धुओंका सहयोग रामको न मिलता ।'

'प्रभु ! सेवकको गौरव देना स्वभाव है आपका !' नल-नीलने अञ्जलि बाँध ली। उनके कण्ठ गद्गद् हो गये—त्रिभुवन जानता है, जल पर शिला किनके नामके प्रतापसे तैर रही है ।'

सुविस्तृत पुलिन और उसके पीछे नारिकेल एवं सुपारीके सघन, सफल वृक्षोंकी सघन पंक्तियाँ । नीलगिरकी श्रेणियाँ जहाँ तक दृष्टि जाय-शोभित हो रही थीं । 'यह गगन-पथ तो तुम्हारा देखा है ?' प्रभुने पूछा ।

'मैं नहीं जानती, किस मार्गसे गयी थी मैं ।' श्रीजानकीने सहज संकोच पूर्वक उत्तर दिया—'मैं उस समय कुछ भी देख नहीं पाती थी ।'

'हम यहाँ उतरेंगे !' श्रीराघवेन्द्रकी दृष्टि नीचे गयी ओर उनकी इच्छाके अनुसार विमान उतरने लगा ।

सुन्दर नीलवर्ण, श्वेत वसन, मौक्तिकाभरण भूषित एक दिव्य पुरुष सागर-पुलिन पर विनम्र खड़े हैं, यह सबने गगनसे ही देख लिया । उनके फेनिल वस्त्र, तरंगायित केशराशि, अद्भुत कान्ति—सागरके अधिष्ठाता देवताको पहिचाननेमें किसीको कठिनाई नहीं हुई ।

'रघुकुल-वधू सीता प्रणाम करती है आर्य !' श्रीमैथलीने अञ्जली बाँधकर मस्तक झुकाया । सानुज श्रीरघुनाथने भी अभिवादन किया था ।

अद्भुत उपहार थे उन दिव्य पुरुषके । सुक्तिके सुविशाल पात्रमें अलभ्य, मुक्ता राशि, लोक वांछित मणि समूह, दिव्य शंख एवं शुक्तियाँ—सब चकित देखते रहे उन वस्तुओं को ।

'देव ! त्रिभुवननाथ ! महाराज सगरके कुमारोंके करोंसे जलनिधिका जन्म हुआ—यह मानकर आप मेरा सम्मान करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम ! मैं धन्य हुआ इस समादरसे ! समुद्रके अधिष्ठाता देवताने बड़े श्रद्धाभरित स्वरोंमें कहा—'मैं अकिञ्चन श्रीचरणोंकी कोई सेवा करने योग्य नहीं। इन पादपद्मोंमे तो यह जड़ अब भी भिक्षुक है।

'आपकी क्या सेवा करें राघव !' सस्मित श्रीरघुनाथ बोले—'किसी प्रकार का संकोच न करें आप।'

'आपका यह सेतु—आपका सुयश सदाके लिए त्रिभुवनको उज्वल करता रहेगा; किन्तु सेतुका कार्य पूर्ण होगया देव !' अत्यन्त विनम्र प्रार्थना थी—'बन्धन किसीको प्रिय नहीं हुआ करता। श्रीरामने किसी को बन्धन दिया, यह लोकमें कभी कोई न सुने !'

'लंकाधिप !' श्रीराघवेन्द्रने विभीषण की ओर देखा।

'प्रभुको जो प्रिय हो !' विभीषण करबद्ध प्रार्थनाके स्वरमें कह रहे थे—'हम सब राक्षस गगन-चर हैं जन्मसे। हमें सेतुकी आवश्यकता नहीं पड़ती।'

'सेतुने लंकाकी सुरक्षा सन्दिग्ध ही की है !' श्रीरघुनाथके अधरों पर स्मितकी शोभा थी–'कोई आततायी अकस्मात् आपके यहाँ पहुँच जाय, ऐसा कोई अवसर नहीं होना चाहिए।'

श्रीराघवेन्द्र सेतुकी ओर बढ़े। कोई कुछ समझ पाता, इससे पूर्व उन्होंने धनुष उठाया और उसकी वक्र कोटि (नोक) से सेतुका एक भाग उठा कर फेंक दिया। जैसे जलका प्रवाह किसी बाँधसे बँधा हो और वह बाँध कहींसे टूट जाय—प्रवाह बाँधको नष्ट कर देता है—सेतु जिस सत्य संकल्पके संकल्पसे स्थिर था, उसी सत्य संकल्पने जब उसे नष्ट करनेकी इच्छाकी, सागरकी उत्ताल तरंगोंमें सेतु पलक मारते अदृश्य हो चुका था। उसके नाम मात्रके अवशेष रह गये थे और जहाँ श्रीरामने सेतु-भंगके लिए धनुष की कोटि लगायी थी, वह तो धनुष्कोटि तीर्थ ही हो गया।

सागरके अधिदेवता अन्तर्धान हो गये अनुमति लेकर जल राशिके भीतर।

—★—

१६. रामेश्वर—

'सेतुबन्धके पश्चात् हमने यहाँ भगवान-शंकरकी स्थापना की।' मर्यादा पुरुषोत्तमने परिचय दिया। 'उन आशुतोषकी ही कृपा थी कि इतनी सरलतासे दशग्रीव पर विजय प्राप्त हो सकी।'

'कहाँ हैं भगवान आशुतोष ?' श्रीजानकीने इस प्रकार इधर-उधर देखा, जैसे आस-पास ही कहीं श्रीविग्रहके उन्हें दर्शन हो जायँगे।

'यह भूमि निर्जनप्राय है।' श्रीरघुनाथने बताया—'श्रीविग्रहकी स्थापनाके लिए ऐसा स्थल प्राप्त करना पड़ा था, जहाँ अर्चाकी व्यवस्था चलती रह सके एवं अर्चकोंको अपने आवास बनानेमें असुविधा न हो। यह अन्तरीप स्थली इसके उपयुक्त नहीं है, यह तो देवि देख ही रही हैं। हम शीघ्र ही वहाँ पहुँच रहे हैं।

पुष्पकको धनुषकोटिसे रामेश्वर तक पहुंचनेमें कुछ पल लगे। समुद्रके तटपर अग्नितीर्थके समीप जब गगनसे पुष्पक उतरा—जय घोषसे दिशाएँ गूँज गयीं। कुछ थोड़े उटज मात्र थे आस-पास और उनमें तपोधन विप्रोंका निवास था। लंकासे इतने समीप जो रहनेका साहस कर सके थे—जो दुर्दण्ड दशग्रीवके लंकामें रहते अब तक अवशिष्ट थे इस भूमिमें, उनकी तेजस्विता एवं तितीक्षाकी कल्पना भी कर पाना कठिन है।

अब वे अभय प्राप्त कर चुके थे। जिस दिन श्रीरघुनाथ इस भूमि पर पधारे थे—उनके श्रीचरण पहुँचें और भय, विघ्न, क्लेश बचे रहे जायँ यह तो कभी हुआ नहीं है। सत्य तो यह है कि इन गिने-चुने दिनोंमें ही यहाँ कुटीरोंकी संख्या बढ़ गयीं थी। अरण्यके एकान्त स्थानोंके अनेक तापसोंने यहीं अपने आवास बना लिये थे। श्रीराघवेन्द्रके करोंसे स्थापित ज्योतिर्लिङ्ग रामेश्वरकी पुण्य सन्निधि किसी भी पवित्र चरितको पर्याप्त प्रलोभन थी। इस दिव्यतीर्थमें उनकी तपस्या, उनके अनुष्ठान अधिक पुण्यप्रद होंगे, यह स्वतः सिद्ध बात थी।

पुष्पके उतरते ही एकत्र हो आये आस-पासके उटजोंके तापस आवासी। श्रीरघुनाथने अपने समस्त परिकरोंके साथ उन्हें प्राणिपात किया और उन्होंने अशीर्वाद दिया। यहीं अग्नि-तीर्थमें ही श्रीराघवने सानुज स्नान किया। लंकाकी रणस्थलीने शरीर पर जो रक्त विन्दु दिये थे, वे यहाँ प्रक्षालित हुए।

अनेक तीर्थोंकी स्थापना हो गयी अत्यल्प कालमें। तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मणोंके

निर्देशानुसार श्रीरघुनाथने इस स्थल पर प्रायश्चित किया। कुछ भी हो, दशग्रीव विप्रकुलमें उत्पन्न हुआ था। वह आततायी न बन गया होता—लेकिन कर्तव्यकी पूर्तिके पश्चात् शास्त्रकी मर्यादाका पालना भी तो होना ही चाहिये। श्रीराम, लक्ष्मण, श्रीजानकी, सुग्रीव, अंगद, हनुमान आदिके द्वारा पृथक-पृथक स्थानों पर वहाँ तीर्थोंकी स्थापना हो गयी। जहाँ-जहाँ पूजन-यज्ञ-अर्चनादि किये, वे स्थल, उनके रजकण दिव्य हो गये, यह आप समझ सकते हैं। उन स्थलों पर सरोवर, कुण्ड आदिका निर्माण तो पीछेकी बात है। यह स्वाभाविक था कि राज्याभिषेकके अनन्तर श्रीभरत लाल शत्रुघ्न-कुमारके साथ सुविधा देखकर अश्वमेधके दिग्विजयका लाभ उठाकर 'प्रभुपद अंकित अवनिका' दर्शन करने पधारें और तब यहाँ उनके द्वारा भी तीर्थोंकी स्थापना हो जाय।

श्रीरामेश्वरका सविधि अभिषेक अर्चन किया प्रभुने। कई अन्य लिङ्ग विग्रहोंकी स्थापना हो गयी उसी समय।

'राघव अब भी अकिञ्चन अरण्य-वासी ही है। वह आपकी क्या सेवा कर सकता है।' अन्तमें अञ्जलि बाँधकर श्रीरघुनाथने तपस्वी ब्राह्मणोंसे प्रार्थनाकी—'श्रीविग्रहकी स्थापनाके पश्चात् उसके अर्चाकी व्यवस्था न करना अपराध होता है। असमर्थ था यह जन इस व्यवस्थामें; किन्तु आपके अनुग्रहने रक्षा करली। आपकी कोई सेवा यदि कर सकूँ.......' कण्ठ भर आया। कमल लोचन अश्रुपूरित हो गये।

'हम धन्य हो गये। जन्म-जन्मका साधन आपके श्रीचरणोंके दर्शनसे सफल हो गया।' विप्रोंके स्वर भी भाव विह्वल थे—'सुरों, श्रुतियों एवं भूसुरोंका भय आप ही दूर करते हैं सदा। आपने दशग्रीवका दलन करके प्राणदान दिया और यहाँ श्रीविग्रह स्थापित करके हमारे लिए आराध्य ही नहीं परमाभीष्ट प्रदान किया।'

निष्काम—आप्तकाम विप्र-वर्ग—भारतके इन तपः विग्रहोंको कभी कामना कलुषित नहीं कर सकी। उन्हें कोई क्या देगा और परमोदार श्रीरघुनाथ—वे तो अपने आपको देकर भी कभी सन्तुष्ट नहीं हुए। विप्रोंकी अनुमति एवं अशीर्वाद लेकर प्रभु पुष्पकारूढ़ हुए।

—:०:—

१७. किष्किन्धा

'वह ऋष्यमूक पर्वत है ।' श्रीरघुनाथने श्रीमैथिलीको संकेत किया । 'उस उत्तुङ्ग प्रवर्षणगिरिके शिखर पर मैंने चातुर्मास्य व्यतीत किया था । तुम्हारी शोधके लिए वहींसे कपि समूहने प्रस्थान किया ।'

'उन झुरमुटोंके समीप वानर-राज बालिने अपने पञ्च भौतिक शरीरका त्याग किया ।' मर्यादा पुरुषोत्तमके स्वरमें एक झिझक आ गयी । पुष्पक अब बहुत मन्दगतिसे चल रहा था और वह भूमिके समीप होकर उड़ रहा था । 'वह दर्पणके समान स्वच्छ जल चमक रहा है । वह है पम्पा सरोवर । लक्ष्मणके साथ मैंने वहाँ किञ्चित विश्राम किया था । वहाँसे आगे बढ़ते ही पवनकुमार हमें मिले, वे हमें ऋष्यमूकके शिखर पर ले गये थे । राघवकी आपत्तिके सखा सुग्रीवका वहीं साक्षात्कार हुआ था ।'

'सुग्रीव स्वयं निराश्रय था । निर्वासित था । प्राणोंके भयसे छिपता फिरता । अनाथ था देवि !' वानर-राज सुग्रीवका कण्ठ भर आया था । वे अंजलि बाँध कर मस्तक झुकाये बोल रहे थे—'अशरण-शरणने इस अनाथ कपिको शरण दी । अग्निकी साक्षीमें इसे मित्र बनाया ! गृह एवं जाया तक जिसकी अपहृत हो गयी थीं, उसे किष्किन्धाके सिंहासन पर अभिषिक्ति कर दिया ।'

'किष्किन्धापुरी यहीं तो कहीं होगी आर्य पुत्र ?' श्रीमैथिलीने इस बार पूछा ।

'विमान किष्किन्धाके ऊपर ही है देवि !' उत्तर सुग्रीवने ही दिया—'हम वानर हैं, अतः हमारे आवास गिरि गुहाओंमें हैं । आप जो छोटे बड़े शिखर-समूह देख रही हैं ; उन सबमें हम सबके गृह हैं । हमें राजपथोंकी आवश्यकता नहीं हुआ करती ।'

'आप अपने राज्यकी व्यवस्था देखना चाहेंगे कपिराज ?' श्रीरघुनाथने सुग्रीवकी ओर देखा—'युवराज अङ्गदको भी मातृ-चरणोंका दर्शन किये बहुत समय बीत गया है ।'

'अङ्गदकी माता उसके सम्मुख सिंहासनासीन हैं ।' युवराज अङ्गद सहसा श्रीरघुनाथके चरणोंमें मस्तक रखकर विह्वल हो उठे—'मेरे सर्वस्व ! आप दोनोंके श्रीचरणोंको छोड़कर अब अङ्गदका कहीं कोई नहीं है । इस दासको अब अपने पाद-पद्मोंसे प्रभु पृथक न करें ।'

'अकारण व्याकुल हो रहे हो कुमार !' प्रभुने अङ्गदको उठा कर हृदयसे लगा लिया—'राघव अपनी आपत्तिके सहायकोंके साथ ही अयोध्या चल रहा है। लेकिन मुझे लगता है कि श्रीविदेह-नन्दिनी किष्किन्धाके प्रति उत्सुक हो गयी हैं। वे प्रसन्न होंगी देवि तारा तथा कपिराजकी प्रियासे मिलकर।'

'इस तुच्छ जनका आवास श्रीचरणोंसे पवित्र होगा।' सुग्रीव उल्लसित हो उठे। वे पुष्पकके लङ्कासे प्रस्थान करते ही उत्सुक हो उठे थे कि प्रभु किष्किन्धा उतरें, कुछ क्षणोंको ही सही, उनको सत्कारका एक सुअवसर प्राप्त हो किन्तु उन्होंने प्रार्थना नहीं की, इस भयसे नहीं की कि कहों पुष्पकके किष्किन्धा उतरनेका अर्थ उनकी अयोध्या दर्शनकी लालसाकी समाप्ति न बन जाय। उन्हें वहीं रह जानेका आदेश प्रभु न दे दें। यह आशङ्का निवृत्त होते ही वे उत्कण्ठित हो गये थे।

'आपका सर्व्वस्व रामका अपना ही तो है।' श्रीरघुनाथने अत्यन्त मृदु स्वरमें समझाया—'किन्तु मित्र ! अभी वनवासकी अवधि समाप्त नहीं हुई है। नगरमें जानेमें मेरी विवशता आपको क्षमा करना चाहिये।'

'हम ऋष्यमूक पर उतरें तो ?' श्रीजनक-नन्दिनीने प्रार्थना ही की—'आर्यपुत्रने जिस गुहामें चातुर्मास्य व्यतीत किया, उसे एक बार देख लेनेका सुयोग मिल जायगा।'

उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। पुष्पक ऋष्यमूकके शिखर पर तत्काल उतर गया। सुग्रीवने नगरमें जानेकी इच्छा ही नहीं की। जब प्रभु नहीं पधारेंगे, कुमार लक्ष्मण एवं श्रीमैथली कोई सत्कार ग्रहण करेंगी, यह सम्भावना ही कहाँ रह जाती है। जब आराध्य नहीं जाते तो सुग्रीव कैसे जा सकते हैं।

युवराज अङ्गदने प्रभुके चरणों पर दृष्टि लगा रखी थी। वे इस प्रकार तटस्थ हो रहे थे, जैसे यह भूमि उनके लिए सर्वथा अपरिचित है।

श्रीजनकनन्दनीने लक्ष्मण लालसे पूछा और विमानसे उतर कर स्फटिक शिला तथा श्रीरघुनाथकी आवास गुहा देखने चल पड़ी उनके ही साथ। पवनकुमारने श्रीरघुनाथके नेत्रोंका आदेश समझ लिया था। वे तत्काल नगरमें चले गये थे सम्वाद देने।

—:०:—

१८. तारा—

पञ्च कन्याओंमें जिनकी गणना है, बालिकी पत्नी तारा जो अब सुग्रीवकी महारानी थी, जिन्होंने सुग्रीव, अङ्गद तथा सभी मन्त्रियों एवं वानर वीरोंकी अनुपस्थितिमें किष्किन्धाका शासन, उसकी व्यवस्था सम्हाल ली थी पूरी दक्षतासे, समाचार मिलते ही वे आयीं ।

यहाँ इतना बता देना उचित है कि पुराणोंमें जो वानर, रीछ, नाग आदिका वर्णन मिलता है, वे आजकलके बन्दर, रीछ या सर्प नहीं हैं । ये उपदेव जातियाँ हैं । इन्हें जन्मसे कामरूपताकी सिद्धि प्राप्त थी । इनके गृह थे, समाज थे। वे वस्त्र पहिनते थे, आभूषण धारण करते थे, पूजा-अर्चा भी करते थे । इनके भवनोंमें शय्या तथा दूसरे उपकरण भी होते थे ।

इन जातियोंके पुरुष वर्गमें वानर-रीछ जातिके शरीर रोमश होते थे । वानर सपुच्छ होते थे। वृक्षों पर वे उछल कर छलांग लगा सकते थे और सम्भवत: नाग पुरुषोंके मुखमें विषदन्त भी होता था । लेकिन इनका नारी वर्ग अपनी आकृति-प्रकृति, रहन-सहन, शिक्षा-व्यवहार सबमें मानव स्त्री जैसा ही था । उलटे इनकी कन्याएँ सुन्दरी होती थीं और अनेक आर्य नरेशोंने इन जातियोंकी कन्याओंसे विवाह किये ।

'वानरी तारा श्रीचरणोंमें प्रणत है भगवति !' साश्रु-नेत्र, गद्-गद् कण्ठ चरणों पर मस्तक रख दिया उन्होंने श्रीमैथिलीके । श्रीरघुनाथको सानुज प्रणति वे कर चुकी थीं । श्रीविदेहनन्दिनीने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ।

'जगन्माता अयोध्याकी अधीश्वरी हम वन्य प्राणियोंकी गिरि गुफामें पधारें, यह प्रार्थना करनेका साहस मैं नहीं कर सकती ।' ताराने चरण प्रक्षालित किये, विधि पूर्वक पूजन किया और बोलीं—'हमारा आज इतना ही क्या कम सौभाग्य है कि आपने हमें दर्शन देनेकी कृपा की ।

'मैंने वह गिरि-गुहा देखी है ।' कुमार लक्ष्मणलालने श्रीमैथिलीको चकित होते देखकर बताया—'इतना विस्तृत भवन—किसी राजसदनसे अपनी सज्जा एवं विशालतामें वह कहीं न्यून नहीं । अवश्य वाह्य चाकचिक्यसे वानर जाति विरत रहती है और सदनका वाह्याकार निर्मित करनेका उसे श्रम नहीं करना पड़ता ।'

'मुझे कितनी प्रसन्नता होती आपके सदनमें पहुँच कर' श्रीजानकीने सहज स्नेह पूर्वक कहा—'किन्तु आप जानती हैं कि मेरे आराध्य अभी तक वनवासी हैं और उनके नियम अपने आप इस दासीके·········' संकोचके कारण वाक्य पूरा नहीं हुआ ।

'युवराज अङ्गद अभी कपि-पतिके साथ अवध चल रहे हैं।' श्रीवैदेहीने दो क्षण रुककर प्रसंग परिवर्तित कर दिया—'वे वहाँ थोड़े समय रहेंगे।'

'अङ्गदकी माता होकर मेरा मातृत्व सफल हो गया।' ताराने अपने कुमारकी ओर देखा। युवराजने मातृ-चरणोंकी वन्दना करली थी और वे पुनः श्रीरघुनाथके पृष्ठ भागमें रामानुजके समीप खड़े हो गये थे। 'त्रिभुवनके स्वामीने उसकी सेवा स्वीकारकी, इससे अधिक सौभाग्य जीवका और क्या होगा। किष्किन्धामें उसे एक स्थिति-विवशा माता मिलनी है और श्रीअवधमें उसे करुणालयके साथ आप जगज्जननीके श्रीचरणोंका सान्निध्य भी प्राप्त रहेगा।'

'मुझ भाग्यहीनाके कारण आप स्थिति-विवशा बनीं।' श्रीजानकीके नेत्र भर उठे।

'आप अकारण खिन्न होती हैं देवि ! मर्यादा पुरुषोत्तम चाहें तो भी किसीका अमङ्गल कर नहीं सकते। अमङ्गल उनके स्मरणसे भी दूर रहता है।' ताराका स्वर क्षोभहीन, प्रशान्त था—'उन्होंने कृपा करके कपीश्वरको वह परम पद दिया, जो अनन्तकालमें भी कदाचित ही उन्हें प्राप्त होता और किङ्करी उनके श्रीमुखके उपदेश श्रवणकी अधिकारिणी बन गयी।'

'जीवन और मृत्यु—दोनों ही कालके अनन्त प्रवाहमें अर्थहीन हैं देवि ! नित्य चिन्मयके लिए क्या अर्थ ? एक तत्त्ववेत्ताका तेज था ताराके मुख पर—'लेकिन जीवनके साथ भी उसका एक सत्य है–कर्तव्य। यह कर्तव्य ही तो आपके श्रीचरणोंकी सच्ची आराधन है। इस वानरीकी इतनी प्रार्थना है—किङ्करी अपने कर्तव्यमें कहीं प्रमाद करे तो आप इसकी सुधि ले लिया करें और इसे अनुग्रहकी प्राप्तिका अधिकार रहे।'

'वानरेश्वरी महिमामयी हैं।' श्रीवैदेहीके स्वरमें आदर था।—'दैहिक व्यामोह उन्हें विभ्रान्त नहीं करता। आज आपसे मिलकर जानकी पुण्यवती हुई।'

'जैसे माता अपनी पुत्रीसे मिलकर पुण्यवती होती हैं।' स्मित आ गया ताराके अधरों पर—'जो निखिल ब्रह्माण्डाधीश्वरी हैं—वही अब हमारी साम्राज्ञी भी हैं और उन दयामयीसे किसीको वात्सल्यकी याचना नहीं करनी पड़ती। किष्किन्धा धन्य हुई उनका अपनत्व प्राप्त करके।'

अपार प्रेम था दोनों ओर। उसका वर्णन शक्य नहीं है।

———

१९. रुमा—

सौन्दर्यके भी विविध रूप हैं। केवल सार्वभौम सौन्दर्यके ही नहीं, नारी सौन्दर्यके भी विविध रूप हैं। त्रिलोक सुन्दरियोंमें गणना करने योग्य हैं किष्किन्धामें तारा एवं रुमा; किन्तु दोनोंमें—दोनोंके सौन्दर्यमें कितना अन्तर है।

ताराका सौन्दर्य मादक नहीं हैं, रुमाका सौन्दर्य भी मादक नहीं है; किन्तु ताराका सौन्दर्य है श्रीमूर्ति पर समर्पित कमलिनीकी भाँति। उसमें गाम्भीर्य हैं, ओज है तथा एक ऐसा गौरव है, जिसके सम्मुख दृष्टि टिकती नहीं, श्रद्धावनत हो जाती है। तारामें एक सन्तका गौरव स्पष्ट झलकता है और रुमा, अरुणोंदय वेलामें यूथिकाके सुकोमल एकाकी सुमनको जैसे किसीने तोड़कर पृथ्वी पर डाल दिया हो। उसमें अतिशय सौकुमार्य है, अत्यन्त दौर्बल्य है, एक अद्भुत दैन्य है। वह छुई-मुई है अथवा पावसकी प्रथम वर्षामें स्वर्गसे धरा पर भटक आयी कोई इन्द्र वधूटी है। अपने आपमें संकुचित, छूते ही जैसे सिकुड़ जायगी, म्लान हो जायगी। रुमा पर दृष्टि पड़ते ही हृदयमें करुणाके भाव आते है। बालिकाके समान—किसी मातृहीना एकाकिनी बालिकाके समान लगतीं हैं रूमा।

'कपीश्वरी!' अपने चरणोंमें प्रणत रुमाको श्रीवैदेहीने उठा लिया झुककर।

'कपीश्वरी तो अभी श्रीचरणोंमें उठी हैं' रुमाके स्वरमें न क्षोभ था, न स्पर्धा। वे सहज भावसे कह रही थीं—'यह तो किङ्करी है।'

'कपिपतिकी पाणि गृहीता यहाँ भी सिंहासन वर्जिता हैं।' श्रीजानकीने देखा रुमाके भोले मुखकी ओर—'यही लङ्कामें हुआ और किष्किन्धामें उससे पूर्व ही हो चुका था। मर्यादा-पुरुषोत्तमने यह अद्भुत मर्यादा स्थापित की है।'

'सिंहासन जिनका स्वत्व था जो उस पर आरम्भसे आसीन थीं, उनसे उसे ले लेना तो उचित नहीं होता देवि!' रुमाके स्वरमें अब वेदना आयी—'मुझ धर्षिता-लांछिताको मेरे स्वामीने अपने चरणोंमें बैठने दिया, मुझे किङ्करी स्वीकार कर लिया, यह असीम अनुग्रह उनका। वे अस्वीकार कर देते, उन्हें कोई कैसे दोष दे सकता था।'

'अबला नारी क्या कर सकती है आततायीके सम्मुख।' श्रीवैदेहीको दशग्रीव द्वारा अपने हरणका स्मरण हो आया। उनके नेत्र भर आये—'अत्याचारियोंके द्वारा वह कहाँ अपमानित नहीं हुई; किन्तु तुम्हारे स्पर्शके पापकी अग्निमें अजेय, बालि भस्म हो गया। अब वह रोषका पात्र नहीं रहा सखि।'

'मैं न रोष करती—न दोष देती। रोष तो तब भी मैंने नहीं किया था। वे क्रोधोन्मत हो गये थे और क्रोधमें विवेक नहीं होता। मेरी आवश्यकता नहीं थी दिगन्तजयी कपिराजको। वे इन्द्रियलोलुप भी नहीं थे; किन्तु क्रोध—अपने अनुजको अपमानित करनेके लिए वे क्या कर रहे हैं, उन्हें स्वयं भान नहीं रहा।' रुमाके नेत्रोंसे अश्रु झरने लगे—मेरा अभाग्य, फिर तो अपने अन्तःपुरमें उन्होंने मुझे अत्यन्त उपेक्षिता दासीकी अपेक्षा भी नगण्य कर छोड़ा था। दूसरी बार उन्होंने देखा भी नहीं कि रुमा भी उनके यहाँ कोई है।'

'कपीश्वरी तारा यदि चाहतीं…………'श्रीजानकीको कुछ कहनेका अवकाश नही मिला।

'उन्होंने ही जननीकी भाँति इस असहायाकी रक्षाकी। पक्षिणी जैसे अपने शावकको पक्षोंमें छिपा लेती हैं, उनका स्नेह इस दुर्भाग्य-त्रस्ताको आप्लावित किये रहा।' रुमाने अपनेको सम्हाल लिया था—'किन्तु कपीश्वर अत्यन्त दुर्धर्ष थे देवि! वे रोषमें हों तो उनके सम्मुख कोई नहीं जा सकता था। उसके आवेगमें व्याघात बनना अशक्य था कपीश्वरीके लिए भी।

'आज वे स्वयं अप्रिय स्थितिमें हैं।' रुमाने दो क्षण रुक कर कहा—'अवश्य किष्किन्धाका सिंहासन उनका है; किन्तु उनका स्नेह उस सिंहासनसे महान है और आज तो श्रीचरणोंका दर्शन करके यह दासी भी निष्कलुष हो गयी।'

'तुम्हारे कलुषकी कल्पना ही बिडम्बना है सखि!' श्रीजनक-नन्दिनीने रुमाके कर अपने करोंमें ले लिये—'विवशताकी कोई औषधि नहीं हुआ करती। तुम अवध चलतीं……।'

'आपका अनुग्रह—मर्यादा पुरुषोत्तम अश्वमेध यज्ञ करेंगे ही।' रुमाने प्रसन्न होकर कहा—'कपीश्वरी किष्किन्धाका प्रबन्ध सम्हालनेमें पटु हैं और यह किङ्करी उस समय इन चरणोंकी सेवा पा जायगी।'

इस समय अकस्मात् साथ चलनेका प्रस्ताव अनवसर है, यह समझकर श्रीजानकीने भी आग्रह नहीं किया।

—:०:—

२०. आशीर्वाद—

'वस्तु तो समस्त श्रीरघुनाथकी है, किन्तु' कपीश्वर ने युवराज अंगदकी ओर देखा—'राज्याभिषेकके पश्चात् प्रभु जब माता जानकीके साथ सिंहासनारूढ़ अपने अनुगत मंडलीकों-का उपहार स्वीकार करके उन्हें कृतार्थ करने लगेंगे—वानर राजा होनेके कारण ही क्या किष्किन्धाको अवसर नहीं मिलेगा ?'

'किष्किन्धाके अधिपति यदि अपनेको उन्हीं मण्डलीकोंकी भाँति समझना चाहेंगे' अंगदके स्वरमें एक अद्भुत व्यंग था—'उन्हें सर्व प्रथम अवसर प्राप्त होगा सम्राटके पदोंमें अपने उपहार निवेदित करनेका। यह सम्मान उन्हें अवश्य मिलेगा इसमें मुझे तो सन्देह नहीं है।'

'युवराज भी तो सहचर होंगे उस समय सुग्रीवके।' कपिपतिको अगंदके व्यंग स्वरसे खेद हुआ—'एक अवसर मिला है हमें प्रभुके अनुग्रहसे अपने उपहारका निश्चय करनेमें युवराजको मुझे सहायता देना क्यों अप्रिय है ?'

'अंगद अपने शासकसे अभी ही करबद्ध प्रार्थना करता है कि वे उसे क्षमा करें उक्त अवसर पर। यह अल्पज्ञ अपनेको असमर्थ पाता है—अयोग्य पाता है कि श्री-अयोध्यानाथके चरणोंमें उपहार अर्पित करने उठे।' अंगदके स्वरमें अतीव नम्रता थी, किन्तु वह नम्रता व्यंग नहीं थी, ऐसा कहना कठिन है— 'रही उपहार निर्णयकी बात, सो संसारमें ऐसा कोई अद्भुत बहुमूल्य पदार्थ नहीं, जो कौशलके सम्राटका स्पृहणीय हो। पितृ-चरणोंसे मैंने सुना है—अवधके रत्नागारकी तुलना कुबेरके लिए भी अकल्पनीय है। अतः वानरपतिके लिए कुछ उत्तम फल उपहारके सबसे उत्तम पदार्थ होंगे।'

'श्रीराघवेन्द्रके अभिषेकके समय उनके श्रीचरणोंमें उपहार अर्पित करनेका सम्मान तुम्हें प्रिय नहीं ?' सुग्रीवको अत्यन्त आश्चर्य हुआ अंगदकी बातसे। वे चौंक पड़े थे और अपना आश्चर्य उन्होंने छिपाना आवश्यक नहीं माना। इस समय वे पुष्पकसे नीचे थे और उनके आस-पास अंगदको छोड़कर कोई नहीं था।

'उन करुणावरुणालयने हम वानरोंको अपना स्वजन स्वीकार किया है। आपको उन्होंने अग्निदेवकी साक्षीमें मित्र बनाया है और इस जनको पवनपुत्रकी अनुकम्पासे उनके श्रीचरणोंकी सेवाका सौभाग्य मिला है।' अब अंगदकी वाणी सौम्य, श्रद्धाभरित

हो उठी थी—'किसी सम्मान, किसी लाभके लिए अंगद श्रीरघुनाथके भृत्यपदका यह लाभ त्याग नहीं सकता और आप जानते ही हैं, सम्राटके भृत्य उन्हें उपहार नहीं दिया करते। वे तो प्रसादोपजीवी होते हैं।'

'अंगद !' सुग्रीवने केवल सम्बोधन किया। वे अनिमेष युवराजके मुखकी ओर देख रहे थे। उनका चित्त अंगदकी भावना एवं सूझसे चमत्कृत हो गया था।

'कपिपतिकी स्थिति भिन्न है। श्रीरघुनाथ उन्हें सखा कहते हैं।' अङ्गदकी वाणीमें फिर व्यंग आया—'हमें श्रीराघवेन्द्रके अनुजोंमें केवल श्रीलक्ष्मणलालका दर्शन मिला है। हम जानते हैं, प्रभुका कितना स्नेह है उनपर; किन्तु हम उनके भाव भी जानते हैं। वे अपने चित्तसे नित्य अत्यन्त विनम्र भृत्य हैं।

'सुग्रीव भी भृत्य ही तो है।' कपिपतिके स्वरमें भी श्रद्धाका गद्-गद् भाव आया —'तुम ठीक कहते हो अंगद ! भृत्य प्रसादोपजीवी होता है। वह अपने आश्रय दाताको क्या उपहार देगा। उपहार तो अर्पित करते हैं मंडलीक नरेश—वे नरेश, जिन्हें सम्राटका स्वजन बनानेका सौभाग्य तो नहीं ही प्राप्त है।'

'लंकापति हमारे साथ हैं।' अंगदने अब शान्त भावसे समझाया—'हम जानते ही हैं कि वे कोई उपहार साथ नहीं लाये हैं और न इस सम्बन्धमें सचिन्त हैं। यदि यह आवश्यक होता, उनके युगवृद्ध परमानुभवी महामन्त्री माल्यवन्त प्रमाद कर जायँगे —ऐसी आशंका नहीं की जा सकती।'

'एक बड़ी भूलसे तुमने सुग्रीवको बचा लिया युवराज !' सुग्रीवने अंगदके कन्धे पर स्नेह पूर्वक हाथ रखा।

'आप माताजीसे परामर्श कर लें।' अंगदने देखा कि तारा देवी वहीं आ रही हैं, तो उन्होंने वहाँसे हट जानेका उपक्रम किया।

'तुम्हारी उपस्थिति व्याघात नहीं बनेगी कुमार !' ताराने ही अंगदको रोक लिया— 'कपिपति कोई आदेश देना चाहें, केवल इसलिए यहाँ आयी हूँ। तुमसे तो मैं पुत्रवती हुई। प्रभुका प्रसाद—उनकी कृपा ही तुम्हें सदा अभीष्ट रहे, यह जननीका आशीर्वाद !'

—०—

२१. माता अञ्जना—

'यदि प्रभुकी आज्ञा हो' पुष्पक प्रस्थान ही करने वाला था कि श्रीपवनकुमारने श्रीराघवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की—'माताके दर्शन करके मैं मार्गमें ही सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा। बहुत दिन हो गये माताके दर्शन किये और इन दिनों वे समीपके शिखर पर ही अवस्थित हैं।'

श्रीहनुमान पुष्पकसे भी अधिक वेगसे गगन-गतिमें समर्थ हैं, इसमें सन्देहको स्थान नहीं था। पुष्पकको ही कहाँ पूर्णवेगसे चलना था। उसे तो अभी मार्गमें कई स्थानों पर रुकना था।

'कपिश्रेष्ठने मुझे सूचित ही नहीं किया कि उनका गृह यहीं कहीं समीप है।' प्रभुने केशरीजीकी ओर देखा। सुग्रीवने अञ्जना शिखर संकेतसे ही दिखला दिया था।

'हम वानरोंका गृह क्या ?' कपिश्रेष्ठ केशरी कह रहे थे—'हमारा आवास तो मन्दराचल था ; किन्तु एकमात्र पुत्र जब किष्किन्धामें ही रह गया तो माताकी ममता उसे दूर कैसे रहने दे सकती थी। हम दोनों समीपके शिखर पर आ गये और कोई गुफा बना लेनेमें हमें अधिक श्रम नहीं होता, यह श्रीचरणोंसे कहाँ अविदित है।'

'वह कोई नगर तो है नहीं कि राम वहाँ न जा सकें।' श्रीरघुनाथने प्रसन्न स्वरमें कहा—'माताके दर्शन हम सब साथ ही करेंगे।'

पुष्पक गगनमें उठा और क्षणार्धमें अञ्जना शिखर पर उतर गया। कोई विमान उतरा अपने शिखर पर, यह देखकर देवी अञ्जना अपनी गुफासे बाहर आ गयी।

'त्रिभुवनके स्वामी, परात्पर प्रभु श्रीरघुनाथ माता जानकी तथा श्रीलक्ष्मणलालके साथ पधारे हैं मातः !' श्रीहनुमानजीने शीघ्रतापूर्वक जाकर माताके चरणोंमें सिर रखा तथा सूचना दी—'कपिपति सुग्रीव, युवराज अंगद, पितृ-चरण, लंकाधिप विभीषण तथा सभी वानर-प्रमुख आये हैं !'

'लंकाधिप विभीषण ?' इसपर माताको आश्चर्य हुआ था। इसी प्रसंगमें श्री-लक्ष्मणजीको माताके दूधकी शक्ति देखनेका अवसर मिला, किन्तु इस प्रसंगका विस्तार 'श्री हनुमान चरित'*के 'दुग्धकी शक्ति' नामक अध्यायमें मैं कर चुका हूँ, अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति अनावश्यक है।

'वैवस्वत गोत्रीय राघव दाशरथि राम श्रीचरणोंमें प्रणत है देवि ! श्रीरघुनाथने

---

*श्रीहनुमान चरित अप्राप्य होगया है। अब यह कथा अञ्जनेयकी आत्मकथामें देखी जा सकती है।

साष्टाङ्ग प्रणिपात किया अनुजके साथ और तब सुग्रीव, विभीषणादि कैसे खड़े रह सकते थे।

अद्भुत स्थिति हो गयी कपि-श्रेष्ठ केशरीकी। वे क्या करें? एकाकी वे खड़े थे—खड़े थे, इसका भी उन्हें पता नहीं था। रोमांचित शरीर प्रेमावेशसे पीपल-पत्रकी भाँति काँप रहा था। नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे। न कुछ देख सकते थे, न सुन सकते थे।

'प्रभु प्रणाम कर रहे हैं मात:!' श्रीहनुमानजीने माता अञ्जनाको हिलाकर सावधान करनेका प्रयत्न किया। क्योंकि श्रीरघुनाथ पधारे हैं, यह सुनते ही उनका सम्पूर्ण शरीर मूर्तिकी भाँति स्थिर हो गया था। पलकों तकमें गति नहीं रह गयी थी। शरीर जड़त्वको प्राप्त हो गया और अन्तर आनन्दके उद्वेलमें डूब गया।

'प्रभु पधारे—इस वानरीके यहाँ प्रभु आये!' हिलाये जाने पर भी पूरी चेतना लौटी नहीं। अश्रु, स्वेद, कम्प, रोमांच आदि दिव्य भावोंके एक साथ बाहुल्यमें माता उन्मादिनीकी भाँति अस्तव्यस्त हो उठीं। वे अपने पुत्रको ही अंकमें दबा कर प्रलापसा करने लगीं—'हनुमान, तूने मुझे धन्य किया! तू पुत्र है; किन्तु माँ तेरे ऋणसे उऋण नहीं हो सकती।'

'राम चरणोंमें प्रणाम करता है मात:।' इस भाव विह्वलताको देखकर श्रीरघुनाथ-के मुख पर स्मित आ गया था।

'श्रीराम! प्रभु! प्रणाम करते हैं इस वानरीको!' माताने हनुमानको छोड़ा और दौड़ कर उन्होंने उठाकर श्रीराघवेन्द्रको अंकमें भर लिया—'मुझे—मुझे-अञ्जनाको माता कहते हैं आप?'

'यह लक्ष्मण भी श्रीचरणोंमें मस्तक रखता है माता!' अपने चरणोंमें झुके श्रीरामानुजको भी माताने उठाकर अंकमें दबा लिया।

'यह आपकी पुत्रवधू सीता है।' श्रीरघुनाथने ही परिचय दिया। श्रीजानकीने अंचल हाथमें लेकर माताके चरणोंमें मस्तक रखा था।

'सौभाग्यवती हों साम्राज्ञी!' अब माताके कण्ठसे स्वर निकला और उन्होंने दोनों भुजाएँ फैलाकर श्रीजानकीको उठा कर अंकमें ले लिया।

आतिथ्य तथा कपि समूहके अभिवादनादिका वर्णन नहीं करूँगा। इतना ही बता देना यथेष्ट है कि पुष्पकके प्रस्थानसे पूर्व श्रीजानकीने मातासे वचन ले लिया कि वे राज्याभिषेकके समय अयोध्या आवेंगी आशीर्वाद देने।

—:卐:—

२२. महर्षि अगस्त्य---

'यह महर्षि मतङ्गका आश्रम है'—पुष्पक चल रहा था और श्रीरघुनाथ नीचेके दृश्योंका निर्देश करते जा रहे थे। सहसा स्वर श्रद्धा-गद्-गद् हो गया—'यहीं हमने प्रेममयी माता शबरीके दर्शन किये। उन्होंने ही हमें पम्पासरोवर जाने तथा कपिपति सुग्रीवसे मैत्री करनेका निर्देश किया और लक्ष्मण! उनके वे अमृत स्वादु बेर—जीवनमें मुझे वैसा स्वाद कभी नहीं मिला और आगे मिलेगा, कोई आशा नहीं।'

जिन्हें एकमात्र प्रेममें ही रसानुभूति होती है—उन रसरूपको कोई पदार्थ कैसे तुष्ट कर सकता है और शबरीके बेरोंमें जो अन्तरका असीम उल्लास, उत्कट अभीप्सा, परम प्रतीक्षा थी—अन्यत्र कहीं न उपलब्ध हो तो आश्चर्य क्या।

'बेर न सही, उनके चरणोंमें प्रणिपात करनेका सुअवसर' लेकिन श्रीमैथिलीका वाक्य पूरा नहीं हो सका।

'वह भी अब अलभ्य हो चुका है देवि!' श्रीरघुनाथने गद्-गद् स्वरमें कहा—'वे अब दिव्य धामको धन्य करती हैं। अन्यथा राम उनके आतिथ्यका अवसर जाने नहीं दे सकता था। यहींसे उनके उटजको हम अभिवादन करेंगे।' प्रायः एक साथ ही सबके मस्तक झुक गये; क्योंकि पुष्पक ठीक शबरीजीकी कुटियाके ऊपर एक क्षणको गगनमें स्थिर हो गया था।

'अमित तेजस्वी महर्षि अगस्त्यका आश्रम आ रहा है देवि!' पुष्पकने एक बार आश्रमकी ऊपर ही प्रदक्षिणाकी और वह नीचे उतर आया।

'दक्षिणापथमें मेरा कार्य आपके द्वारा परिपूर्ण होगया!' अभिवादनादिके उपरान्त जब महर्षिके आश्रममें वृक्षोंकी शीतल छायामें सबने आसन ग्रहण कर लिया—महर्षिने श्रीरघुनाथसे कहा—'देवता, वेद, ऋषिगण अब निरापद हो गये। अरण्यमें स्वेच्छानुसार आश्रम स्थापित करनेका तपस्वियोंका अधिकार सुरक्षित होगया। अगस्त्यकी इतने दिनोंकी साधना सफल हुई।'

'श्रीचरणोंका कार्य तो अब प्रारम्भ होगा।' श्रीरघुनाथने अञ्जलि बाँध ली थी। 'आतङ्ककी निवृत्ति सिंहासनका कर्तव्य था। शासक असमर्थ रहे और दशग्रीवके असह्य अत्याचारोंमें दक्षिणारण्यमें पधार कर आर्यने मुनियोंको आश्रय दिया; किन्तु अब

विभीषण अनुगत हैं श्रीचरणोंके और उच्छिन्न आश्रमकी स्थापनामें उन्हें अमित तेजस्वी आपसे तपोमूर्तिके आशीर्वादकी अपेक्षा है।'

'मर्यादा पुरुषोत्तम् जो मर्यादा स्थापित करेंगे, उसका अतिक्रमण करनेवाला सदा उद्धत कहा जायगा।' महर्षि अगस्त्यने सस्मित कहा—'कुम्भजको उनका आदेश स्वीकार करना ही चाहिये, यद्यपि इसका अर्थ है कि अयोध्याके सिंहासन पर जब जगत्पतिका राज्यभिषेक हो, यह ब्राह्मण उपस्थित होकर आशीर्वाद देनेका सौभाग्य नहीं पा सकेगा।'

'गिरिश्रेष्ठ विन्ध्य श्रीचरणोंमें अब तक प्रणत पड़े हैं।' श्रीरघुनाथने सस्मित कहा—'वे उसी प्रकार पड़े रहें, अयोध्याके नरेशके लिए यह सबसे महान आशीर्वाद श्रीचरणोंका।'

'विन्ध्य कभी उन्मद हुआ था, किन्तु वह अब मर्यादामें नहीं रहेगा, इतना अज्ञ नहीं है।' महर्षिने प्रसन्नता पूर्वक कहा—'अगस्त्य निमत्त न भी बने, वह कैसे भूल सकता है कि पृथु रूपमें अंशावतार लेकर जिन्होंने सम्पूर्ण धराको धनुष्कोटि मात्रसे सम कर दिया था; वे स्वयं इस समय धरापर उपस्थित हैं। लेकिन दक्षिणके उच्छिन्न तीर्थोंका जीर्णोद्धार आवश्यक है और इसमें विभीषणको इस तापसकी सहायता अनिवार्य बनेगी, यह मैं जानता हूँ।'

'महर्षिके आश्वासनसे मैं धन्य हुआ।' विभीषणने मस्तक रखा श्रीचरणों पर।

इसी अवसर पर श्रीमैथिली भगवती लोपामुद्राके समीप उटजमें चली गयी थीं। श्रीरघुनाथ तथा उनके अनुगतोंका अभिवादन स्वीकार करके भगवतीने ही श्रीमैथिलीको अपने साथ आनेका संकेत किया था।

'मेरी बच्ची!' अत्यन्त स्नेहसे हृदयसे लगा लिया भगवतीने श्रीजनक-नन्दिनीको। यह सुकुमार सुमन—राक्षसके अत्याचारके सर्वथा अयोग्य, किन्तु वत्से! तुम्हारे क्लेशने त्रिलोकीको निष्कण्टक कर दिया। किसी तपस्वीका तप तुम्हारे इस कष्टकी तुलना नहीं कर सकता।'

'आपका आशीर्वाद मातः! आपकी यह कन्या उसीके सहारे लंकामें जीवित रह सकी राक्षसियोंके मध्य!' श्रीजानकीने पुनः मस्तक रखा भगवतीके चरणों पर।

ऐसे, अनुपमेय अतिथि कहाँ बार-बार मिलते हैं; किन्तु भगवतीको अनुमति देनी पड़ी। महर्षिने भी आशीर्वाद दिया। पुष्पकको आज ही प्रयाग पहुँचना चाहिये, इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

—:★:—

२३. पंचवटी---

'यह सरिता ?' श्रीजनकनन्दिनीने इस बार स्वयं जिज्ञासाकी—'लगता है·······'

'ठीक ही लगता है। ये गोदावरी हैं।' श्रीरघुनाथने सस्मित सूचित किया—'और अब हम पञ्चवटीके समीप पहुँच रहे हैं।'

'वे दीखते हैं हमारे उटज' श्रीमैथिलीने दूरसे पहिचान लिया।

'देवि ! यहाँ हमने पक्षिराज जटायुकी देहक्रिया की थी।' श्रीरघुनाथके कमल लोचनोंसे टप-टप बिन्दु सहसा गिरने लगे—'राम यहाँ दूसरी बार पितृहीन हुआ।'

'उन्होंने अन्त तक संग्राम किया था।' श्रीजानकीके दृग भी झरने लगे—'कितना प्रचण्ड वेग था उनका, कितना अतुल विक्रम था उनके जराजीर्ण शरीरमें। दशग्रीवसे उन्होंने प्रथम वेगमें ही मुझे ऐसे झपट लिया, जैसे कोई पिता किसी आततायीसे अपनी कन्या छीन ले और अत्यन्त मृदुतासे दूर धरा पर धरकर फिर टूट पड़े थे उस सुरासुर जयी पर। मैं स्तम्भित देखती रह गयी—दो क्षणमें तो दशाननकी देह रक्त लथपथ हो चुकी थी; किन्तु उसने खड्ग खींच लिया और·······'

श्रीरघुनाथने सम्हाल लिया मूर्छित होती मैथिलीको। वे दयामयी मूलोत्पाटिता वल्लरीके समान मुरझा गयी थीं। कुछ क्षण उपरान्त उन्होंने दीर्घश्वास लेते कहा—'यह हतभाग्या तब भी संज्ञाशून्त हो गयी थी और जब पुनः संज्ञा लौटी, दशानन दूर गगनमें लिये जा रहा था।'

'पक्षिराजके लिए शोक उचित नहीं हैं देवि !' श्रीरघुनाथका कण्ठ सम्पूर्ण गद्-गद् था। वे किसी प्रकार कह रहे थे—'आर्तप्राणीके परित्राणमें जो आत्माहुति दे सकें—धन्य जीवन उनका ! सुर भी उनकी वन्दना करते हैं। परमपद उनका स्वत्व है। पक्षिराजकी मृत्यु किसी भी मुनीन्द्रके लिए परम वांच्छनीय है।'

'पञ्चवटीमें उनका सान्निध्य है, यह भावना ही मुझे कितनी निर्भय, कितनी निश्चिन्त रखती थी।' श्रीमैथिली अब भी भाव-विभोर थीं। पुष्पक गगनमें स्थिर हो गया था।

श्रीरघुनाथने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया और उनके साथ सभीने पक्षिराजकी स्मृतिके सम्मानमें प्रणिपात किया।

'यह अपने कुटीर हैं !' इस गम्भीरताको समाप्त कर देना आवश्यक था। पुष्पकमें

अत्यन्त मन्द गति आयी और कुछ दूर ही चलकर वह गगनमें पुनः स्थिर हो गया। नीचे एक अपेक्षाकृत दीर्घ तथा एक छोटी-सी पर्णकुटी दृष्टि पड़ रही थी। श्रीरघुनाथने उधर संकेत किया—'अपने करसे लगाये इस करवीरको देख लो देवि ! वह अब अपने स्वर्णिम पुष्पोंसे परिपूर्ण है।'

'पुष्पित तो हो गया है मेरा तमाल भी !' श्रीजनक-नन्दिनीने नीचे दृष्टिकी और उनका श्रीमुख प्रफुल्ल हो गया—'कदम्ब भी पुष्पित है देव ! और मल्लिका तो सम्पूर्ण पुष्पमयी हो उठी है। देवर ! तुम अपनी स्वर्ण-यूथिका देखते हो ?'

'उसके नीचे कोई बैठा है माता ! कुमार लक्ष्मणलालने किञ्चित् स्मितके साथ कहा—'वह ऊपर ही देख रहा है हम लोगोंकी ओर।'

'कौन है वह ?' श्रीमैथिलीने वातायनके समीप आकर ध्यानपूर्वक देखा।

'आप चिन्ता न करें' लक्ष्मणलालने हँस कर कहा—'वह कोई निशाचरी नहीं। वह केवल आपका मृगशावक है।'

'वह अब भी इस उटजके प्राङ्गणमें ही बैठता है।' सस्नेह देख रही थीं श्रीजनक-नन्दिनी उसे—'कितना बड़ा हो गया है वह !'

'अपनी वात्सल्यमयी माँको वह भूल नहीं सका है।' इस बार श्रीरघुनाथने कहा—'वह कदाचित उनके सुकुमार करोंके तृणकी आशा अब भी त्याग नहीं सका है। उटजका प्राङ्गण उसका चिर-प्रिय आवास—किन्तु अब उसे क्या प्रसन्नता होगी ?'

पञ्चवटीकी स्मृतियाँ, वहाँके वृक्ष, वल्लरियाँ, पक्षी मृगशावक, जलाशय—सभीके साथ सुकोमल स्मृतियोंका सम्बन्ध। श्रीरघुनाथने सहचरोंको ऊपरसे ही दिखाया और अनेक स्मृतियोंके प्रसङ्ग सुनाये। पुष्पक कुछ समय वहाँ स्थिर रहा गगनमें और तब वह सीधे उत्तरकी ओर बढ़ा।

—:+:—

२४. महामुनि सुतीक्ष्ण—

'श्रीरघुनाथजी आ रहे हैं ! मेरे आराध्य गगन मार्गसे पधार रहे हैं ।' सहसा महामुनि सुतीक्ष्णका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठा, नेत्रोंसे अश्रु प्रवाह चलने लगा। दो क्षण वे ज्योंके-त्यों बैठे रह गये और फिर अविलम्ब उठे।

सुतीक्ष्णजी मध्याह्न सन्ध्या करके ध्यान करने बैठे थे। इन दिनों उन्होंने एक विशेष व्रत ले रखा था। आहार त्याग दिया था और निद्राको नमस्कार कर लिया था। वे अपने आसनसे रात्रि-दिवसके आठ प्रहरमें केवल तीन बार उठते थे और उठते भी थे प्रभात, मध्याह्न, सायंकालके स्नान, सन्ध्यादि करने मात्रके लिए। उनका ध्यान अखण्ड था। उनका चिन्तन अव्यवच्छिन्न गतिसे चल रहा था।

जबसे श्रीराघवेन्द्रने दशग्रीवके विरुद्ध ऋष्यमूकसे अभियान प्रारम्भ किया था, सुतीक्ष्णजीका यह व्रत प्रारम्भ होगया था। जबसे अपने गुरुदेव महर्षि अगस्त्यके आश्रममें श्रीराघवेन्द्रसे वे पृथक हुए थे, तबसे ही प्रति दिन वे उन वनवासी अपने हृदय-धनकी नित्यकी स्थितिका साक्षात्कार अपने हृदयमें कर लिया करते थे; किन्तु लङ्का अभियानके समयसे तो उनका चिन्तन अखण्ड चलने लगा था।

अपने अन्तरमें महामुनि सुतीक्ष्ण श्रीरघुनाथका केवल दर्शन ही नहीं करते रहे थे। मानसिक रूपसे उन्होंने किष्किन्धासे सेतुबन्ध तकका पूरा मार्ग, पूरी दृश्यावली देख ली थी। उन्होंने बँधता सेतु देखा। रामेश्वर-स्थापनाके दर्शन किये थे और लङ्काका संग्राम देखा था। उन महातापसकी दिव्यदृष्टिने प्रत्यक्षकी भाँति इस सबका सूक्ष्म साक्षात्कार प्राप्त किया था।

केवल तटस्थ दर्शन मात्र यह नहीं था। अपने मनसे सुतीक्ष्णने पथ-प्रशस्त किया था। प्रभुके स्वागतका सम्भार किया था मार्गमें मानसिक रूपसे और दिवसान्तमें संग्रामश्रान्त श्रीरघुनाथके श्रीचरण पूरी निशा उनके मानसकर दबाते रहते थे।

ध्यानके उन धनीने अपने आराध्यको श्रीजनक-नन्दिनी, लक्ष्मण लाल तथा सुग्रीव-विभीषणादिके साथ पुष्पकारूढ़ होते देखा था। उनका निर्मल मन पुष्पकके साथ नहीं, पुष्पकमें सिंहासनासीन उन दूर्वादल श्यामके चरणपङ्कजोंसे पृथक कहाँ होता था—'और अब प्रभु पञ्चवटीसे आगे चल रहे हैं.......!'

अर्घ्य, पाद्य, सुमन-माल्यादि शीघ्रता पूर्वक उठा सुतीक्ष्णजीके करोंमें और उन्हें स्वयं पता नहीं लगा कि उनका शरीर अब धरा पर नहीं है। पुष्पकके गमन पथमें पहुँचनेके लिए उन्हें कोई संकल्प नहीं करना पड़ा। 'प्रभु त्वरामें हैं' पुष्पक उनके आश्रममें उतरे, यह आग्रह उनके मनमें नहीं आया। पुष्पक उतरेगा यह आशा भी नहीं उठी और तब भी जब उनके करोंमें अर्चाके उपकरण उठे—सिद्धियाँ इससे उपयुक्त अवसर उनकी सेवासे सनाथ होनेका भला कब पा सकती थीं।

'यह अपार तेज पुञ्ज !' यानके सम्मुख जैसे प्रकाशका पिण्ड प्रकट हो गया था। चौंके सभी थे और सबकी दृष्टि उधर ही लग गयी थीं; किन्तु पूछा श्रीजनकनन्दिनीने—'पुष्पक भगवान् भास्करके समीप जा रहा है देव ?'

'आप इस तेजसे अपरिचित नहीं हैं मात: !' प्रभुके बोलनेके पूर्व ही श्रीलक्ष्मणजीने उत्तर दिया। वे वातायनके समीप थे और तेजोपुञ्जके मध्य जो एक आकृति व्यक्त होने लगी थी, उसे उनके नेत्रोंने पहिचान लिया था। जो जीवोंके परमाचार्य हैं, प्रभुके पादपद्मों में पहुँचने वाले किसी अधिकारीको उनकी दृष्टि दूरसे लक्षित करले, यह सर्वथा स्वाभाविक है। 'महामुनि सुतीक्ष्ण श्रीचरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहते हैं।'

पुष्पक गगनमें ही स्थिर हो गया। श्रीरघुनाथ सिंहासनसे श्रीजानकीके साथ उठ खड़े हुये। विमानमें सुतीक्ष्णजीके प्रवेश करनेके लिए द्वार अनावृत हो गया था और सभी उनके स्वागतके लिए समुत्सुक थे।

'धन्य हुआ जीवन ! सफल हुई साधना ! कृतार्थ हुआ यह जन !' अपने चरणों पर झुकते महामुनिको श्रीरघुनाथने बढ़ कर भुजाओंमें भर लिया था। देर तक वक्षसे लगे रहे वे। दोनों शरीर रोमाञ्चित हो रहे थे। मुनिके नेत्र-बिन्दु श्रीराघवके चरणों पर गिर रहे थे और श्रीरामके अश्रुओंने उनकी जटाएँ आर्द्र कर दीं। जब यह प्रेमावेग किञ्चित वशमें आया, मुनिने स्तवन किया।

आपका आशीर्वाद अयोध्यामें इस जनको मिलेगा और राजसदन श्रीचरणोंके चरणोदकसे पवित्र होगा, यह रामकी आशा शिथिल नहीं हुई है !' मुनिको सबने प्रणिपात कर लिया, परस्पर वन्दनादि हो चुके तब मुनिके पुष्पकसे बाहर निकलते समय श्रीरघुनाथने अनुरोध किया। राज्याभिषकके समय अवध आनेका यह आमन्त्रण स्वीकार तो होना ही था।

—✱—

२५. अत्रि-आश्रम–

'यहीं कहीं लक्ष्मणके द्वारा प्रस्तुत गर्तमें विराधका शरीर सो रहा है।' श्रीरघुनाथने नीचे निर्देश किया। अत्यधिक सघन वनमें नीचे कहीं किसी गर्तका चिह्न गगनमें उड़ते पुष्पक परसे लक्षित कर लेना कठिन ही था।

'महर्षि शरभंगके आश्रमसे तब हम आगे आ गये ?' श्रीमैथिलीने पीछेकी ओर देखा।

'अब वहाँ कोई नहीं होगा इस समय। क्योंकि महर्षि एकाकी रहते थे। उनके साथ तब भी कोई साधु—साधक अथवा ब्रह्मचारी नहीं था।' पुष्पक गगनमें कुछ ऊपर उठ गया। श्रीरघुनाथने निर्देश किया—'यहाँसे भी उनका आश्रम आप देख सकती हैं।

'माता अनुसूया' श्रीजनकनन्दिनीने श्रद्धा समन्वित स्वरमें कहा और आगे दृष्टिकी।

'हम उनका पदाभिवन्दन करने उतर रहे हैं।' मर्यादा पुरुषोत्तमका स्वर भी गद्-गद् था—'त्रिदेवोंने शिशु बनकर जिनकी क्रोड़ीमें वात्सल्यका उपभोग किया, उन लोक-माताके चरण-दर्शन अभी प्राप्त होंगे हमें।

क्षणार्धमें पुष्पक मन्दाकिनीके पावन उद्गमके समीप उतर गया। अर्घ्य, पाद्यादि निवेदित किया महर्षिने अपने परम प्रिय अतिथियोंको और आगन्तुकोंने उन तपोमूर्ति तथा उनकी अर्धाङ्गिनी, सतीत्वकी अधिदेवता अनुसूयाजीके चरणोंमें मस्तक रखकर अपनेको कृतकृत्य माना।

'राघव आज इस समय आवेगा यह आप सर्वज्ञसे अज्ञात कैसे रह सकता था।' आसन ग्रहण करनेके अनन्तर श्रीरघुनाथने महर्षिसे सादर कहा, क्योंकि वे देख रहे थे कि चित्रकूट मण्डलके प्राय: सभी आश्रमवासी—पूर्व परिचित एवं अपरिचित भी, मुनि-पत्नियाँ, मुनिकुमार, सभी आज अत्रि-आश्रममें एकत्र हैं और उनके एकत्र होनेका हेतु दूसरा कोई हो नहीं सकता। 'इस सेवक पर इतना स्नेह है आप सबका, यह जानकर कृतार्थ हुआ यह जन।'

'वत्स ! यह सत्य है कि तुम्हारे अनुग्रहसे हम वनवासी जब इच्छा करते हैं, तुम्हारा काल स्वरूप हमें अपने किसी भी पार्श्वको दृष्टिगत होनेमें बाधा नहीं देता। तुम्हारे चरणोंमें चित्त एकाग्र होने लगे, सर्वज्ञता सहज सुलभ होती हैं, क्योंकि तुमसे भिन्न 'सर्व' कोई सत्ता नहीं।' महर्षि अत्रि कह रहे थे—'किन्तु राघवेन्द्र !

सब समय सर्वज्ञता आवश्यक कहाँ होती है। सामान्य प्रज्ञा भी बहुत कुछ सूचित करनेको पर्याप्त है, यदि मनुष्य प्रमाद न करे।'

'सामान्य प्रज्ञा ?' विभीषणजीने प्रश्न किया। सबका परिचय श्रीरघुनाथने दे दिया था और महर्षिका श्रीरामके समस्त जनों पर अपार स्नेह था।

'सामान्य प्रज्ञाकी ही बात है वत्स !' महर्षिने विभीषणकी ओर सस्नेह देखा—'श्रीराम सत्यसन्ध हैं। उन्होंने अपने अनुज भरतको वचन दिया है, वनवासकी अवधि पूर्ण होते ही वे अयोध्या पहुँच जायँगे। त्रिभुवनमें कोई शक्ति नहीं जो उनके संकल्पको कुछ क्षण विलम्बित कर सके। आज बनवासके चतुर्दश वर्षका अन्तिम दिन है। अयोध्यामें, मिथिलामें ही नहीं, प्रयागमें और श्रीरामके अनुग्रह भाजन निषादराजके यहाँ भी प्रतीक्षा चल रही है, यह आप भी सहज समझ सकते हैं।'

'महर्षि भरद्वाजके यहाँ भी आपको सब एकत्र मिलेंगे।' दो क्षण रुक कर महर्षिने पुनः कहा—'कल अवध पहुँच ही जायँगे श्रीरघुनाथ, तो आज रात्रि भरद्वाजाश्रममें व्यतीत होनी चाहिये। वे तुम्हारी लङ्कामें संग्राम रत थे। हमने देखा, लौटनेके लिए अब एक ही दिवस शेष है—स्वाभाविक हमारी दृष्टिमें यह बात आ गयी कि धनाध्यक्षका पुष्पक अब तुम्हारे पास है और वह श्रीरामकी सेवासे अवश्य सार्थक बनेगा। हम सब यहाँ प्रातःकालसे प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रीअवध जानेका यही पथ है—दूसरा पथ होता तो भी इन करुणावरुणालयकी कृपाको हम जानते हैं। अत्रिके आश्रम पर आना था इन्हें।'

'वत्से !' उधर माता अनुसूया कह रही थीं श्रीजानकीसे—'मैं तुम्हें अधिक रोकना नहीं चाहूँगी। तुम निमन्त्रण दो, यह अनावश्यक है। श्रीराम मेरे पुत्र हैं—मेरी यह पुत्रवधू उनके साथ जब सिंहासन पर बैठेगी, यह कैसे हो सकता है कि अनुसूया आशीर्वाद देने उपस्थित न हो।'

'वत्स ! रघुकुलका राजतिलक महर्षि वशिष्ठके करोंसे होना है' दूसरी ओर श्रीरघुनाथसे महर्षि कह रहे थे—'किन्तु उस समय स्वस्ति पाठका सौभाग्य इतना अल्प नहीं है कि उसे हममें-से कोई छोड़ दे। अतः अब तुम प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करो।' महर्षि ही उठे पुष्पक तक श्रीरामको पहुँचाने प्रथम।

—:०:—

२६. चित्रकूट-

'हम गिरि श्रेष्ठकी प्रदक्षिणा करते चलें !' श्रीरघुनाथने स्वयं ही कहा, जब पुष्पक अत्रिआश्रमसे ऊपर उठा। 'यह गुप्त गोदावरी तो सामने ही हैं।'

'गगनसे हमें कुछ अधिक दृष्टि पड़े, इसकी कोई सम्भावना नहीं।' उत्सुक सहचरोंका मर्यादा-पुरुषोत्तमने समाधान किया—'एक निर्मल जलधारा यहाँ गिरिगह्वरके भीतरसे आती है और आगे फिर अन्तर्हित हो जाती है। चित्रकूट रहते समय हमने अनेक बार यहाँ विश्राम किया है, स्नान किया है।'

ठीक अत्रि-आश्रमके दूसरी ओर। पर्वतके उतुंग शिखरकी भित्ति मध्यमें न होती—उस शिखरके ही तो एक ओर मन्दाकिनीका उद्गम है और दूसरी ओर गुप्त गोदावरीका गुहा-स्रोत। आपको—हमको उस बीहड़ बनमें चाहे जितना घूमकर जाना पड़ता हो, पुष्पक जब अत्रि आश्रमसे गगनमें सीधे ऊपर उठा, उस विमानके नीचे ही मन्दाकिनी-उद्गम तथा गुप्त गोदावरी—दोनों दृष्ट पड़े।

'लक्ष्मण ! स्मरण है—देवराजके कुमारने यहाँ कुत्सित काकका रूप धारण करके धृष्टता की।' श्रीरघुनाथने वह प्रसंग संक्षिप्त रूपमें सबको सुना दिया।

'जयन्तके दोषसे काक-मात्र एकाक्ष हो गये उसी दिन।' कुमार लक्ष्मणने कहा—'श्रीरघुनाथके करोंमें आकर तृण भी कितना अप्रमेय हो जाता है, प्रत्यक्ष हो गया सुरोंके युवराजको।'

'बेचारा जयन्त !' श्रीजनकनन्दिनीको अब भी उस पर दया ही आरही थी। वे वात्सल्यमयी—उन्हें तो जयन्त अपने शिशुसा ही लगा था तब भी—'कितना दुःखी हो गया था वह उस समय'।

'यहाँ मन्दाकिनी तट पर माताओंके साथ तुम्हारे चरण चिन्ह भी शिलाओंके वक्षमें अमर हो गये हैं देवि !' प्रभुने संकेत किया। पुष्पक पर से नीचेके पर्याप्त दूर तकके दृश्य साथ ही देखे जा सकते थे—'कपिराज ! वह दारुण दिन—वेदनाका वह विषम प्रवाह—माताओंने यहाँ श्रीविदेह-नन्दिनीको चित्रकूट आकर देखा और अङ्कमाल दी। पाषाण तक द्रवित हो उठे उस करुणाके प्रबल पूरमें।'

'श्रीचरणोंके चिह्न भी शिलाओंने अपने ऊपर सदाके लिए अंकित कर रखे हैं।' श्रीलक्ष्मणजीने कामदगिरिकी ओर संकेत किया—'आर्य भरतजीके चरण चिह्नोंके साथ श्रीचरण चिह्न गिरिवरको वहाँ सदा धन्य करते रहेंगे।'

'भाई भरत मिले थे वहाँ मुझे !' श्रीरघुनाथ भावविभोर हो गये। भरतके स्मरणसे सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा। नेत्रोंसे अविरल धारा चलने लगी। कुछ क्षण लगे अपनेको आस्वस्त करनेमें।

'यह भरत कूप—बनमें ही मेरा अभिषेक करने आये थे वे स्नेहमय।' गद्-गद् वाणीसे श्रीरघुनाथने निर्देश किया—'महर्षि अत्रिके आदेशसे जो सम्पूर्ण तीर्थोंका जल उनके साथ आया था, वह इस कूपका निर्माण कराके इसमें उत्सर्ग हो गया।'

'भरत—भाई भरत !' श्रीरघुनाथ बार-बार विह्वल हो उठते थे—'विभीषण ! भरतके लिए आज क्षण कल्प हो गये होंगे। वे परम तापस.......'

श्रीराघवेन्द्रकी आतुरता उद्दीप्त हो उठी। चित्रकूटका दर्शन ऐसी अवस्थामें अधिक देर तक नहीं किया जा सकता था, किन्तु साथके कपिगण उत्सुक थे उस दिव्य भूमिकी एक झाँकी प्राप्त कर लेनेके लिए। अतः पुष्पकने धीरेसे एक परिक्रमा करली।

'यह श्रीरघुनाथकी कुटीर है।' कुमार लक्ष्मणलालने परिचय दिया सहचरोंको।

'पार्श्वमें वह छोटी कुटीर तब आपकी ?' सुग्रीवने पूछा और उन्हें मौन स्वीकृति मिली।

'मन्दाकिनी और पयस्विनीका यह पावन-संगम' श्रीरघुनाथ ही बोले—'यहाँ अकिञ्चन रामने अपने चक्रवर्ती पिताको इंगुदीके पिण्ड अर्पित किये।'

सबने मस्तक झुकाया स्वर्गीय महाराजके सम्मानमें और सबके नेत्र भर आये। श्रीजनक-नन्दिनीने अपना श्रीमुख अञ्चलमें अन्तर्हित कर लिया था।

'चित्रकूटमें पद-पद पर मर्म स्पर्शिनी स्मृतियाँ हैं।' श्रीराघवेन्द्र गद्-गद् स्वरमें कह रहे थे—'यहाँके वन्य-मानव—सरलता एव स्नेहकी वे मञ्जु मूर्तियाँ—मुझे तो यहाँके तरु, लताएँ, शिला-खण्ड तक अपने स्वजन लगते हैं। कितना सुख, कितनी सुविधा, कितना सत्कार दिया यहाँके पशु-पक्षियों तकने हमें।'

सब लोग भाव विभोर सुनते रहे और देखते रहे नीचे उस दिव्य भूमिको अनिमेष—धन्य चित्रकूट !

२७. महर्षि बाल्मीकि—

'हम आदि कविके दर्शन करेंगे !' मर्यादा पुरुषोत्तमने सहचरोंकी ओर देखा। पुष्पक चित्रकूटकी एक परिक्रमा करके उतर पड़ा पृथ्वी पर—'जिन्होंने अपनी लोकोत्तर तपस्यासे एक जन्ममें ही ऋषित्व अर्जन किया और लोक पितामहने जिन्हें आदि कवि कहा—जिनकी वाणी वैदिक छन्दोंके अतिरिक्त जगतको नूतन सरस संगीतमय छन्दोंके सुमनसे सुसज्ज करती है, राघव पर स्नेह है उनका।'

'महर्षिने ही सूचित किया था कि हम चित्रकूटमें आवास बनावें।' कुमार लक्ष्मणने कपिपतिको बताया—'वनके पथमें पद रखने पर आश्रम मिला था हमें महर्षिका और आर्यने उपयुक्त स्थानकी जिज्ञासा की थी।'

'महर्षि पितृ-चरणोंके मित्र हैं।' श्रीजनक-नन्दिनीने अद्भुत श्रद्धा एवं अपनत्व पूर्वक कहा—'बाल्यकालसे उनका आशीर्वाद एवं स्नेह मिला मुझे। वे प्राय: मिथिला पधारते थे। उनके समीप मुझे ऐसा अनुभव होता है, जैसे पितृ-पदोंके पास पहुँच गयी हूँ।

पुष्पकसे उतरते-उतरते यह परस्पर वार्ता पूर्ण हो, तब तक महर्षि शिष्योंके साथ आगे आते दृष्टि पड़े। श्रीरघुनाथने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया अनुजके साथ।

'अखण्ड सौभाग्यवती भव वत्से !' श्रीजानकीने जैसे ही महर्षिके चरणोंके सम्मुख मस्तक झुकाया, उन कलाके आदि गुरु, वाणीके वरद पुत्रका स्वर गद्-गद् हो उठा और नेत्र भर आये—'हव्यवाहकी ज्वालाके समान शुद्ध धरित्रीकी धैर्यमयी कन्या भी विपत्ति भागिनी बनीं—निष्ठुर है दैव !'

भगवती भागरीथीके उपकूल पर महर्षिका वह आश्रम—प्राकृतिका सौन्दर्य जैसे वहाँ उन्मुक्त हो उठा था। जैसे सम्पूर्ण प्रकृति बालिका बनी वहाँ चपल क्रीड़ा लग्ना हो गयी थी। किसलय कलित सघन वृक्ष—उत्तुंग वृक्षावली वहाँ थी ही नहीं। मध्यमें कहीं-कहीं कोई उच्च वृक्ष थे। अधिकांश तरुराजि अपनी शाखाओंसे धरित्रीको अंकमाल देती झुकी पड़ती थी। झूमती, हिलोरें लेती-सी पुष्पित वल्लरियाँ और संगीत मानों वहाँ साकार विराजमान था उस भूमिमें। कोकिलकी काकली, पुष्प गन्धिकाका सुकोमल आलाप, भ्रमरोंका गुञ्जन—कर्णकटु शब्द कदाचित इस आश्रमने सुने ही नहीं।

अलस रोमन्थन करते मृगयुग्म, केशरीके साथ क्रीड़ा करते मृग-शावक, पक्षियोंके

समूहमें भूमि पर फुदकते शशक, अद्भुत स्नेह उमड़ा पड़ता था चारों ओर और उसमें जैसे स्वर्गके देव कुमार ब्रह्मचारियोंका वेश बनाये तपस्या करने आ गये थे।

आदि कविका आश्रम—महर्षिका आश्रम था वह, अतः हव्यवाहको सुरभित आहुतियाँ मिलती थीं वहाँ। आश्रमके तरु-पल्लव यज्ञ धूमसे वहाँ भी धूसर थे। वहाँ भी यत्र-तत्र वल्कल शाखाओं पर सूख रहे थे एवं उटजांगणमें वहाँ भी नीवार राशि सूखनेको पड़ी थी, किन्तु कलागुरुका आश्रम था वह—मृगचर्मके पार्श्वमें वहाँ कमण्डलु था तो वीणा भी थी। वेदिका पर कुश थे तो तूलिका एवं चित्र फलक भी भूर्जपत्र वर्णाङ्कनके साथ रेखाङ्कनसे भी भूषित थे।

स्वयं महर्षि—प्रलम्ब गौर शरीर, रजत केश स्कन्धों तक फैले, भव्यभाल, दीर्घ दृग. विशाल बाहु—सम्पूर्ण आकृतिमें एक विचित्र गाम्भीर्य, धैर्य तथा मोहक भाव। भगवान चन्द्रमौलि यदि त्रिनयन, भूत-भूषण, नीलकण्ठ न होते—कदाचित उनकी यह दूसरी मूर्ति।

समस्त कपिदल—विभीषणके साथ शान्त खड़ा था। नित्य गुंजित होनेवाला सामगान विरमित हो गया था और भ्रमर तकने मौन धारण कर लिया था। अद्भुत शान्ति किन्तु सुकोमल, हृदयको रसप्लावित करती वह शान्ति—वह नीरवता ही जैसे सब कुछ कहे देती थी। जैसे सम्पूर्ण संगीत उस मौनमें मूर्त हो गया था।

'आपको आशीर्वाद सदा रामका रक्षक रहा!' श्रद्धा-भरित स्वर था मर्यादा-पुरुषोत्तमका—'वन वरदान बना आपकी अनुकम्पासे।'

'अब जगती अनुग्रहीत हो। अयोध्याका सिंहासन विश्वको धर्म, मर्यादा एवं सौष्ठवका आलोक प्रदान करे।' आदि-कविकी वाणी जैसे अन्तर्द्रष्टाकी वाणी थी—'त्रिलोकी अपने आचरणके लिए आदर्शकी आकांक्षा करती है और उसे श्रीरामके अतिरिक्त कोई आकृति देनेमें समर्थ नहीं।'

'अयोध्याके सिंहासनने सदासे एक ही बात सीखी है।' मर्यादा पुरुषोत्तमका मेघ-गम्भीर स्वर गूँज रहा था—'महर्षियोंके, विप्रवर्गके आदेश अविलम्ब स्वीकार किये जायँ।'

'वत्स! मैं प्रसन्न हुआ. तुम पधारे, किन्तु' महर्षिने शीघ्र ही अपने भावावेशको संयत कर लिया—'मैं तो तुम्हारे अभिषेकके समय उपस्थित होता ही। मुझे कहाँ अयोध्याके आमन्त्रणकी आवश्यकता होती है। मुझे तुम्हारे अनुजकी चिन्ता है। नन्दिग्रामका वह महातापस—हममें कोई भरतकी समता कर नहीं सकता। तुम शीघ्रता करो वत्स!'

प्रभुके साथ सबने प्रणिपात किया। महर्षिने अंकमालदी।

—×—

२८. अयोध्या की झाँकी—

'तीर्थराज प्रयाग !' श्रीरघुनाथने कहा और अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया। श्रीजानकीने तथा सभीने तीर्थराजको प्रणाम किया।

'पुष्पक उतरा तो नहीं। विमान तो आगे चल पड़ा है।' श्रीजानकीने कुछ कहा नहीं; किन्तु उनके दृगोंमें एक प्रश्न आ गया—'प्रभु क्या अभी इसी समय अयोध्या चल रहे हैं ?'

'अयोध्या !' स्मृतिके साथ शरीर पुलकित हो उठा। 'कैसी होंगी वे तीनों ही पूजनीया, कैसे उमंग भरे आवेंगे नन्दिग्रामके तपस्वी देवर और छोटे कुमार—शील, संकोच एवं शौर्यकी वे मूर्ति !' स्मृतियोंका प्रवाह चल पड़ा। सहेलियाँ, सेविकाएँ, अपने पक्षी—पता नहीं कितनी स्मृतियाँ थीं। अयोध्या—कैसी होगी वह अयोध्या अब ?

'विमान आगे जा रहा है' कुमार लक्ष्मणलालने भी देखा—प्रभु आज तो अवध जा नहीं रहे हैं ! कोई प्रेमाकुल प्राण कहीं अन्यत्र भी आवाहन तो नहीं कर रहा ?' उन जीवोंके परमाचार्यका ध्यान अपने उपयुक्त विषयकी ओर गया। एकबार उन्हें शृंगबेर-पुरका भी स्मरण हुआ—'कदाचित प्रभु रात्रि-विश्राम वहाँ करें; किन्तु यदि ऐसा होता तो वे अवश्य महर्षि भरद्वाजके दर्शन करते आते।'

'हम सम्भवतः अयोध्या चल रहे हैं।' प्रायः सबके मनमें यह बात आयी और सबकी दृष्टि वातायनसे विमानके अग्रिम लक्ष्यकी ओर लग गयी !

'वह दिव्य पुरी' विभीषणजीने कुछ देखा और चौंके—'लंका स्वर्णपुरी है, अमरावती भी मैंने देखी है और भगवान ब्रह्माके लोकका वर्णन भी सुना है। यह दिव्य-देश। मणि-कलशोंका यह दिशाओंको उद्भासित करता प्रकाश। निखिल ब्रह्माण्ड-नायक जब धरा पर पधारे—उनका दिव्य धाम कैसे दूर रह सकता था।' स्वतः अञ्जलि बँध गयी, मस्तक झुक गया।

'हनुमान ! कहाँ जा रहे हैं हम ?' कपिपति सुग्रीवने समीप बैठे श्रीपवनकुमारके कानोंके पास मुखकर लिया था और अत्यन्त मन्द स्वरमें कह रहे थे—'आगे वह कोई तेजोमय पुरी है; किन्तु उस पर दृष्टि पड़ते ही पता नहीं कैसी अद्भुत अवस्था हो गयी है मेरे हृदयकी। ऐसी शांति, ऐसा आल्हाद, इतना आलोक अन्तरमें उमड़ भी सकता

है, मैंने कभी अनुमान भी नहीं किया था। समाधिमें महर्षिगण जिस ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हैं—कोई क्यों काननमें तपका कष्ट उठाता है, जब यह पुरी धरा पर है और उसे दूरसे देखलेना मात्र अन्तरके समस्त कलुषोंको ध्वस्त करनेके लिए पर्याप्त है। कौन-सा दिव्य धाम है यह ?'

'अयोध्या है हमारे सम्मुख !' गद्-गद् कण्ठ हो रहा था श्रीपवन कुमारका। वे केवल इतना ही कह सके।

'इस धन्य धराका प्रभाव अकल्पनीय है। तब भी अकल्पनीय था' जब त्रेताका प्रारम्भ भी नहीं हुआ था।' अत्यन्त समीप होनेके कारण रीछपति जाम्बवन्तजीने सुग्रीवके शब्द सुन लिये थे। वे सतयुगके साक्षी परम वृद्ध कह रहे थे—'और अब तो उसके अधीश्वर परात्पर प्रभु स्वयं वहाँ उपस्थित होकर उसका उल्लास वर्धित करेंगे। वह अब श्रीराघवेन्द्रकी जन्म भूमि है।'

'यह सौष्ठव, यह सौन्दर्य यह कलाका कमनीय वैभव !' नल-नीलका आश्चर्य दूसरे प्रकारका था—'अभी पर्याप्त दूर है पुरीसे विमान और इतनी दूरी से भी कोई नगरी इतनी भव्य लग सकती है। मणियोंका इतना भव्य विन्यास शिखर भाग एवं बाह्य भित्तियोंमें कि उनके प्रकाशने अपने ऊपरके गगनको अद्भुत उद्यान बना दिया है—पुष्पपूरित दिव्य उद्यान !'

'अयोध्या ! अपनी जन्म भूमि लक्ष्मण !' श्रीरघुनाथका स्वर इतना गद्-गद् हो रहा था कि शब्द अत्यन्त अस्पष्ट रह गये। सम्पूर्ण शरीर पुलक पूरित हो उठा था। कमलदल विशाल लोचन वहींसे अर्घ्य अर्पित कर रहे थे श्रीअवधको और अञ्जलि बँध चुकी थी। मस्तक झुकाकर प्रभु मातृभूमिको प्रणाम कर रहे थे।

कुमार लक्ष्मण लालकी अवस्था भी वैसी ही थी और जब उन्होंने अभिवादनके अनन्तर मस्तक उठाया, श्रीजानकीके पल्लव कर जुड़े थे और वे अब तक नतशिर थीं। उनके दृगोंने उनके वस्त्रोंका एक भाग आर्द्र कर दिया था।

सहसा विमान पीछे लौट चला। कोई एक शब्द नहीं बोला। बोलनेकी स्थितिमें कोई नहीं था; किन्तु श्रीरघुनाथको अभी इस समय अवध नहीं जाना था। अब भी वनवासकी अवधि एक रात्रि अवशिष्ट थी और वह रात्रि उन्हें प्रयागमें व्यतीत करनी थी।

●

२६. त्रिवेणी स्नान--

पुष्पक लौटा और गंगा-यमुना के मध्य तीर्थराज प्रयागकी पावन पुलिन भूमि पर त्रिवेणी-संगमके समीप उतर गया। जाह्नवी तथा कालिन्दीके हिलोर कर जिसे पावसमें प्रति वर्ष प्रक्षालित करके निर्मल कर दिया करते हैं—पुष्पकको उस सुकोमल बालुका पर उतरनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। वह जैसे कोई रुईका विशाल खण्ड आ गया हो उड़ता हुआ, इस प्रकार उतर गया। रेतका कोई गुब्बार नहीं उठा वहाँ।

'कोई विमान उतरा!' तीर्थराजके गंगापुत्रोंके समुदायमें एक आकर्षण उत्पन्न हुआ—'कौन हो सकता है?' कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई दौड़-धूप करनेकी। ब्राह्मण सदासे सन्तोषी रहा है और तीर्थ-पुरोहित ब्राह्मण—आजकी बात छोड़िये। आज जब मानव श्रद्धा कंगाल होगया है—तीर्थ-पुहिरोत क्या करें, वे तीर्थयात्रीकी श्रद्धा पर ही तो निर्भर हैं, किन्तु जब समाज श्रद्धाका धनी था—तीर्थ-पुरोहित कंगाल कैसे हो सकता था।

'कोई देवता-गन्धर्व? विमान तो दशग्रीवके पास भी है। तीर्थ-पुरोहितोंमें परस्पर संक्षिप्त चर्चा हुई—'सम्भव है पर्याप्त अधिक आर्थिक व्यवस्था तथा सामग्री संग्रह आवश्यक हो सकता है।' पैदल यात्राका युग था—कोई सम्राट भी ऐसी यात्रामें कितनी सामग्री साथ ले जा सकता है? तीर्थमें उदारता पूर्वक प्रत्येक यात्री दान-दक्षिणा देता ही है। नरेशोंके आगमन पर विशेष अनुष्ठान, यज्ञादि भी होते हैं। सम्पूर्ण व्यय एवं सामग्रीका प्रबन्ध तीर्थ-पुरोहित कर दिया करते थे। उस तीर्थसे आगेके लिए यात्रा जहाँ तकके लिए भी यात्री आवश्यकता माने वहाँ तकके लिए मार्ग-दर्शक तथा यात्रा व्यय भी वे दे देते थे और यह सब धन यात्री लौटकर सुविधापूर्वक—जी हाँ, दो, चार दस वर्षमें भी भेज दे, कोई आपत्ति, कोई चिन्ताकी बात नहीं थी। कुछ करोड़ स्वर्ण मुद्राओंकी व्यवस्था अर्थ-दृष्टिसे लघु तीर्थ-पुरोहित भी अपने पाससे सुगमतासे कर देता था, किन्तु जब कोई विमानसे आया है—सम्भव है, वह जिसका यजमान हो, उसे अपने अन्य एकाधिक सहयोगियोंकी सहायता अपेक्षित हो इस यजमानके तीर्थ-कृत्य सम्पन्न करानेमें।

'श्रीराम—दाशरथि श्रीराम वनसे लौट रहे हैं!' श्रीरघुनाथ पुष्पकसे उतरे और तीर्थ-पुरोहितोंका समुदाय सम्भ्रम पूर्वक खड़ा हो गया। वे सबके सब बढ़े विमानकी ओर। जिन्हें सम्पन्न यजमानकी सम्भावना किंचत विचलित नहीं कर सकी थी, श्रीरघुनाथके प्रेमने उन्हें विह्वल बना दिया था।

'राम वनवासी है ! अकिञ्चन है यह जन !' अयोध्यासे वनकी ओर जाते समय भी प्रभु पधारे थे प्रयाग और त्रिवेणी तट पर तीर्थ-पुरोहित उस समय भी मिले ही थे ।

'आप पधारे, धन्य होगये हम । जल भर आया था अयोध्या सम्राटके तीर्थ-पुरोहितके नेत्रोंमें—'इस जनने अथवा इसके पूर्वपुरुषोंने कोई व्यवसाय कभी नहीं किया । अयोध्याके अधीशका एक कोषागार है इस सेवकके समीप—आपके आदेश मात्रकी अपेक्षा है ।

'पितृ चरणोंने आदेश दिया है—चौदह वर्ष राम वनवासी जीवन व्यतीत करेगा ।' श्रीरघुनाथने समझाया—'वनवासी जैसे ही तो तीर्थ-कृत्य होंगे उसके ।'

'अनेक बार सिंहासन त्याग कर वानप्रस्थाश्रममें प्रविष्ट राजदम्पति पधारते हैं !' तीर्थपुरोहितका स्वर गद्गद् था—'हम धन्य होते हैं धनसे नहीं—उनकी भावभरी प्रणतिसे । किन्तु आज जिनको सिंहासनासीन होना था—उनका कोई सत्कार कर सकें हम, ऐसी अनुमति भी हमें मिल नहीं रही है ।'

'चौदह वर्ष अधिक तो नहीं होते' तब श्रीरघुनाथने कहा था—'हम लौटेंगे और सविधि तीर्थकृत्य आपके निर्देशमें सम्पन्न करके कृतार्थ बनेंगे ।' आज वह अवसर आ गया था । मुख्य तीर्थ पुरोहित उमंग पूर्वक अवध नरेशके आगे बढ़े और प्रणिपात किया उन्हें श्रीरघुनाथने सानुज ।

'हम सब साथ ही स्नान-पूजनादि करेंगे !' मर्यादा-पुरुषोत्तमने सरलतासे स्थानीय समस्या सुलझा दी—'मेरे इन मित्रोंमें जिनके जो तीर्थपुरोहित हैं, वे आपके साथ रहेंगे ।' तीर्थपुरोहित तो किष्किन्धा, लङ्का आदि सभीके थे वहाँ ; किन्तु उनके यजमानोंको जैसे सुविधा हो, उन्हें भी उसीमें प्रसन्नता थी ।

'सायंकाल होनेको आ रहा है ।' मुख्य तीर्थपुरोहितने सूचित किया—'आप स्नान करलें तथा संक्षिप्त तीर्थकृत्य !'

'हम अब भी प्रवासी ही हैं । तीर्थयात्री नहीं हैं विधिपूर्वक ।' श्रीरघुनाथने कल प्रातः ही प्रस्थानकी सूचना दे दी ।

गंगा-यमुनाकी धवल-श्यामल तरंगें जहाँ अङ्कमाल देती हैं श्रीरघुनाथने श्रीवैदेहीके साथ—एक साथ वहाँ डुबकी लगायी । श्रीलक्ष्मणजी तथा साथके सभी कपि-नायकोंने स्नान किया । त्रिवेणी माधवका पूजन तथा विप्रों को, तीर्थपुरोहितोंको नाना प्रकारके दानका सङ्कल्प किया मर्यादा-पुरषोत्तमने । *

---

* पुनि प्रभु आइ त्रिवेनीं हरषित मज्जनु कीन्ह ।
कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिधि बिधि दीन्ह ।।

रा. च. मा. सं. १२०

३०. सन्देश—

स्नान-पूजन समाप्त हुआ और श्रीरघुनाथने पवनकुमारको एक ओर बुलाया। पवनकुमारको—क्योंकि उनके लिए अयोध्या अपरिचित नहीं थी और श्रीरामदूतका कार्य दूसरा कोई कर भी कैसे सकता था। यह तो उनका ही कार्य है।

'आञ्जनेय ! अयोध्या चले जाओ तुम अभी।' श्रीरघुनाथने आदेश दिया—'रात्रि शयनसे पूर्व बड़ी सरलतासे भरद्वाज-आश्रममें तुम मेरे पास लौट आ सकते हो।'

'जैसी प्रभुकी आज्ञा !' हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाया श्रीहनुमानजीने।

लेकिन इस रूपमें तो जाना ठीक होगा नहीं।' सहसा स्मरण आया इन आञ्जनेयका वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण स्वरूप जिसमें ऋष्यमूकके समीप प्रथम बार ये मिले थे। 'इस रूपमें अयोध्याके लोगोंने तुम्हें देखा है—पहिचाना है। तत्काल सम्पूर्ण पुरवासी एकत्र हो जायँगे और प्रत्येकका प्रेम इतना असीम है—उनके प्रश्नोंकी उपेक्षा अत्यन्त अकरुण अन्तर भी नहीं कर सकता। पूरी रात्रि वहीं अपर्याप्त हो रहेगी जहाँ कोई प्रथम अवधवासीकी दृष्टिमें आये। अतः ब्रह्मचारी ब्राह्मणके रूपमें जाना ठीक होगा और वह अभ्यस्त वेश है तुम्हारा।'

'हनुमान छद्मवेशमें अयोध्या जायँगे !' कुछ कपिनायकोंके मनमें एक सन्देह उठा—'वहाँकी अवस्थाका पता तो लगा ही लेना चाहिये। राजनीतिकी गति सरल कहाँ होती है।' श्रीरघुनाथको अपने अनुगतोंसे कुछ रहस्य रखना नहीं था। उत्सुकता वश कपिनायक प्रायः समीप आ गये थे।

'भाई भरतको हम सबका कुशल समाचार देना !' अब कण्ठ गद्-गद् हो गया। 'वे अत्यन्त व्याकुल होंगे। आजकी रात्रि भी उनकी उसी व्याकुलतामें व्यतीत हो—आजकी यह रात्रि अत्यन्त दारुण रात्रि बन जायगी। मुझे विश्वास है, महर्षि भरद्वाजके आश्रम तक अयोध्याके राजसेवक हमारा समाचार लेनेको प्रतिक्षण उत्सुक होंगे और अयोध्याके प्राण इसे सुननेको श्रवणोंमें ही समाहित होंगे।'

कपिनायकोंने एक दूसरेकी ओर देखा। किसीने कुछ कहा नहीं। सम्भव है किसीके चित्तमें आया हो—'तब अयोध्या अपनेमें-से किसीको भेजना क्यों आवश्यक है ?' 'हनुमान ! अभी कितने दिन हुए हैं जब तुम सञ्जीवनीके लिए लंकाकी रणस्थलीसे उत्तराखण्ड गये थे और द्रोणाचल लिये अयोध्या परसे उड़ते हुए वहाँ उतरनेको विवश हुए थे।' श्रीरघुनाथ उसी प्रकार कहते रहे—'भाई भरतको निश्चिन्त कर दो जाकर। जनककुमारी और लक्ष्मण लालका कुशल सम्वाद दो उन्हें !'

'महर्षि वशिष्ठ सर्वज्ञ हैं ।' कुछ लोगोंने सोचा—'अतः अभी युद्ध ही चल रहा होगा, अथवा श्रीराघवेन्द्र यह दीर्घ मार्ग इतने अल्पकालमें पार नहीं कर सकेंगे, अयोध्याकी इन आशंकाओंका निराकरण अवश्य वहाँ हो चुका होगा ।'

'मुख्य बात पवन कुमार !' श्रीराघवेन्द्रने शिथिल स्वरमें नेत्र मार्जित करते हुए कहा—'भाई भरतने प्रतिज्ञा कर रखी है, अवधि समाप्त होते ही मैं अवध न आया, उनके प्राण प्रतीक्षा नहीं करेंगे। उनका समाचार ले आओ शीघ्रता पूर्वक । वे यदि किसी प्रकार कल मध्यांह्न तक प्रतीक्षा करलें—विदेह राजकुमारीने शृंगबेरपुरमें भगवती भागीरथीके पूजनका वचन दिया है वन आते समय । हम अपने सखा निषाद-राजसे मिल लेंगे ; किन्तु यदि भरतका आग्रह हो—पुष्पक भगवान भास्करकी प्रथम किरणके साथ अयोध्याकी पृथ्वी पर उतरेगा ।'

सन्देह करनेवालोंको ग्लानि हुई अपने आप पर । इस प्रेमके अकूल पारावारमें सन्देह ! राजनीतिका *प्रवेश कहाँ श्रीराम और भरतके प्रेममें । वह विचारी तो छाया तक छू नहीं सकी । यहाँ तो सर्वथा भिन्न स्थिति है ।

सूर्योदयके प्रथम क्षणमें या एक प्रहर पश्चात्—किन्तु जहाँ भरतसे प्रेममूर्तिके जीवनका प्रश्न है—एक क्षण भी कहाँ कम मूल्यवान है । अयोध्याके चर समाचार लेने आ चुके होंगे, इस अनुमान पर ही तो यह प्रश्न नहीं टाल दिया जा सकता और चर, उनके अश्व–पवनकुमारके वेगको तो पुष्पक भी नहीं पहुँच पाता, अश्व अन्ततः अश्व ही तो है । उनमें वह क्षीरोदधिके मन्थनसे निकला दिव्य अश्व भी हो—क्या अन्तर पड़ता है ।

'भाई भरतका समाचार लेकर तुम शीघ्र लौट आओ !' सन्देश समाप्त करते प्रभुने कहा—'महर्षिके आश्रममें मेरे प्राण प्रतीक्षा करते रहेंगे ।' श्रीराघवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पवन पुत्र आकाशमें उठे और क्षणार्धमें क्षितिजके पार अदृश्य हो गये ।

---

* प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई । धरि बटु रूप अवध पुर जाई ॥
भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु । समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ॥
तुरत पवन सुत गवनत भयऊ ।' —श्री रा. च. मा. लङ्का. १२०. १-३

३१. भरद्वाजाश्रम–

'श्रीरघुनाथ आगये हैं !' महर्षि भरद्वाजके आश्रममें समाचार तभी पहुँच गया, जब पुष्पक त्रिवेणी तट पर उतरा। नित्य स्वच्छ, नित्य शुचि, नित्य मङ्गलपूर्ण महर्षिका आश्रम—किन्तु प्राण जिनके दर्शनकी उत्कण्ठा जन्म-जन्मसे पालित करते आये वे अतिथि बनकर आ रहे थे। स्वयं महर्षि स्फूर्तिमय हो उठे थे और अन्तेवासियोंको तो आदेश देनेकी आवश्यकता थी ही नहीं।

'वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और आजकी रात्रि भी वनवासके अवधिके अन्तर्गत ही आती है।' ससैन्य भरतलाल चित्रकूट जाते समय इस आश्रममें आये थे और महर्षिके संकल्प मात्रने अयोध्याके समाजके स्वागतमें जो वैभव प्रस्तुत किया था, सुरोंके लिए भी वह कल्पनासे परे था। अयोध्यावासी भी चकित रह गये थे, किन्तु आज वह सम्भार औचित्यकी सीमामें नहीं आवेगा। 'परम सम्मान्य गुरुवर याज्ञवल्क्य जब पधारते हैं……।' आजका आतिथ्य एक वनवासीको शोभित हो सके उससे आगे तो नहीं जाना चाहिये।

हव्यवाहने विशेष आहुतियाँ प्राप्त कीं। आश्रमके उटज कक्ष पुष्पमाल्योंसे अलंकृत हुए। मञ्जरीयुक्त तुलसीकी सज्जाने भित्तियोंको भूषित तो किया ही, सौरभपूर्ण कर दिया। पुष्प-पल्लवोंके तोरण—लेकिन महर्षिके आश्रमके तरु-लताओंमें जड़ता होगी, यह सोचनेका जड़त्व तो आपमें नहीं होना चाहिये। वे जैसे आपाद स्वतः सज्जित हो उठे। नव किसलय, पुष्प गुच्छ, फल-विन्यास, कोई कला-कुशल-कर उन्हें सज्जित करता अत्यन्त सावधानीसे इससे उत्तम सज्जा कर पाता ?

स्वस्ति पाठ और साम गान तो शुक-सारिकाओंने प्रारम्भ भी कर दिया और कोकिलकी काकली तथा भ्रमरोंके गुञ्जनने उसे साङ्गता प्रदान की। मयूर, मृग तथा दूसरे पशुओंका आनन्द नृत्य—प्राणप्रिय अतिथिके आगमनका आनन्दपूर उमड़ पड़ा था आश्रममें।

'श्रीरघुनाथके साथ उनके अनुगत हैं !' कुछ देरमें ही पूरा समाचार आ गया—'लंकाके वर्तमान अधिपति विभीषण, किष्किन्धाके स्वामी युवराजके साथ, रीछपति जाम्बवन्त तथा वानर प्रमुख……।' आश्रममें प्रत्येकके सत्कार एवं सुविधाकी उपयुक्त व्यवस्था तत्काल सम्पन्न हो गयी।

शंखोंका दिगन्त व्यापक मंगल निनाद, सस्वर स्वस्ति पाठ करते मुनियों एवं ब्रह्मचारियोंका समुदाय करोंमें दूर्वा, पुष्पादि लिये—महर्षि भरद्वाज स्वयं अग्रणी थे इस समूहके। आश्रमद्वारसे आगे आकर स्वागत किया इस समूहने।

त्रिवेणी तटसे श्रीरघुनाथ अनुज, अनुगतादिके साथ पैदल आये आश्रम तक। जिस भूमिमें प्रत्येक पादक्षेप अतिशय पुण्यप्रद स्वीकार किया गया है वहाँ वाहनकी आवश्यकता कैसे समझी जा सकती थी।

श्रीराघवेन्द्रने प्रणिपात किया अपने सम्पूर्ण सहचरोंके साथ। महर्षिने उठाकर हृदयसे लगा लिया। सभी वानर-यूथपोंके मस्तक पावन हुए महर्षिकी चरणरजसे और महर्षिकी अङ्कमाल श्रीरामके सेवकोंको दुर्लभ कहाँ रह सकती थी।

'आप सब इस अरण्यवासीका आतिथ्य स्वीकार करनेकी कृपा करें।' महर्षिने जब अर्घ्य उठाया और श्रीराम, लक्ष्मणको अर्पित करके ही रुके नहीं, बड़े संकोचकी अवस्था आगयी; किन्तु अतिथि पूज्य होता है, इसे कोई कैसे अस्वीकार कर देता।

'आपकी ओरसे अन्तेवासीगण यह सत्कार सम्पन्न कर देंगे।' मर्यादा पुरुषोत्तमने अनुरोध किया। एक मार्ग निकल आया और अतिथियोंको जिसमें प्रसन्नता हो, महर्षिने भी उसे स्वीकार कर लिया।

'श्रीचरणोंकी अनुकम्पा काननमें सदा रामके साथ रही।' सत्कार सम्पन्न हो जाने पर श्रीरघुनाथने कहा—'आज उसीकी रक्षिका-शक्ति हमें यहाँ ले आयी है एवं मेरे इन अकारण निःस्वार्थ सुहृदोंकी सहायता।'

'जो अपना नित्य धाम छोड़ कर श्रुति, सुर एवं हम भूसुरों पर कृपा करके धरा पर पधारे' महर्षिका कण्ठ-स्वर स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। वे प्रेम-विह्वल थे—'अयोध्याका सिंहासन त्याग कर वे अपनी उसी अनुकम्पासे विवश वनोंमें भटकते रहे और अपने श्रीचरणोंसे उन्होंने दक्षिणारण्य हम तापसोंके लिए सर्वथा निष्कण्टक कर दिया।'

परस्परका वह सीमातीत प्रेम—वह संलाप उस प्रेमका अत्यल्प प्राकट्य था जो अन्तर में उमड़ रहा था। महर्षिने भरतलालकी भ्रातृ-भक्तिको, उनके भावकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसने भावमयको विभोर बना दिया।

३२. पवन कुमार आये—

'आये पवन कुमार !' श्रीरघुनाथ हर्षसे उठ खड़े हुए। रात्रिके प्रथम प्रहरके व्यतीत होनेसे पूर्व ही वे आजायँगे, ऐसी सम्भावना तो थी ; किन्तु उनको देखकर जो उल्लास आया, अपने सम्मुख प्रणत होते हनुमानको उन्होंने हृदयसे लगा लिया।

'मैंने जो व्याकुल दशा देखी श्रीभरतलालकी, वाणी उसका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं।' गद्‌गद् स्वर, रोम-रोम पुलकित और नेत्र निर्झर बने थे उस अवस्थाको स्मरण करके ही—'पल युगके समान व्यतीत हो रहे थे। वह श्रीमुख क्षण-क्षण कान्तिहीन हो उठता था। लगता था, अगला पल इस भुवनको भासित करनेवाले प्रदीपको रख सकेगा या नहीं।'

श्रीरघुनाथके प्राण श्रवणोंमें आगये थे। वे कुछ पूछ सकें, कुछ कह सकें इसमें समर्थ नहीं थे। सर्वाङ्ग जैसे अभी द्रवित हो जायगा।

'कोई समाचार, शत्रुघ्न !' क्षण-क्षण उनकी दृष्टि उटज-द्वारकी ओर जाती थी। छोटे कुमार स्वयं थोड़े-थोड़े अन्तरसे आते थे। उनके अश्वकी पाद ध्वनि सुनकर आलोक आ जाता था आशासे श्रीमुख पर ; किन्तु तत्काल एक दीर्घ श्वास—'ये अधम प्राण इस योग्य नहीं कि ऐसा सुसम्वाद पानेका सौभाग्य प्राप्त कर सकें।'

'अभी तक चरोंको कोई समाचार नहीं मिला आर्य !' कितनी वेदना निहित थी इन शब्दोंके उच्चारणमें, छोटे कुमारके श्रीमुखको देखे बिना कोई समझ नहीं सकता।

'केवल दो क्षण मैं यह सब देख सका।' श्रीपवनकुमारने किसी प्रकार कहा—'अपनेको अधिक रोकना मेरी शक्तिमें रह नहीं गया था। जैसे ही मैं उजटमें प्रविष्ट हुआ, वे परम सम्मान्य आतुरता पूर्वक उठे। एक अपरिचित ब्रह्मचारी ब्राह्मण—आशा हो गयी सम्भवत: और·······'

'हनुमान ! तुमसे जो कोई कभी आशा करेगा।' मर्यादा पुरुषोत्तमने वरदान दिया—'उसे कभी निराश नहीं होना पड़ेगा।'

'किसी मरणासन्न प्राणीमें जीवनका अपार प्रवाह अकस्मात फूट पड़े हमने ऐसा देखा नहीं है।' श्रीपवनकुमार उसी विह्वल स्वरमें कह रहे थे—'मेरे मुखसे गिने चुने शब्द निकले थे कि प्रभु अनुज एवं श्रीवैदेहीके साथ सकुशल आ रहे हैं। श्रीभरतलालमें जैसे जीवनका अनन्त स्रोत उबल पड़ा। इतना उत्साह—उसके अतिरेकमें वे दो क्षण मौन रह गये।'

'आप केवल आश्वासन तो नहीं दे रहे ब्रह्मन् !' सहसा विश्वास नहीं हो रहा था उन्हें—'कहाँ सुना आपने यह सुसम्वाद ।'

'जब मैंने अपना परिचय दिया' श्रीहनुमानजी सुनाते रहे और तल्लीन सुनते रहे श्रीराघवेन्द्र ।

'वत्स !' महर्षि भरद्वाजने रात्रिके द्वितीय प्रहरको भी समाप्त होते देखकर बाधा दी—'अब भी तुम्हारा श्रीअङ्ग समर-श्रान्त है। पुत्री वैदेहीको विश्रामकी आवश्यकता है। वानरेन्द्र वर्गको भी कल अयोध्यामें स्वागत समारोहमें व्यस्त रहना है।'

महर्षिने इस बार कन्द-मूलादि ग्रहणका अधिक आग्रह नहीं किया था। सब लोग तीर्थराजमें यह रात्रि उपवास करके व्यतीत करनेको उत्सुक थे और इस पवित्र संकल्पमें बाधा देना अनावश्यक था ; क्योंकि यह तो तपस्याकी अन्तिम रात्रि है। व्रतका पारण अवधमें हो, इसमें महर्षिको कोई आपत्ति नहीं थी ; किन्तु सब लोग रात्रि-जागरण करते रहें, यह सुखप्रद नहीं होगा। कल अयोध्याके उल्लासमें भी इन्हें विश्राम पर्याप्त विलम्बसे ही प्राप्त हो सकता है।

'श्रीचरणों का आदेश अनुलंघनीय है।' मर्यादा-पुरुषोत्तम उठे। उन्होंने सबको विश्राम करनेका आदेश दिया। महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके वे स्वयं अग्न्यगारमें अपने लिये निश्चित वेदिका पर पहुँच गये श्रीजानकीके साथ और कुमार लक्ष्मणलालने धनुष पर जा चढ़ायी।

'वत्स ! तुम आज भी विश्राम नहीं करोगे ?' चौदह वर्ष जो सतर्क प्रहरी रहे हैं, उन्हें आज भी वीरासन स्थित देखकर महर्षिके नेत्र भर आये—'यह आज आवश्यक तो नहीं है।'

'लक्ष्मणकी धन्य रात्रियोंमेंसे यह अन्तिम है देव !' उन सुमित्रा-नन्दनने मस्तक झुकाया—'प्रमाद एवं निद्रामें तो जीवनकी रात्रियाँ व्यतीत होनी ही हैं। सेवाका यह सौभाग्य···।'

'धन्य हो तुम वत्स ! तुम्हारा दर्शन पाकर यह वृद्ध भी धन्य है !' अधिक संकोच न हो, इसलिए महर्षि अपने आसन पर चले गये। निद्रा तो न आनी थी, न आयी किसीको। इतनी उत्कण्ठा, उल्लास एवं अनुपम स्मृतियोंकी भीड़में नित्य संकोचमयी निद्रा कैसे आ सकती थी।

—:o:—

३३. शृङ्गबेरपुर—

'यहाँ भी किसी महर्षिका आश्रम है ?' विमान उतरेगा, यह अनुमान करके नलके मनमें प्रश्न उठा था। 'लेकिन यहाँ न कोई वन है, न तपोवनके लक्षण ही दीखते हैं। निषादोंका एक गाँव—बहुत बड़ा गाँव है; यह बात तो ठीक, किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम अयोध्या उतरनेसे पूर्व इस ग्राममें जाना चाहते हैं ?"

रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें भी कोई निद्रित रहे—मर्यादा पुरुषोत्तमके राज्यमें यह कल्पना ही नहीं की जा सकती थी, उनमें तथा उनके अनुगतोंमें आलस्य प्रवेश करे, उसके अधिदेव भी इतना साहस नहीं पा सकते। नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर सबने त्रिवेणी-स्नान किया, सन्ध्या-पूजन सम्पन्न हुआ, भगवान भास्करने अपनी प्रथम किरणोंके साथ अर्घ्य प्राप्त किया और महर्षि भरद्वाजके पदोंमें प्रणत होकर, अनुमति लेकर श्रीराघवेन्द्र पुष्पकमें पधारे अपने अनुगतोंके साथ। अब कुछ क्षण पश्चात् ही पुष्पक पुनः उतरने जा रहा है। यह ग्राम सुरसरिके तट पर है, किन्तु स्नानकी आवश्यकता तो है नहीं।

'मैंने जाते समय भगवती भागीरथीसे प्रार्थनाकी है' श्रीजनक-नन्दिनीने नीचे देखकर हाथ जोड़े, मस्तक झुकाया—'सकुशल लौटते समय मैं भगवतीकी पूजा करूँगी।'

'निषादराजसे मिले बिना राम अयोध्या भी तो नहीं जा सकता देवि !' श्रीरघुनाथने भी भगवती भागीरथीको विमानसे ही प्रणाम किया। वे भी नीचे ही देख रहे थे।

'निषादराज—इस ग्राममें, अयोध्याके इतने समीप कोई निषादराज रहते हैं ?' अधिकांश कपि-यूथपोंके मनमें प्रश्न आया—'वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे मिले बिना श्रीराघवेन्द्र भाई भरतलालजीसे मिलने नहीं जाना चाहते !'

'यहाँ मेरे बालमित्र निषादराज गुह निवास करते हैं !' विमान पृथ्वी पर उतरनेसे पूर्व ही मर्यादा पुरुषोत्तमने अनुगतोंकी ओर देखा—'उनका सौहार्द—उनका स्नेह इस जन पर अतुलनीय है।'

'श्रीरघुनाथजी पधारे !' एक बालक दौड़ा गया था निषादराज गुहके समीप। उसने पुष्पकको गङ्गाके इस पार ग्रामसे बाहर एक प्रशस्त स्थल पर उतरते देखा दूरसे। कोई बिमान है और वह उतर रहा है, यह देखकर बहुतसे बालक दौड़ पड़े

थे। विमानसे सर्व प्रथम जो ज्योतिर्मय दूर्वादल श्याम उतरे, उनका परिचय तो नहीं देना पड़ता। बालक विमानकी ओर जानेके स्थानमें घरोंकी ओर दौड़े पुकारते हुए— 'श्रीरघुनाथजी आये !'

'नौका—कहाँ हैं नौकाएँ ?' निषादराज आतुर हो उठे और विह्वलसे पुकारने लगे पूरे वेगसे—'अरे कौन-कौन हैं यहाँ ? दौड़ो ! शीघ्रता करो। नौकाएँ कितनी हैं घाट पर ? श्रीरघुनाथ प्रतीक्षा कर रहे हैं !'

'वे तो विमानसे आये हैं !' निषादराज इस प्रकार विह्वल पुकार रहे थे कि बालक भौचक्का देखता रहा गया दो क्षण। फिर उसने कहा—'विमान अपने ग्रामके पास ही उतरा है !'

'विमानसे आये हैं ? कहाँ हैं मेरे वे स्वामी ?' निषादराज अब अपने आपेमें नहीं। बालक फिर दौड़ पड़ा है और उसके पीछे वे बालकके समान दौड़ रहे हैं, किन्तु उन्हें मार्ग दीखता नहीं। शरीर रोमाञ्चित है। नेत्र अश्रु वर्षा कर रहे हैं, पूरा देह स्वेदसे स्नान कर चुका। वे पुकारते जा रहे हैं—'श्रीरघुनाथ आये हैं ! आओ सब दौड़ आओ ! हमारे स्वामी आगये !' कोई पास है या नहीं, कोई सुन भी रहा है या नहीं, इसका उन्हें पता कहाँ है।

'प्रभु, मेरे स्वामी !' दूरसे देखा निषादने बालकके पुकारने पर पुष्पकके समीप मर्यादा पुरुषोत्तमको श्रीजानकी तथा लक्ष्मणजीके साथ और उसके चरण रुक गये। वह सहसा खड़ा अपलक देखता रहा—देखता रहा और फिर उन्मत्तकी भाँति दौड़ा। गिर पड़ा धड़ाम्से दण्डवत करता....किन्तु भूमि पर कहाँ गिरा वह। उससे अधिक वेगसे श्रीराम दौड़े थे। जो मुनियोंके मानसमें क्षणार्धके लिए बड़ी कठिनतासे आते हैं, भगवान शंकर जिन्हें हृदयमें सावधानीसे मूर्त करते हैं, वे अस्त व्यस्त दौड़े और उनकी विशाल भुजाओंने अपने पदोंमें गिरते निषादराजको उठा लिया— दबा लिया वक्षसे और उन पद्मपलाश लोचनके नेत्र निषादके मस्तकको भिगाते चले गये।

'ये निषादराज !' सम्पूर्ण कपि-नायक समूह शान्त थकित, मूर्तिवत् देखता रहा इस मिलनको—'ये प्रेम मूर्ति ! श्रीरघुनाथ इस अकूल प्रेमसे मिलनको उत्कण्ठित हो उठे—आश्चर्य क्या। वे प्रेमके ही तो पिपासु हैं। श्रीराघवेन्द्रने कब किसीका वर्ण, विद्या, बुद्धि, तप-साधन, वैभवादि देखा है। उनकी दृष्टि एकमात्र प्रेम ही तो देखती है।'

देर तक रघुनाथजीने निषादराजको हृदयसे लगाये रखा। वहाँसे स्वयं सावधान होने पर वे पृथक हुए और कुमार लक्ष्मणने अपने पदोंमें मस्तक रखनेका प्रयत्न करते देख भुजाओंमें भर लिया फिर उनको। श्रीजनकनन्दिनीके सम्मुख भूमिमें मस्तक रखा उन्होंने। कण्ठ भर आया उन भावमयीका।

'श्रीविदेहनन्दिनीको भगवती भागीरथीका पूजन करना है यहाँ मित्र !' श्रीरघुनाथने निषादराजको अत्यन्त प्रेम-विह्वल देखकर सावधान किया।

'पधारें महारानी !' सब व्यवस्था एक क्षणमें सम्हाल ली निषादराजने—'आपके अनुग्रहसे हम निषादोंका यह अपवित्र ग्राम भी तीर्थ होगया। आप यहाँ पूजन करेंगी—युग-युग तक यहाँ पूजन चलेगा जाह्नवीका।'

पूजन किया श्रीजनकनन्दिनीने सुरसुरिका। वह उल्लासपूर्ण पूजन—वह अनुपम श्रद्धा—मकरासना भगवती भागीरथी धाराके मध्य साकार हुईं। उनका कण्ठ भी गद्-गद् गूँजा—'धन्य किया देवि आपने आज मुझे ! निखिलेश्वरी ! आपकी अर्चा पाकर गङ्गा गौरवान्वित हुई।'

पूजा समाप्त हुई। निषाद-नारियाँ प्रतीक्षा कर रही थीं—उन्हें अब पद-वन्दनका अवसर प्राप्त हुआ। अब तक पूरा निषाद ग्राम—आबालबृद्ध सब एकत्र हो गये थे वहाँ। श्रीरघुनाथने सबका प्रणिपात ग्रहण कर लिया था। कुशल-प्रश्न करके सबको सत्कृत किया था।

'आप मेरे साथ पुष्पकमें चल रहे हैं ?' राघवेन्द्रने निषादराजसे पूछा।

'श्रीभरतलाल व्याकुल हो रहे हैं। अब आप पधारें।' निषादराजने समझ लिया संकेत। प्रभुको अधिक रोकना इस समय किसी प्रकार उचित नहीं हो सकता। लेकिन वे पुष्पकमें भला क्यों जाने लगे—'यह सेवक श्रीचरणोंमें अयोध्या आकर अभिवादन करेगा।' अपने उपहार अर्पित करने निषादराज अपने लोगोंके साथ भूमिके मार्गसे जायँगे—यह निश्चित होगया।

३४. अयोध्याके आकाशमें—

'यह वही अयोध्या है ।' लगभग सभी कपिनायक चौंके । शृङ्गबेरपुरसे पुष्पकको अयोध्या पहुँचनेमें कितनी देर लगनी थी । 'अभी कल सायंकाल ही तो हमने इस पुरीके दर्शन किये थे और आज यह भव्य स्वरूप ।'

'नित्य नूतना है यह दिव्य नगरी ।' जाम्बवन्तजी कह रहे थे—'शीघ्र हम सबको इसका अनुभव हो जायगा । कोई एक प्रहर पूर्व भी देख चुका हो—उसे भी इतना ही चकित होना पड़ेगा और इस समयका यह उल्लास तो समझमें आने योग्य है ।' जो नित्य नूतन हैं, उनकी पुरी नित्य नूतना हो, इसमें अद्भुत बात क्या ।

कल भी सबने दर्शन किया था अयोध्याका । कल भी इसके वैभव एवं सौन्दर्यने सबको दिङ्मूढ़ कर दिया था ; किन्तु कलकी अयोध्या—एक प्रशान्त नगरी । वायुके पद भी जैसे कम्पित होते हों वहाँ । गवाक्ष शून्य थे, जहाँ पताकाएँ थीं, ध्वजको आलिगन दिये पड़ी थीं । राजपथ जनशून्य न होने पर भी शून्य लगते थे और पुरीके पार्श्वमें प्रवाहमान सरयूमें जैसे प्रवाह ही नहीं था । पक्षियोंके स्वर तक सुनायी नहीं पड़ते थे । अत्यन्त प्रशान्त – नीरव—प्रकृति मानो अयोध्यामें आकर बोलना—हिलना भूल गयी थी ।

वही अयोध्या – एक रात्रिमें उसका स्वरूप ही बदल चुका है । पुष्पकको मानो मेघोंमें-से चलना पड़ता है, इतना अगुरु धूम उठ रहा है नगरके गवाक्षोंसे और किन भवनोंसे वह उठ रहा है, यह देख पाना सम्भव नहीं । सम्भवतः नगरके प्रत्येक सदनके प्रत्येक गवाक्षसे ; किन्तु आज प्रत्येक भवन पर जो पताकाएँ उड़ रही हैं—हाँ उड़ रही हैं आज वे वायुमें और उनकी संख्या अपार हो गयी है । आज उनकी ओटमें भवनोंकी शिखर सज्जा दिखायी ही नहीं देती ।

भर उठे हैं राजपथ। उत्तुंग गज, वायु-चपल तुरंग, रत्नखचित रथ—इतन जनाकीर्ण राजपथ । आज तो अवधका आकाश पक्षियोंसे पूर्ण हो उठा है और नगरका सम्पूर्ण बहिर्भाग पशुओंके आनन्दोल्लासका क्रीड़ा प्राङ्गण बन गया है ।

गगन गूँज रहा है ध्वनियोंसे । वाद्य, शंखनाद, सामगान, कलगीत, जयनाद, पक्षियोंके कलरब पशुओंकी हुंकृतियाँ—शब्दोंके इस समारोहमें उनका पृथक परिचय पाया नहीं जा सकता ।

नीचे उल्लास है, व्यस्त जनपद है ; किन्तु ऊपरसे केवल धुँधली झाँकी ही प्राप्त की जा सकती है। अगुरु धूम, उड़ती अबीर—दिशाएँ उनसे रागाक्त हो उठी हैं। वही पुरीके पार्श्वका सरयू-प्रवाह—आज जैसे सरयूके अङ्कमें हिलोरें समाती ही नहीं हैं।

अयोध्यामें जैसे आज सम्पूर्ण प्रकृति साकार आनन्द नृत्य कर रही है। थिरक रहा है कण-कण एवं जन-जनका मन। पशु-पक्षी, भृङ्ग—चेतनकी चर्चा क्यों, थिरक रही हैं वल्लरियाँ, झुके झूमते हैं तरु, धरा नव श्यामल अंकुरोंसे भर उठी है।

'यह मेरी जन्म-भूमि अयोध्या है।' मर्यादा पुरुषोत्तमका स्वर अत्यन्त भाव गद्-गद् हो उठा था। वे अपने अनुगतोंकी ओर देखकर कह रहे थे—'शास्त्रोंमें 'बैकुण्ठका बहुत अधिक माहात्म्य वर्णित है ; किन्तु वह अयोध्यासे अधिक प्रिय नहीं हो सकता—मुझे तो नहीं ही है।'

'कितनी निर्मल, कितनी पावन धारा है यह पुरीके पार्श्वमें सरयूकी।' मर्यादा पुरुषोत्तम कहते जा रहे थे—'पुरीके उत्तरमें यह भुवन-पावनी धारा। सरयूमें स्नान करके फिर क्या किसीको परमपद अलभ्य रहता है। साधना यहाँ कहाँ अपेक्षित है ? सरयूका प्रवाह—वह तो स्वयं समस्त साधनोंका साकार द्रव है।'

'अयोध्याके निवासी—वे तो मेरे स्वजन हैं।' प्रभु जैसे भावलोकसे बोल रहे हों—'अयोध्यामें जो कभी रहे हैं। कभी रहेंगे, मुझे सदा लगता है, वे सब मेरे अपने ही लोग हैं। वे अत्यन्त प्रिय हैं मुझे। सदा-सदा वे मुझे अत्यन्त प्रिय रहेंगे।'

सभी लोग पुलकित श्रवण कर रहे थे। 'धन्य अवधके निवासी।' हृदय-हृदयका उद्गार—किन्तु अब नगरसे अपार समूह बाहर उमड़ पड़ा है। गगन उत्तुंग जयघोषसे अविरत गूंज रहा है। पुष्पक अब उतरने वाला है। श्रीरघुनाथ गुरु चरणोंमें प्रणत होनेको उत्सुक हो उठे हैं।*

—०—

* 'सुनु कपीस अङ्गद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥
अवधपुर सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसङ्ग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सखरासी॥'
—रा. च. मा. उ. ३. २-७

द्वितीय खण्ड

३५. कैकय-नरेश--

'कोई नहीं जानता किससे क्या प्रमाद कब हो जायगा' कैकय - नरेश महाराज अश्वजित अत्यधिक चिन्तित थे—'किसने आशाकी थी कि तुम्हारी बहिन ऐसी भयंकर भूल कर बैठेगी। रूपमालिनी※ जो अपने शैशवसे अत्यन्त उदार, मनस्विनी रही, वह अकस्मात् इतनी कृपण एवं स्वार्थपर हो जायगी !'

'मेरी भगिनी सदासे स्वाभिमानिनी रही।' युधाजितने पिताको पता नहीं कितनी बार ये बातें कही हैं—'मन्थराकी मूर्खता ; किन्तु उस कुब्जा दासीने बहिनके इस दुर्बल स्थानको लक्ष्य बना लिया और अब तो ये बीते दिनोंकी बातें हैं । अयोध्यामें अब उनसी दुखिया कोई नहीं । कठिनाई यह है कि वे अयोध्यासे यहाँ आना भी स्वीकार नहीं करतीं।'

'अपने अनुजके साथ भरत यहाँ आये।' महाराज कह रहे थे—'तुमने देखा है, अहर्निशि वे अपने अग्रज श्रीरामके ही चिन्तनमें लगे रहते थे। श्रीरामका गुणगान करते वे थकते नहीं थे। अपने पुत्रको तो उसने पहिचाना होता !'

'भरतने मातासे बोलना तक त्याग दिया है।' युधाजितके नेत्र भर आये बहिनकी व्यथाका स्मरण करके—'मुझे आशा नहीं कि वे जीवन में कभी अब माताका सम्मान कर सकेंगे।'

'रघुवंशके भूषण हैं भरत ! उन्होने जो कठोर व्रत ले रखा है—अपने यहाँ आनेवाले मुनिगण उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वह मूर्ख है—वज्रमूर्ख जो रघुवंशके कुमारोंमें भेद देखनेकी आशा करता हो।' महाराजके नेत्र भर आये—'पुत्रीकी चिन्ता मुझे नहीं है। श्रीरामने उसका उस दिन भी आदर किया, जब वह उन्हें वन भेज रही थी। वह राजमातासे कम सम्मानिता नहीं रहेगी। राम—वे शील एवं मर्यादाकी मूर्ति—उनके मनमें माता-विमाताका भेद न आया, न आ सकता।'

'आज उनके वनवासकी अवधिका अन्तिम दिवस है।' युधाजितने दो क्षण रूककर जैसे अपने आपसे कहा।

'यही बात है जो मेरे हृदयको उन्मथित कर रही है। तुम भरतका निश्चय जानते हो, श्रीराम लंकामें त्रिभुवन जयी दशग्रीवसे संग्राम-रत हैं। यह समाचार हमें अभी ही मिला है। वे विजयी तो होंगे ही—हों भी चुके हों·······कितनी दूर है अयोध्यासे लंका।' महाराजने दीर्घश्वास ली—'यदि कल सूर्यास्त तक अयोध्या वे नहीं आजाते··········।' साहस नहीं हुआ कि वह भयंकर अनर्थकी बात मुखसे कह सकें।

※ कैकेयी जी का पितृ-गृहका वास्तविक नाम

'हम विवश हैं तात !' युधाजितका स्वर अत्यन्त शिथिल था, 'कैकयकी सैन्य शक्ति लंका या अयोध्याकी तुलनामें नगण्य है ; किन्तु हमारे शूर प्राणोत्सर्ग करना जानते हैं। समाचार मिलते ही मुझे सम्पूर्ण तरुणोंके साथ प्रस्थान कर देना चाहिये था। हम वानर-रीछोंसे हीन बल नहीं थे। कुछ सहायता तो कर ही पाते श्रीरामकी, किन्तु बहिनने हमें इस योग्य भी नहीं रखा। हमारे ऊपर सभी सन्देह करते हैं। सब सोचते हैं—'युधाजितकी कूटनीति अपने भानजे भरतको सम्राट देखना चाहती थी।' हमारी सेना प्रस्थान करती—मुझे भय था कि शत्रुघ्न ही हमारा प्रतिरोध करने बढ़ आते। निषाद-राज गुह, मिथिला महाराज—वनमें सभी कोल-किरात श्रीरामके लिए प्राणार्पण करना सौभाग्य मानते हैं। हमारा कोई विश्वास नहीं करता। अपने शुभैषियोंसे संग्राम करनेकी अपेक्षा विवश बैठ रहना उत्तम था।'

'अब भी यह विवशता समाप्त कहाँ हुई है !' महाराजने नेत्र मार्जित किये—'श्रीराम सत्य सङ्कल्प हैं। वे कल अवश्य अयोध्या आ जायँगे। उनके सम्मुख धनुष उठाकर दशग्रीव दग्ध हो चुका। मेरा मन कहता है, उसकी चिताग्नि भी शान्त हो चुकी अब तक ; किन्तु अश्वजित उन अमित पराक्रम अपने आसन्न सम्राटके स्वागतके लिए तुम्हें अयोध्या भेजनेकी भी स्थितिमें नहीं। तुम पर सन्देह किया जायगा। असम्भव नहीं—भरत ही आदेश दें कि श्रीरघुनाथका राज्याभिषेक होनेसे पूर्व युधाजितको अयोध्याकी राज्य सीमामें नहीं आना चाहिए !'

'बिना हुए भी यह आदेश है, ऐसा मानकर हम चल रहे हैं।' युधाजितने अब मस्तक उठाया—'किन्तु तात ! श्रीरामके राज्याभिषेकमें युधाजित अपने उपहार अर्पित करने नहीं जायगा—अनर्थ हो जायगा ! हम पर सबको जो सन्देह है, उसे पुष्टि प्राप्त होगी कि हम उन्हें सम्राट नहीं स्वीकार करना चाहते।'

'सम्राट ! श्रीराम हमारे सम्राट हों, इससे बड़ा सौभाग्य कुछ नहीं हो सकता हमारा। हम अयोध्याके प्रजाजनोंसे कम हर्षित नहीं इस आशामें।' महाराजने कहा—'और उस समय तुम अवश्य वहाँ उपस्थित रहोगे वत्स ! श्रीराम अपने मातामह एवं मातुलको आमन्त्रित करना भूल जायँगे, कोई सम्भावना नहीं इसकी ; किन्तु कल हम उनका अयोध्यामें स्वागत करते, अपनी कन्याके प्रमादसे वञ्चित होगये इस सौभाग्यसे हम।'

चर समाचार लेने प्रथम प्रस्थान कर चुके थे अवधकी ओर और अब तो प्रतीक्षा करना था।

—:०:—

३६. दक्षिण कोसल–

आजकल जिसे हम आप छत्तीसगढ़ कहते हैं, वह दक्षिण कोसल—माता कौसल्याका पितृगृह। श्रीरामका राज्याभिषेक होना था और वे वन चले गये। कोसल-नरेशने सुना और सिर झुका लिया। एक शब्द नहीं निकला उनके मुखसे। मूर्तिकी भाँति अपने सिंहासन पर वे बैठे रह गये। उनका मुख श्वेत पड़ गया था।

'राजन्!' दूसरोंका साहस नहीं हुआ बोलनेका। कुल पुरोहितने परिस्थिति सम्हाल ली उस समय—'आप जानते हैं कि श्रीराम सामान्य राजकुमार नहीं हैं। धराका भार दूर करनेके लिए वे पधारे हैं और यह कार्य अयोध्यासे पूर्ण करना कदाचित उन्हें प्रिय नहीं होगा। भरतको आप जानते हैं और उन पर कोई सन्देह किया नहीं जा सकता।'

'मुझे चिन्ता चक्रवर्ती महाराजकी है, भरतकी है और सबसे अधिक कैकेयीकी है।' नरेशने सूखे कण्ठसे कहा था—'आप जानते हैं, मैं उसे अपनी कन्यासे कम स्नेह नहीं करता। कहींकी नहीं रही वह—भाग्यने विश्वासघात किया उसके साथ।'

कोसल-नरेशकी चिन्ता कितनी सत्य सिद्ध हुई, हम सब जानते हैं। सब कार्य इतने अकस्मात हुए कि चक्रवर्ती महाराजकी औध्वं दैहिक क्रियामें कोई सम्मिलित होने नहीं जा सका। भरतलालके चित्रकूटसे लौट आनेके पश्चात् नरेश स्वयं कई बार अयोध्या हो आये हैं।

'श्रीराम दक्षिण कोसलके पार्श्वसे ही गये!' अत्यन्त खेद हुआ था जब यह समाचार मिला। उनके मातामहके राज्यमें कम अरण्य कहाँ हैं। वनवासके चौहद वर्ष वे यहाँ किसी काननमें व्यतीत कर लेते।

अब इन बातोंकी चर्चा क्यों की जाय। पूरे चौदह वर्ष तो यही चर्चा चलती रही है यहाँ और इन्हीं चिन्ताओंमें नरेशका शरीर जीर्ण होगया है। वे प्रचण्डकाय—अब कहाँ है उनमें वह शक्ति। उनका वलीपलित, रजत केश शरीर—अपने वार्धक्यमें भी वे तरुण लगते थे और अब जैसे जरा अकस्मात् आ गयी। पूरे चौदह वर्ष—एक पल एक कल्पके समान व्यतीत हो, चौदह वर्ष कितने भारी होंगे। श्रीराम वनमें हैं और भरत नन्दिग्राममें तप कर रहे हैं। नरेशकी चिन्ताका पार नहीं और इसीमें चतुर्दश वर्ष बीत गये। आज तो अन्तिम दिन है।

'श्रीरामके लौटनेका कोई सम्वाद अभी तक नहीं आया !' दक्षिण कोसलके चर भी कुछ बता नहीं सकते थे। दक्षिणारण्यमें जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने अपने सम्वादवाहक नियुक्त कर रखे थे ; किन्तु कोई सम्वाद नहीं।

'श्रीरघुनाथ लंकामें हैं। दशग्रीवसे युद्ध चल रहा है।' अयोध्यासे यह समाचार अभी ही तो आया था ; किन्तु भरतका वह निश्चय.......!

'अयोध्या चलना चाहिए ?' आज नहीं, आजसे तीन दिन पूर्व ही यह प्रश्न उठा था राजसभामें और तभी निर्णय कर दिया था कुलगुरुने—'प्रतीक्षा करनी चाहिए ! श्रीरघुनाथके आ जाने पर हम चलेंगे। इस अवसर पर भरत अपने अग्रजका सोल्लास स्वागत करें। अयोध्यामें अतिथि होना उसमें व्याघात बनेगा !' केवल चर गया अयोध्या किन्तु हृदय—वह तो अद्‌भुत दशामें है। कभी अयोध्या और कभी वन।

'एक विमान गया आकाश मार्गसे ! विशाल ज्योतिर्मय विमान, जिसकी गतिके साथ मधुर संगीतके स्वर गूँजते थे !' सीमान्त प्रदेशसे चर सम्वाद लेकर आया—'विमान पर्याप्त नीचे होकर जा रहा था। वह दक्षिणसे आया और सीधे उत्तर गया है !'

'रावणके समीप कुबेरका पुष्पक विमान है !' अनुमान करनेमें समय नहीं लगा—'दशग्रीव पराजित हो गया समरमें तो विमान अब उसके विजेताकी सम्पत्ति स्वत: होगया।'

'श्रीराम अवश्य पुष्पकसे अयोध्या पहुंच रहे हैं !' दक्षिण कोसलमें आशाकी ज्योति आयी। नरेशने तत्काल चर अवधकी ओर दौड़ाया।

'हम चलेंगे ! अब हम अवश्य श्रीरामके दर्शन करेंगे अयोध्यामें !' नरेश आज उमंगमें आगये—'कल प्रातः प्रस्थान करेंगे हम और जब हम पहुंचेंगे, अवधके चारों कुमार एकत्र आ सकेंगे हमारे पास। अपने चारों दौहित्रोंको हम एक साथ अपने उपहार अर्पित करेंगे।'

दक्षिण कोसलमें प्रस्थानकी प्रस्तुति होने लगी। स्वयं नरेश उपहार सामग्रीको संचय करानेमें लग गये। अयोध्या—इस अवसर पर अयोध्या जानेका अमित उल्लास—वर्णनमें नहीं आ सकता।

—:o:—

३७. महाराज सुमित्र—

अयोध्या नरेश परम्परासे ही सम्राट रहे हैं और इस सौमित्र देशको—मगधको—तो गौरव है कि चक्रवर्ती सम्राट महाराज दशरथने इसकी राजकन्या स्वीकार की। श्रीरघुनाथ आ रहे हैं, आ रहे हैं वे पृथ्वीके ही नहीं, सबके हृदयोंके निर्विकल्प सम्राट और वे सुमित्रके दौहित्र हैं। क्या हुआ जो वे मेरी पुत्री गुणावती (सुमित्रा) के पुत्र नहीं हैं। कौशल्या भी तो मेरी पुत्री ही हैं। अब जो रघुकुलके कुमारोंमें कोई भेद देखे, वह वज्रमूर्ख होगा।

कैकय-नरेशकी कुमारीको पता नहीं कैसे भ्रम हो गया था। बेचारी कहींकी नहीं रही। अपने भ्रमका ही वह आखेट हो गयी। श्रीराम उसे बहुत सम्मान देते थे, अब भी देंगे, किन्तु अपने जिस स्वगर्भजातको सिंहासन दिलानेका लोभ उसमें जागा था, आशा नहीं कि वे भरत उसे अब जीवनमें 'माँ' कह सकेंगे।

भरतने तो पूरी आर्यजातिको धन्य कर दिया। उनके त्याग एवं उग्रतर तपकी प्रशंसा करते मुनिगण थकते नहीं हैं। भरत जैसा भाई—सृष्टिके लिए अब यह नित्य आकांक्षाका विषय हो गया।

धन्य किया मुझे मेरी पुत्रीने और मेरे दौहित्रोंने। मेरी कन्या बचपनसे गम्भीर रही है। उसे लोभने, चपलताने तो शैशवमें भी स्पर्श नहीं किया था। सुना है—अयोध्याके राजसदनकी वही प्रारम्भसे व्यवस्थापिका है।

मेरे दौहित्र—मेरे दोनों दौहित्र अनुपम हैं। लक्ष्मणने रामका अनुगमन करके केवल अपनेको, अपनी जननीको ही धन्य नहीं किया, उनके कारण तो उनके मातामह का यह कुल भी कृतार्थ होगया और कृतार्थ किया इसे वत्स शत्रुघ्नने भी। भरतका दृढ़ अनुगामी रहकर उन्होंने ही चौदह वर्षके विषमकालमें अयोध्याके वियोग-व्याकुलजनोंको सम्हाला।

जब वह दारुण समाचार मिला, मैं समझ नहीं पाता था कि क्या करूँ। कर भी क्या सकता था मैं? अयोध्याके चारों कुमार मिथिला नरेशके जामाता हैं। वे ज्ञानियोंके परमगुरु और उनके आचार्य ब्रह्मर्षिगण मुकुटमणि योगी याज्ञवल्क्यजी ही जब चित्रकूट तक जाकर कुछ नहीं कर सके, मैं कर भी क्या सकता था? प्रतीक्षा ही करनी थी मुझे। कितना दारुणकाल था यह प्रतीक्षाका?

मगध शास्त्र-निन्दित प्रदेश है। इसमें कुछ ही स्थल हैं जो तीर्थ माने जाते हैं और जहाँ ऋषि-मुनि आश्रम बनाकर तप करना स्वीकार करते हैं ; किन्तु अब मगधको— विशेषत: इस सौमित्र प्रदेशको अपवित्र कहनेका साहस है किसीमें ? यह अयोध्याके राजकुमारोंके मातामहका प्रदेश है।

मिथिलानरेशने तो मुझे अतिशय भाग्यवान बना दिया है। अयोध्यासे कोई मिथिला जायगा तो इस प्रदेशमें होकर ही तो जायगा ? मुझे तो बिना माँगे अयोध्या और मिथिला दोनोंके जनोंके सत्कारका सौभाग्य स्वत: प्राप्त हो गया है।

अब श्रीरघुनाथ कल अयोध्या लौट रहे हैं। लौट ही रहे हैं, क्योंकि भरत जैसे महातापसके निश्चयको अन्यथा करनेका साहस सृष्टिकर्ता भी करें तो उनकी यह सृष्टि टिक सकेगी ?

श्रीराम कल आ रहे हैं। उनके राज्याभिषेकके समय सुमित्र उपहार तो भेजेगा ही। अब अपनी पुत्रीको यहाँ आमन्त्रित करनेका अवसर नहीं रहा। उसने पतिके साथ चितारोहण नहीं किया, महर्षि वशिष्ठकी आज्ञा और भरतका अनुरोध मान लिया, यही बहुत हुआ, पर अब वह अयोध्यासे बाहर जाना तो स्वीकार नहीं कर सकती।

मेरी पुत्री नहीं आ सकती। मैं अपने दौहित्रोंसे भी आनेका आग्रह क्यों करूँ ? मेरा यह काम तो मिथिला-नरेश स्वत: करेंगे—उत्सुक होंगे करनेके लिए। अपनी पुत्रियोंको उन्हें मिथिला बुलाना तो है ही। उनकी पुत्रियाँ मिथिला जायंगी तो उन्हें लेने अयोध्याके राजकुमार नहीं जायेंगे ? अन्तत: किधरसे जायंगे ? मुझे तो उनके जाते और लौटते समय भी सत्कारका सुअवसर मिलना है।

जाते समय अयोध्याके कुमारोंको मैं कह दूंगा कि उन्हें यह समझकर ही मिथिलासे चलना है कि सौमित्र देशका यह वृद्ध नरेश उनका मातामह है। यह वृद्ध अब दौड़-धूप नहीं कर सकता। इसे अपने दौहित्रों तथा उनकी वधुओंका सत्कार करनेका अवसर मिलना चाहिए। वहाँ से अयोध्या पहुँचनेकी त्वरा लेकर वे आयेंगे तो वह सुनी नहीं जायगी।

मुझे केवल प्रतीक्षा करनी है कि महाराज विदेह कब अपनी कन्याओंको मिथिला बुलाते हैं।

—:o:—

३८. महाराज जनक–

'आज चतुर्दश वर्ष पूर्ण हो गये श्रीरामके वनगमनके।' महाराजने अपने एकान्त कक्षमें मानो अपने आपसे कहा—'इसका अर्थ है कि सुरोंका संकट समाप्त होगया। श्रुतियोंकी मर्यादा सुरक्षित हो गयी। गो-ब्राह्मणोंकी विपत्ति विदा हो चुकी।'

'महाराज किसी गम्भीर चिन्तनमें मग्न हैं।' मन्त्रीने प्रवेश किया। अभिवादनके अनन्तर जिज्ञासाकी उन्होंने—'जन्मसे ही जिस कुलको विदेहत्व—विषय वैतृष्ण्य दायमें प्राप्त होता है, उसके अधिपतिको कोई लौकिक चिन्ता क्षणार्धके लिए भी आकृष्ट नहीं कर सकती।'

'मेरा मन कभी किसी वस्तु या व्यक्तिकी चिन्तामें नहीं लगा करता था, यह सत्य है। स्वरूपानुभूति अखण्ड बनी नहीं रहती होगी किसीके मानसमें—मेरे लिए यही समझ पाना कठिन था; किन्तु मन्त्रिप्रवर!' महाराजने दृष्टि उठाकर देखा—'जिस दिन धनुष यज्ञका समाचार पाकर महर्षि विश्वामित्र मिथिला पधारे और उनका स्वागत करने मैं आम्रोद्यानमें गया, श्रीरामभद्रके श्रीमुखपर दृष्टि पड़ते ही मेरी अवस्था बदल गयी। उसी दिनसे मेरा चित्त उस नवदूर्वादल श्यामके चिन्तनमें लगा और लगा सो लगा रह गया। स्वरूपानुभूति दूरकी वस्तु हो गयी।'

'महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—श्रीराम साक्षात् परात्परतत्त्व हैं।' मन्त्रीने बिना कोई आश्चर्य प्रकट किये कहा—'व्यापक तत्त्व जब आनन्दघन होकर दृष्टि पथमें आजाय, चित्त उसमें लगा ही रहे, यही स्वाभाविक है।'

'आज इस समय भी मैं उन्हींके सम्बन्धमें सोच रहा था।' महाराजने बताया—'आज वनवासका अन्तिम दिवस है। इसका अर्थ है कि सुरकार्य सम्पूर्ण हो चुका।'

'दशग्रीव श्रीरामके शरोंसे देहत्याग कर उनमें लीन हो चुका होगा, इसमें सन्देहका कारण नहीं है।' मन्त्रीने कहा—'धन्य होगया वह नैकषेय; किन्तु पुत्री भूमिजाको कितना कष्ट उठाना पड़ा·······'

'पुत्रीने निमि कुलको पवित्र कर दिया!' स्वभाव विरक्त, आत्मदर्शी महाराजमें मोह होगा, यह सोचा ही नहीं जा सकता। 'उसके वनगमनने लोकको उज्ज्वल आदर्श दिया और उसका कष्ट—उसका यह तप ही तो विश्वकी विपत्तिको विनष्ट करनेमें समर्थ हुआ है।'

'लंका बहुत दूर है!' इस बार मन्त्रीके स्वरमें गाम्भीर्य आया—'श्रीराम भद्र यदि कल अयोध्या न पहुँच सके·······श्री भरतलालको आश्वासन प्राप्त होता यदि महाराज

वहाँ पहुँच जाते।' मन्त्रीने कई दिन पूर्व सम्मति दी थी महाराजको कि अयोध्या चलना चाहिये।

'श्रीराम सत्य सङ्कल्प हैं। उनकी इच्छाका अवरोध कर सके, ऐसी कोई शक्ति त्रिभुवनमें नहीं। उन्होंने चित्रकूटमें भरतको वचन दिया हम सबके सम्मुख कि अवधि समाप्त होते ही वे अयोध्या पहुँचेंगे।' महाराजने शान्त स्वर में कहा—'कोई स्थिति रामके वचनोंको अन्यथा कर दे सकेगी, ऐसी आशंका क्यों मन्त्रिश्रेष्ठ? हम राज्याभिषेक के अवसर पर अयोध्या चलेंगे!'

'इस उल्लासमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य मिलता!' इस बार मन्त्रिश्रेष्ठने अपनी अभिलाषा स्पष्ट प्रकटकी।

'मैं इस उत्कण्ठाको समझ सकता हूं।' महाराजका स्वर शान्त रहा—'किन्तु चित्रकूट जाकर मैंने जो भूल की, वही भूल फिर करनेका साहस मुझमें नहीं है।'

'भूल?' मन्त्रीकी समझमें कुछ नहीं आया। वे देखते रह गये महाराजके मुखकी ओर।

'श्रीराम और लक्ष्मण वनसे लौट रहे हैं। उनके शरीर पर, उनके नवनीत सुकुमार श्रीअङ्ग पर वल्कल होगा या मृगचर्म! उनके स्निग्ध कुञ्चित केश—अब वे जटाजूटी होंगे और भरत तपः कृश, जटाधारी, वल्कलाम्बर ही तो होंगे वे। चित्रकूटमें श्रीरामको इस वेशमें मैंने देखा और—नहीं, मन्त्रिश्रेष्ठ! मैं उन दूर्वादल श्यामको पुनः इस वेशमें नहीं देख सकूँगा।'

'महाराजका निर्णय समुचित है।' मन्त्रीको अपनी भूल ज्ञात होगयी—'चित्रकूटमें जब पुत्री सीताने मुझे प्रणाम किया—हृदय विदीर्ण होगया वह वेश देखकर।'

'किन्तु कन्याको उस वेशमें देखकर मैं पुलकित हो उठा था।' महाराजका स्वर आर्द्र हुआ—'मैंने धरा-कुमारीको तापस वेशमें देखा और लगा धन्य हो गया आज जनक।'

'हम श्रीरामको अब सम्राटके वेशमें ही देखेंगे, जब उनके वामाङ्गमें वैदेही साम्राज्ञीके रूपमें आसीन होंगी।' मन्त्रीके स्वरमें पुनः उल्लास आया—'अब अधिक दिन कहाँ हैं उस अवसरके लिए भी।'

'महर्षि याज्ञवल्क्य पधार रहे हैं।' दौवारिकने सूचना दी। महाराज तत्काल उठ खड़े हुए उन अमित तेजा महायोगीका अभिनन्दन करने।

---

३९. महर्षि याज्ञवल्क्य

'राजन् ! श्रीराम भद्रके वनवासके चतुर्दश वर्ष आज पूर्ण हो रहे हैं ।' अयर्घादि स्वीकार करके आसन पर बैठते ही उन योगाचार्य ज्ञानियोंकी परिषदके परमाध्यक्षने कहा—'कल मिथिला महोत्सव मनायेगी अपने प्रिय सम्राटके वनसे राजधानी लौटने एवं दशग्रीव-विजयके उपलक्ष्यमें ।'

गौर वर्ण, प्रलम्बबाहु, विशाल अरुणाभ नेत्र, उन्नत तेजोदीप्त भाल, कपिश जटा-कलाप, सर्वाङ्ग जैसे सुनिपुण करोंसे सावधानी पूर्वक निर्मित हुआ था । योगाचार्यका श्रीअंग इतना सुगठित, इतना मृदुल, इतना अरुणाभ—मूर्तिमान तप एवं सौकुमार्यने जैसे एकत्व प्राप्त करलिया हो ।

'जैसी आज्ञा !' महाराज जनकके लिए कोई विकल्प कहाँ सम्भव था । उन्हें तो आश्वासन प्राप्त हो गया—श्रीरामभद्र कल अयोध्या लौट ही रहे हैं । महर्षिकी वाणी मिथ्याका स्पर्श तो कर नहीं सकती ।

'आत्मानुभूति अन्तरकी वस्तु है और उसे प्रदान नहीं किया जा सकता ।' महर्षिका गम्भीर स्वर आर्द्र हो चला, 'किन्तु वह गुरु नहीं, वह रक्षक नहीं और वह स्वजन नहीं जो अपने आश्रित, अपने पर निर्भर एवं अपने आत्मीयको त्रयताप-के विषम वाडवसे बचा नहीं लेता ।'

महाराज एवं महामन्त्रीने मस्तक झुका लिया । महोत्सवके आदेशके साथ इस उपदेशका समन्वय वे समझ सके या नहीं यह अनुमान करनेकी आवश्यकता नहीं है । महर्षिने स्वयं स्पष्ट किया—'महोत्सव केवल महोत्सव नहीं होगा, वह श्रीरामका स्मरण करावेगा सम्पूर्ण जनपदको और श्रीरामका स्मरण-महादेवता मृत्यु भी वहाँ मस्तक ही झुकाते है ।'

महामन्त्रीके नेत्र एक बार उठे महर्षिकी ओर । उन्होंने कुछ कहा नहीं । श्रीराम परमतत्त्व हैं, यह उन्होंने अनेक बार महर्षिसे सुना है । प्रश्नका कोई कारण नहीं था और उनकी दृष्टिमें कोई प्रश्न था भी नहीं ।

'दुष्ट-शमन, धर्म-स्थापन, मर्यादा-रक्षण—ये ऐसे कार्य नहीं हैं कि सर्व समर्थका संकल्प इन्हें सम्पन्न न कर सके । अवतारका प्रयोजन ये नहीं बन सकते ।' महर्षि

कहते गये—'अपनी लीला मर्त्यलोकमें वे इसलिए व्यक्त करते हैं कि उनका स्मरण, चिन्तन, कीर्तन एवं परस्परानुकथन उन प्रणोंको पवित्र करे, जिन्हें प्रतिभाका पुनीत वरदान प्राप्त नहीं। जिनकी प्रज्ञा तत्त्वानुशीलनके योग्य नहीं हो सकी है। उस करुणा-वरुणालयके वे भी अपने हैं और वह उन्हें अपने अंकमें लेने ही धरा पर आता है। उसका नाम, उसका भुवन-मोहन रूप, उसके दिव्य चरित्र—ये उसके बढ़े हुए कर हैं। प्राणीको इन तक पहुँचा देना, विश्वात्माकी इससे सम्पूर्ण सेवा और कुछ नहीं हो सकती। हमारा महोत्सव—श्रीरामका आगमनोत्सव, यह लोक-मंगल महोत्सव तो होगा ही, हमारी अर्चा भी होगी अपने सम्राटके प्रति।'

'महाराज समुत्सुक हैं—अभिषेकके अनन्तर ही सम्राट अपने अनुजोंके साथ मिथिला पधारें, यह आमन्त्रण देनेके लिए!' महामन्त्रीने निवेदन किया 'धरानन्दिनी एवं उनकी अनुजाओंसे मिलनेको महारानीका अन्तर आकुल है।' यह कुलगुरुसे अभ्यर्थना थी कि वे ऐसा आमन्त्रण देनेकी अनुमति प्रदान करें और यदि आवश्यक हो—विशेष निर्देश भी।

'श्रीरामने अभीप्सु प्राणोंकी पुकार अनसुनी करना सीखा नहीं है।' महर्षिका स्वर गद्-गद् हुआ—'आमन्त्रण मर्यादाकी रक्षा करेगा। वैसे उन्हें अन्तरका आह्वान पर्याप्त होता है और मिथिलाको तो उन्होंने स्वत्व प्रदान किया है। महाराज अपनी कुमारियोंको लाना चाहें, यह स्वाभाविक है और इस प्रार्थना को राजमाता एवं अवध के कुलगुरु अस्वीकार नहीं कर सकते। अवधके कुमारोंको हम क्यों आमन्त्रित करेंगे, उन्हें तो स्वयं आना चाहिए यहाँ।'

महाराजने मस्तक झुकाया। महामन्त्री किञ्चित् संकुचित हुए। यह बात उनकी दृष्टिमें क्यों नहीं आयी? साम्राज्ञीको ले आनेका उन्हें स्वत्व है और विदा कराने तो सम्राटको आना ही पड़ेगा।

'हम कलके महोत्सवकी प्रस्तुति करेंगे।' महर्षिने निर्देश देना प्रारम्भ किया—यज्ञ, देव-द्विज-गोपूजन महोत्सवके प्रधान अंग रहेंगे। नगरकी सज्जा तो होगी ही।' महर्षि स्वयं ऋषियोंके साथ एक विशाल सत्र प्रारम्भ करने जा रहे हैं।

'भुवन पवित्र होता है श्रीरामके स्मरणसे।' महर्षिने महोत्सवके उद्देश्यकी पुनः सूचना देकर, प्रस्थान करनेकी बात कही और अपने आसनसे उठ खड़े हुये।

—※—

४०. महारानी सुनयना—

'मेरी बच्चियाँ !' आज यह प्रथम अवसर नहीं है। महारानी सुनयनाके नेत्र उसी दिनसे निर्झर बन गये हैं, जिस दिन उन्होंने सुना कि उनकी पुत्री बल्कल धारण करके अपने आराध्यका अनुगमन करते वन चली गयी हैं और जब चित्रकूटमें अपनी उस हृदयनिधिको तपस्विनी वेशमें देखा उन्होंने—उन पर क्या बीती, आप अनुमान कर सकते हैं। लंकाका दुर्धर्ष राक्षस जानकीको हरण कर लेगया, इस समाचारने तो उन्हें विक्षिप्त ही बना दिया था।

'मेरी सुमनदल सुकुमार बालिका और वह निसर्गक्रूर राक्षसियोंके मध्य !' वेदनाका यदि एक ही हेतु होता; किन्तु 'वह जन्मसे स्वाभिमानिनी उर्मिला—उसने जाना ही नहीं था कि शोक क्या होता है और अब वह राजसदनमें ही तापसी होगयी है।' माण्डवी तथा श्रुतिकीर्तिकी वेदना और कोई समझे या न समझे, मातासे वह कहाँ छिपी थी। इतनी पीड़ा—अपनी प्रत्येक सन्तानकी पीड़ा माता-पिताके पास पहुँचकर एकत्र होजाया करती हैं। माता सुनयनाकी व्यथा—उनके स्वामी ज्ञानियोंके भी गुरु हैं, वे मोहातीत, नित्य निर्विकार महाराज विदेहकी भार्या हैं, यह ठीक—जननीका यही आधार तो उनके जीवनको किसी प्रकार बचाये है, किन्तु वे जननी हैं—वात्सल्य कहाँ किसी बोधसे वाधित होता है।

'मेरी बच्चियाँ।' एक-एक दिन जिसे शत-शत कल्प प्रतीत होता हो, उसकी गणनामें भूल तो सम्भव नहीं है—'आज अन्तिम दिन है श्रीरामभद्रके वनवासका। रावण सुरासुर अजेय है और उससे संग्राम चल रहा था। यहाँ अयोध्यामें भरत............!'

'कल प्रात: महोत्सव मनावेंगे महारानी !' महाराज जनकने अन्त:पुरमें प्रवेश करते हुए कहा—महर्षिने—'अपने महायोगेश्वर कुलगुरुने आदेश दिया है कि श्रीरामभद्रकी विजय, एवं प्रत्यावर्तन-महोत्सवको कल मिथला मनायेगी !'

'विधातासे वर प्राप्त, अमरप्राय असुरेश्वर दशग्रीवसे वत्स रामभद्रका संग्राम....' महारानी चौंक पड़ी थीं। उन्होंने जो कुछ सुना था, सहसा उस पर कोई कैसे विश्वास कर लेता।

'समाप्त हो गया वह संग्राम। दशग्रीवके वरदान उसे बचा नहीं सकते थे। श्रीरामभद्रसे शत्रुता करके कोई सुरक्षा किसीको कहीं किसीके द्वारा—किसीके

वरदान या साक्षात् साहाय्यके द्वारा भी प्राप्त होनी सम्भव नहीं। सो चुका सदाको दशग्रीव समर भूमिमें श्रीरामके शरोंका स्पर्श प्राप्त कर।' महाराजने इस बार उल्लास भरे स्वरमें पूरा स्पष्टीकरण किया।

'सत्य ही ? समाचार मिला मिथिलामें ?' महारानीका वर्षोंसे म्लानमुख आज कान्तिमान हुआ—'अयोध्यासे चर आया ? कहाँ है वह ?'

'चर आवेगा' महाराजके मुखपर स्मित आया; 'किन्तु उसे आनेमें समय लगेगा। कुलगुरुकी सर्वज्ञता चरकी अपेक्षा नहीं करती और स्वयं वे पधारे थे राजसदन यह सम्वाद देनेका अनुग्रह करने।'

'स्वयं कुलगुरुने कहा है ?' महारानीके नेत्र आज आनन्दाश्रुसे प्रपूरित हुए। शोकके उष्णाश्रुओंने जिन विशाल दृगोंको चौदह वर्ष सन्तप्त किया था, सुशीतल हो गये वे उल्लासके अमृत सीकरोंसे। श्रद्धाके आवेगसे वहीं महारानीका मस्तक कुलगुरुके निमित्त भूमि पर जा लगा। दो क्षण उनके कण्ठसे कोई शब्द नहीं निकला।

'उन अमित तेज आचार्यने आदेश दिया है' महाराजने सोल्लास सुनाया—मिथिला प्रात:कालसे महोत्सव मनाये। वे स्वयं विशेष सत्र करनेकी आतुरतामें थे। अन्त:पुरमें इसीसे पधारनेका अनुरोध भी मैं नहीं कर सका।'

'मुझे अपनी कन्याओंके लिए उपहार भेजने हैं!' महारानी खड़ी हुईं—'उन दु:खिनियोंको पूरे चौदह वर्ष अपने पितृ-गृहसे कुछ मिला नहीं और वे इतनी हठी हैं सबकी सब—बार-बार बुलाने पर भी उनमें-से एकने भी तो यहाँ आना स्वीकार नहीं किया। कोई दो दिनको भी तो नहीं आयी। महारानियों एवं अवधके कुलगुरुकी अनुमति—किन्तु वे स्वयं ही न आना चाहें तो अनुमतिका क्या उपयोग ?'

'अब महारानीको यह उपालम्भ देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा। अब वे चारों ही एक साथ प्रथम आह्वान पर आ जायँगी। अपनी अग्रजाको वनमें छोड़ उनमें कोई अकेली नहीं आयी—उचित ही आग्रह तो था उनका।' महाराज प्रसन्न थे और महारानीमें भी उपालम्भ नहीं, स्नेह उमड़ा पड़ रहा था।

'मैं उन सबको बुलाऊँगी! श्रीरामके राज्याभिषेकमें आप अयोध्या पधारेंगे। उन सबको साथ ले आइये!' महारानीने बात पूरी कर दी—'अवधके चारों कुमार उन्हें लेने स्वयं मिथिला आवेंगे, तब वे यहाँसे जायँगी।'

—:०:—

४१. कुमार लक्ष्मीनिधि–

'सम्राटको मिथिलाकी ओरसे जो उपहार अर्पित होगा, हमारे अनुरूप होना चाहिए उसे।' कुमार लक्ष्मीनिधि*–श्रीवैदेहीके वे अग्रज—वे तो आजसे नहीं, इधर बहुत दिनोंसे व्यस्त हैं। सम्राट—किन्तु यह सम्राटको ही उपहार अर्पित करनेकी बात कहाँ है। अवधके सम्राट केवल सम्राट तो नहीं, ऐसा कौन है जो उन्हें अपना सुहृद न पाता हो और मिथिलाके तो वे अपने हैं।

'तुम्हारे सम्राट अभी तो वनमें हैं!' अनेक बार माताने कहा—'उन्हें लौटने तो दो। मिथिलामें जो कुछ है, वह उनका ही तो है।'

'वे तो लौटेंगे ही' कुमारको इसकी चिन्ता नहीं, चिन्ता दूसरी ही है—'उनके योग्य वस्तु भी तो हो हमारे पास। अपने सम्राटको हम बेर तो देंगे नहीं।'

'सुना है बेर उन्हें बहुत प्रिय हैं' एक दिन कुमारकी पत्नीने हँसकर कहा था—'भीलनीके जूठे बेर वनमें खा लिये उन्होंने, यह बात कुलगुरुसे कोई महर्षि अगस्त्यके आश्रमवासी कह गये हैं।' परिहासके अपने अधिकारका यह समुचित उपयोग था।

'वे परमोदार! उनका अनुग्रह तो रिक्त हस्त जाकर भी पूरा ही पाया जा सकता है।' अपार अनुराग है मिथिलाके राजकुमारका अपने सम्राटके प्रति—'किन्तु हमें तो अपने गौरवका भी विचार करना है।'

कठिनाई यह है कि कुमारको कोई वस्तु उपयुक्त नहीं जान पड़ती—'इनका ढेर है अयोध्यामें!' वे अलभ्य मणियाँ उठाते हैं कोषागारमें पहुँचकर और फिर फेंक देते हैं उपेक्षासे। 'अयोध्याके श्यामकर्ण' अपनी अश्वशालाका कोई अश्व या गजशालाका कोई श्वेतगज उनकी दृष्टिमें ठीक नहीं उतरता।

'आज श्रीरामभद्रके वनवासका अन्तिम दिन है।' महाराजने उन्हें राजसदनमें बुलाकर आदेश दिया है—'कल मिथिला उनके प्रत्यावर्तनके उपलक्षमें महोत्सव मनाये।'

कुमारका अश्व पूरी रात्रि थिरकता रहा है। उन्होंने स्वयं सम्पूर्ण साज-सज्जा, उत्सव व्यवस्था, यज्ञ-मंडपादिका निर्माण अपने निरीक्षणमें कराया है। रात्रि भर

---

* इनका दूसरा नाम कुशध्वज है। —भागवत ९.१३.१९

इसके आयोजनमें अत्यन्त व्यस्त रहे हैं, किन्तु उनकी चिन्ता—वह कहाँ उन्हें छोड़ती है। 'सम्राट कल अयोध्या पहुँच रहे हैं। उनके अभिषेकका समय समीप आगया और अब तक भी हम अपने उपहार एकत्र नहीं कर सके हैं।'

'हमारा उपहार है चिउड़ा।' युवराज्ञीने आज भी परिहास किया, जब कुमार कुछ क्षणको अपने अन्तःपुर आये—'अवधके कुमारोंको वह वन्य बदरी फलोंकी अपेक्षा अवश्य अधिक सुस्वादु प्रतीत होगा।'

'वह तो जायगा ही।' आज कुमार इतने व्यस्त थे कि परिहास ग्रहण करना उनके लिए शक्य नहीं था—'वह तो प्रतिवर्ष जाता है। कुछ विशेष न एकत्र हुआ तो मैं प्रार्थना करूँगा—'लक्ष्मीनिधि स्वयं अपनेको अर्पित करता है।'

'जैसे आप अब तक उनके नहीं हैं।' युवाराज्ञी किंचित हँसी—'चलिये मिथिलामें एक स्वतन्त्र जन तो निकले। महाराज तो कहते हैं कि उन्होंने आम्रोद्यानमें देखा अवधके कुमारोंको और उनके होगये।'

'बात तो तुम्हारी ही सत्य है।' कुमारने भाव-पूर्वक अर्धाङ्गिनीकी ओर देखा—'किन्तु सेवककी सेवा यही तो है कि स्वामीकी वस्तु उनकी सेवामें उपस्थित कर दे।'

'आप जो कुछ ले जायँगे, अत्यन्त प्रिय होगा वह आपके सम्राटको।' इस बार वह कोकिल कण्ठ गम्भीर होगया—'आपको अपना सन्तोष प्राप्त करना है, किन्तु वह कभी न होगा। ऐसी कोई वस्तु—कोई उत्तम वस्तु विधाताकी सृष्टिमें बनी नहीं जो अयोध्याके इन नवीन सम्राटको अलभ्य हो।'

'सचमुच हम उन्हें क्या दे सकते हैं!' इस अनुभवने कुमारको आनन्दित ही किया।

'वे यहाँ पधारेंगे ?' युवराज्ञीने पूछा।

'पितृचरण कहते हैं, वे पधारेंगे।' कुमार सोल्लास कह गये—'मैं अपनी बहिनोंको साथ लाऊँगा और उन्हें अयोध्या लेजाने उन्हें आना ही है। तुम्हें उनके सत्कारका सुअवसर प्राप्त होगा।'

'वे पधारेंगे!' युवराज्ञीकी अद्भुत भाव-विह्वल दशा हो गयी, किन्तु कुमारको आज अवकाश नहीं है। उन्हें प्रातःकालीन महोत्सवकी प्रस्तुति सम्पूर्ण करनी है।

ब्रह्म मुहूर्तके प्रारम्भमें ही मिथिलाके राजसदनके ऊपरसे महोत्सव प्रारम्भ करनेकी घोषणा करता कुमारका शंखनाद दिशाओंको निनादित करने लगा।

४२. बहिन शान्ता-

मैं ऋषि पत्नी हूँ। सामान्यजनोंके समान मेरे मनमें मोह आवे, यह मेरे लिए अत्यन्त अशोभन है। मेरे मनमें मोह कभी आया भी नहीं। शैशवमें ही पिताने मुझे अङ्ग नरेशको दे दिया। मैं तो अङ्गदेशको ही पितृस्थान जानती हूं। महाराज रोमपाद एवं उनकी महारानी ही मेरे माता-पिता हैं। मेरे स्वामी ऋषियोंमें भी सम्मानित हैं और वे मेरे पितृगृह ही अधिक रहते हैं। इतने पर भी मेरे मनमें तो पिता-माताका मोह भी कभी नहीं आया।

अपने स्वामीके साथमें अयोध्या गयी थी जब चक्रवर्ती सम्राटने अश्वमेघ यज्ञ किया था। कितना सम्मान, कितना सत्कार हुआ था हमारा अयोध्यामें। मेरे लिए यही जानना कठिन हो गया था कि चक्रवर्ती सम्राटकी महारानियोंमें मेरी जननी कौन-सी हैं। सबका ही तो वात्सल्य उमड़ पड़ा था मेरे प्रति।

सौमित्र देशसे अङ्गकी सीमा मिलती हैं। अनेक बार महाराज सुमित्रने सन्देश भेजे, उनके उपहार तो आते ही रहते हैं। स्वयं वे अपनी इस दौहित्रीको ले जाने आए, किन्तु मेरे मनमें ही ऐसी कोई उमंग नहीं उठती। मैंने उन्हें निराश किया—'मुझे आप क्षमा करें। मुझे तपोवन प्रिय लगता है। राजसदनमें मुझे काराबद्ध हो जाने जैसी विवशता लगा करती है।'

मेरे स्वामीने ही अयोध्यामें पुत्रेष्ठि यज्ञ कराया था। उस यज्ञमें अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर चक्रवर्ती महाराजको पायस प्रदान किया था। उस पायसके प्राशनसे अयोध्यामें चार राजकुमार क्या प्रकट हुए, मेरे मनमें पता नहीं कहाँका दबा मोह प्रकट हो गया। वे चारों मेरे भाई हैं—मेरे स्नेह भाजन छोटे भाई। मैं मनको कितना भी समझाती हूँ, रोकती हूँ—किन्तु मेरा स्नेह मानता नहीं है। मेरे मनमें उनका ही चिन्तन चलता रहता है।

मैंने स्वामीसे अपनी दुर्बलता निवेदनकी, किन्तु वे तो उस पर विजय पानेका कोई साधन निर्दिष्ट करनेके स्थान पर मेरी ही प्रशंसा करने लगे—'तुम धन्य हो। अयोध्याके राजकुमारोंमें तो जन्म-जन्मका तपःपूत मनभी अत्यन्त कठिनाईसे किञ्चित लग पाता है।'

स्वामी कहते हैं—'नवदूर्वादल श्याम श्रीराम साक्षात् परात्पर पुरुष हैं। उनमें चित्तका लगना प्राणीका परम सौभाग्य है।'

परात्पर पुरुष होंगे श्रीराम ! मैं स्वामीके वचनों पर अविश्बास नहीं कर सकती, किन्तु मुझे तो वे और उनके तीनों अनुज अपने स्नेह—भाजन ही लगते हैं। मेरे छोटे भाई हैं वे ।

मुझे क्रोध तो नहीं आया था, किन्तु वितृष्णा हो गयी थी अयोध्यासे, अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राटसे । मुझे लगता था कि मैं उनकी पुत्री नहीं रही, अङ्गनरेशकी पुत्री बनी, यह अच्छा हुआ । जो श्रीराम जैसे कुमारको वन दे दें, उनकी पुत्री होनेमें कोई गौरव नहीं । मुझे उनकी महारानी कैकेयीसे ही नहीं, सब महारानियोंसे और रघुकुल गुरु महर्षि वशिष्ठ तकसे वितृष्णा हो गयी । वहाँ कोई ऐसा क्यों नहीं है कि कैकेयीको शाप दे देता ? कोई उस अन्ध हठी रानीको निषेध करनेमें क्यों समर्थ नहीं हुआ ?

श्रीराम वनमें गये श्रीजानकीके साथ और उनके साथ गये लक्ष्मण । मुझे श्रीरामसे अधिक गर्व है लक्ष्मण पर । वे मेरे सहोदर अनुज—सूना वनमें चतुर्दश वर्ष वे निराहार अनिद्र अग्रजकी सेवामें तत्पर रहे । उनका तप और नन्दिग्राममें भरतका लोकोत्तर तप—मुझे अत्यन्त गौरवका अनुभव होता है कि मैं ऐसे भाईयोंकी अग्रजा हूं ।

स्वामी विभोर हो उठते हैं श्रीराम या भरतकी चर्चा करते समय । वे पता नहीं कितनी बातें कह जाते हैं । 'श्रीरामने लोककण्टक रावणको शमित करनेके लिए ही यह सब लीलाकी है ।'

कुछ भी हो, रावण मारा जा चुका । ऋषि-मुनियोंका और सुरोंका वह संकट समाप्त हो गया । कल श्रीराम अयोध्या आवेंगे । आवेंगे उनके साथ लक्ष्मण और भरतके दीर्घकालीन तपका उद्यापन होगा । अब मेरे मनमें इस अवसर पर अयोध्या पहुँचनेका प्रबल मोह जाग उठा है। मुझ ऋषि-पत्नीके लिए यह मोह उचित है ? मेरे मनमें तो कभी किसी नगरमें जानेकी इच्छा नहीं हुई । मुझे तो नगरोंके कोलाहलसे सदा अरुचि रही है । मैं तपोवनमें सुख मानने वाली और अयोध्या तो कल कोलाहलपूर्ण होगी। अयोध्याके सब सम्बन्धी पहुंचेंगे वहाँ। ऐसे समय अयोध्या पहुंचनेकी मेरी यह उत्कण्ठा ?

स्वामी सुनकर हँसते हैं । वे न मेरी भर्त्सना करते और न मुझे साधन बतलाते । वे तो उल्टे मेरे साथ अयोध्या चलनेको प्रस्तुत हो गए हैं–'किसी ऋषिको किसी नरेशके समीप जानेमें आमन्त्रणकी अपेक्षा नहीं होती । अयोध्या तो तुम्हारा पितृगृह है। श्रीरामके राज्यभिषेकके समय आशीर्वाद देने उपस्थित रहनेका उत्साह मेरे मनमें कम नहीं है । मैं एकाकी तो वहाँ जाऊँगा नहीं ।'

स्वामी जाना चाहते हैं तो मेरी उत्कण्ठा अनुचित नहीं है । अयोध्या जाना है मुझे । अपने छोटे भाइयोंसे मिलनेकी तीव्रतम उत्कण्ठा मेरे हृदयमें जाग उठी है ।

—:※:—

४३. ब्रह्मर्षि विश्वामित्र—

'वत्स रामभद्रके वनवासकी अवधि आज पूर्ण हो जायगी !' प्रातः कालीन हवन वेदी पर ही हवनीय कृत्य समाप्त करके महर्षिने आश्रम वासियोंको सूचना दी—'आज अध्यापनका अनध्याय रहेगा। हम सब स्वस्ति कामना करेंगे अयोध्याके नवीन सम्राटके सकुशल शुभागमनके निमित्त !'

'श्रीचरण यदि अयोध्या नहीं जाते हैं।' एक वयस्क अन्तेवासीने कहा—'तब हमें सम्राटका आश्रममें ही स्वागत करनेकी प्रस्तुति करनी चाहिए।'

बात स्पष्ट थी। महर्षि विश्वामित्र यदि राज्याभिषेकके सुअवसर पर आशीर्वाद देने अवध नहीं पधारते, उनके सुयोग्य शिष्य मर्यादा पुरुषोत्तम आश्रम आये बिना रह नहीं सकते।

'अपने शैशवमें ही रामभद्रने हमारे संरक्षणका कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस आश्रमसे ही उनका असुर-शमन एवं सुर-मुनि रक्षण प्रारम्भ हुआ।' महर्षिके स्वरमें स्नेहातिरेक व्यक्त हुआ—'अब वह कार्य सम्पूर्ण होगया। दीर्घ वनवाससे श्रान्त वत्सको विश्राम मिलना चाहिए। अभिषेकके अनन्तर तत्काल सम्राटको तपोवन आनेको विवश करना उचित नहीं हो सकता और विश्वामित्रको अयोध्या जानेके लिए आमन्त्रणकी आवश्यकता तो कभी नहीं हुई।'

'श्रीचरणोंके साथ अभिषेक समारोहमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य............।' सभी उत्सुक थे साथ चलनेको ; किन्तु पूछने वालेको भी यह कहनेमें संकोच हुआ। महर्षि स्वयं निर्णय करें कि अधिकार किनका है इस श्रेयको प्राप्त करनेका।

'अयोध्याके सम्राटका आतिथ्य कभी सामान्य नहीं रहा और रामभद्रके प्रसादकी प्राप्ति तो सुरोंके भी स्पृहाकी वस्तु है।' महर्षिने सुप्रसन्न स्वरमें कहा—'उनकी श्रद्धा संवलित सेवा साधनमें सहायक होती है। उनके स्मरणसे विघ्न स्वतः विघटित होजाते हैं। अतः इस अवसरका लाभ सबको ही प्राप्त करना चाहिए।'

समस्त आश्रमवासी-अन्तेवासियोंकी बात छोड़ दीजिये, मुनिगण तक उल्लसित हो उठे और उन्होंने भी महर्षिके श्रीचरणोंमें कृतज्ञता पूर्वक मस्तक रख दिया।

× × ×

'वत्स रामभद्र अभीतक अयोध्या नहीं पहुँचे ?' कलका निश्चय क्रियान्वित होगा या नहीं; इस सम्बन्धमें सन्देहकी कोई बात नहीं थी। यात्राकी प्रस्तुति हो चुकी

थी। प्रातःकृत्यकी समाप्तिके पश्चात् महर्षिने एक बार देखा चारों ओर और जैसे अपने आपसे ही कह रहे हों—'आज सायंकाल तक उन्हें पहुँच ही जाना है।'

यात्रा प्रारम्भ हो गयी। मध्याह्न स्नान सम्पन्न हुआ सिद्धाश्रमसे पर्याप्त आगे आकर भगवती जाह्नवीकी निर्मल धारामें ही। मध्याह्न कृत्यके मध्यमें ही लगभग सबके सब एक साथ चौंक पड़े।

'वत्स रामभद्र अयोध्या पहुँच गये!' सन्ध्या समाप्त करके महर्षिने सानन्द कहा। अब तक सभी अपने चारों ओर आश्चर्यसे देख रहे थे।

अचानक अन्तरमें आनन्द उमड़ा पड़ता था। गगन सहसा निर्मल होगया था। वायु एवं सुरसरिके प्रवाहमें एक विचित्र सुख स्पर्श आगया। वृक्षों एवं लताओंमें ही नहीं, धरित्रीके नन्हें तृणों तकमें नवाङ्कुर एवं पुष्प एक साथ प्रकट हुए। पक्षियोंका कलरव तथा भृंगोंका गुञ्जार कुछ अलौकिक माधुरी-मण्डित होगया।

किसीको भी चमत्कृत कर देनेके लिए प्रकृतिका यह परिवर्तन पर्याप्त था; किन्तु यहाँ तो लगता था कि गगन सामकी सस्वर ध्वनि, जयनाद एवं संगीतसे गूँज उठा है। यद्यपि प्रत्यक्ष कुछ नहीं सुनायी पड़ता था; किन्तु वह अमृत ध्वनि—अपूर्व अज्ञात् मञ्जु कोलाहल और उसे अज्ञात भले कहदें, वायुमें जो दिव्य सुरभि फूट पड़ी थी—यह सुरभि तो धराके पुष्पोंकी नहीं है!

'श्रीरामभद्र अयोध्या पहुंच गये!' यह सन्देश जैसे तृण-तृण, अणु-अणु दे रहा था। साथ आये अग्निकुण्डोंमें निर्मल लपटें उठ रही थीं, यद्यपि अभी उनमें समिधायें पड़ी ही नहीं थीं। जल, स्थल, गगन—सर्वत्र उत्सव, उल्लास, उमङ्ग उमड़ी पड़ रही थी। अयोध्याके नवीन सम्राट अपनी राजधानीमें पहुँच चुके थे।

'वत्स रामभद्र अयोध्या पहुँच गये!' महर्षिका स्वर गद्-गद् कण्ठसे निकला था। उनका शरीर रोमांचित होउठा था। आज वहीं जलमें ही उन्होंने जब अपने प्रिय शिष्यके लिए स्वस्ति पाठ प्रारम्भ किया, उनके साथ पाठ करने वाले नवीनतम ब्रह्मचारियों के कण्ठसे भी परावाणी फूट निकली थी।

—०—

४४. महर्षि भरद्वाज—

'आचार्य चरण अयोध्या पधारेंगे महाराजके राज्याभिषेक समारोहमें ?' एक ब्रह्मचारीने महर्षिके चरणोंमें मस्तक झुकाया–'आप्त पुरुषोंसे सुना है, शासकके सम्मुख भी रिक्त-हस्त जाना अशिष्टता है।'

पुष्पक अभी ही प्रयागसे गगनमें गया था। यद्यपि अब उसका कोई आभास अम्बरमें दृष्टि पथमें नहीं था; किन्तु अभी तक महर्षि भरद्वाज तथा सभी उपस्थित जन ऊपर ही देख रहे थे। अब भी नेत्र जैसे उस विमानको देख लेना चाहते थे जो उनकी वह अलभ्य नीलनिधि लिये जारहा था।

'राज्याभिषेकके समय नहीं वत्स !' महर्षिने अब अपने उस शिष्यकी ओर देखा। वे समझ गये थे कि इस सेवापटु छात्रने उनको केवल सचेत करनेकी, उनकी अन्यमनस्कता निवृत्त करनेकी एक युक्ति निकाली है। 'हम केवल आज यहाँ हैं। कल प्रातः प्रस्थान करेंगे अयोध्याकी ओर। आज भी इसलिए कि यात्राके पूर्व आश्रम व्यवस्था निश्चित करनी है। महर्षि वशिष्ठका आतिथ्य हमें पावन ही करेगा।'

महर्षिकके चरणोंमें हम समित् एवं सुमनाञ्जलि लेकर प्रणिपात कर सकते हैं।' ब्रह्मचारीने देखा कि उसके प्रश्नसे आचार्य सम्भवतः विस्मृत होगये। 'मार्गमें सरलतासे हम इन्हें चयन कर लेंगे; किन्तु सम्राटके लिए..............'

'ब्राह्मण अकिञ्चन होता है। वह केवल आशीर्वाद देता है करोंमें पुष्प लेकर।' महर्षिने सस्नेह देखा अपने प्रिय अन्तेवासीकी ओर—'क्षत्रिय होनेके कारण तुम्हारे चित्तमें सम्राट को उपहार निवेदित करनेकी आकाँक्षा उठना स्वाभाविक है; किन्तु यह सार्थक होगी जब तुम शिक्षा समाप्त करके पिताके यहाँ पहुँचोगे। सम्राटकी सेवा तुम्हारा स्वत्व है, उसे माँगना नहीं पड़ेगा तुम्हें। ब्रह्मचारी भी आशीर्वाद ही देता है नरेश को। केवल आचार्य अथवा आचार्यके गुरुजनोंके सम्मुख समित्पाणि, सुमनाञ्जलि हस्त उपस्थित होना पड़ता है।'

'नवीन सम्राट श्रीचरणोंके स्नेह भाजन हैं।' वटु अभी आश्वस्त नहीं हुआ था। मर्यादा भले न हो आवश्यक नहीं है इसीलिए क्या महर्षि अपने प्रिय सम्राटको कोई

अलभ्य उपहार आशीर्वाद रूपमें नहीं देंगे ? श्रीभरतलालका स्वागत जिस प्रकार महर्षिने किया था, ब्रह्मचारी आश्रममें ही था उस समय, जो संकल्पमात्रसे सुरदुर्लभ वैभवका क्षणार्धमें सृजन कर सकते हैं, वे चिन्तामणि, सुरद्रुम कोई भी अति मानव उपहार सहज ही तो प्रस्तुत कर सकते हैं। सम्राटका प्रिय करनेका इससे अधिक उपयुक्त अवसर क्या पुनः आना है ?

'भरद्वाज अकिञ्चन है वत्स !' महर्षिने समझाया स्नेह पूर्वक—'तुम समझते नहीं हो। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन जिनके भ्रूभङ्गसे होता है, वे निखिलेश्वरी वामाङ्गमें विराजमान होंगी सम्राटके। उन सर्वेश्वरको सुरेन्द्र भी क्या दे सकते हैं। अवधका प्रत्येक तरु-कण्टकद्रुम भी आज सुरद्रुम हो गया और प्रत्येक सिकता वहाँ चिन्तामणि है।'

'हम उन श्रीचरणोंमें प्रणत होकर धन्य होंगे !' आर्द्रकण्ठ हो उठा वह अन्तेवासी।

'निश्चय तुम अपने इस आचार्यसे अधिक सौभाग्यशाली हो।' महर्षिने भावोद्रेकमें उस छात्रको हृदयसे लगा लिया—'आज वे निखिल भुवनाधीश मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। भरद्वाज उनके चरणोंके दर्शन कर सकता है; किन्तु वे प्रणत होंगे और आशीर्वाद देना है मुझे। तुम अधिकारी हो उन श्रीचरणोंके स्पर्शके। तुम्हें कोई कैसे तुम्हारे अधिकारसे वंचित कर सकता है।'

'पितृचरण उपस्थित होंगे उस समय।' दो क्षण रुक कर ब्रह्मचारीको गृहका स्मरण आया। सम्भवतः इसलिए आया कि उसके पिता यह देखकर प्रसन्न होंगे कि महर्षिके अनुग्रहसे उनका पुत्र सम्राटके श्रीचरणोंके स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त कर रहा है।

'हम कल प्रातः सन्ध्याके अनन्तर ही प्रस्थान कर देंगे वत्स !' महर्षिने सावधान किया ब्रह्मचारीको—'तुम अपने सहाध्यायियोंको सूचित कर दो !'

आश्रममें उमंगकी नवीन लहर व्याप्त हो गयी। वल्कल, मृगचर्म, व्याघ्राम्बर, उत्तम कमण्डलु, सुस्वादुकन्द, सुरभित औषधियाँ—एक महर्षि जब दूसरे महर्षिके यहाँ आतिथ्य ग्रहण करने पधारेंगे—तापसके उपयुक्त उपहारोंका संकलन ही तो साथ जायगा। यात्राकी प्रस्तुतिमें व्याप्त हो गया पूरा आश्रम।

—×—

४५. निषादराज—

'श्रीराघवेन्द्रका राज्याभिषेक होगा' पुष्पक शृंगबेरपुरकी भूमिसे ऊपर उठा और निषादराज गुह व्यस्त होगये—'मृगचर्म, व्याघ्राम्बर, शुक-सारिकादि पक्षी, औषधियाँ और मङ्गल जनक महामत्स्य—सब एकत्र करना है हम लोगोंको। कोई प्रमाद करेगा, ऐसी आशा मुझे नहीं है; किन्तु यह अवसर है कि हम पूरी शक्ति और समझ लगादें। मृगशावक ही नहीं, सिंह शावक भी चाहिये मुझे।'

अवधके सुरक्षित भण्डारमें अति दुर्लभ ऐणेयाजिन, हिम प्रदेशीय सुकोमल रोमश मृगचर्म, व्याघ्राम्बर आदिकी राशि कितनी ही बड़ी हो, वहाँ ओषधियों, पशु-पक्षियोंका भले सम्यक संग्रह हो; किन्तु निषादराजको तो लगता है कि यह उनका कार्य है। वे निषादोंके—वन्य जातीय कोल-किरातोंके भी अग्रणी हैं। उत्तम ओषधियाँ अति दुर्लभ मूल, पत्र, पुष्प, कंद, फल, चर्म, वनधातु एवं पशु-पक्षी आदि उनसे अधिक सुगमतासे कोई संग्रह नहीं कर सकता। वे अपने उद्योगमें लग गये हैं। सभी पञ्च प्रमुखोंको उन्होंने एकत्र कर लिया है।

'अभिषेकके समय सदा निषादोंके नायक द्वारा अर्पित ऐणेयाजिन अवधके सम्राटके उपयोगमें आता रहा है।' निषादराज गम्भीर स्वरमें कह रहे थे—'और इस बार श्रीरघुनाथ—हम अधम निषादोंको अपने अनुजोंका सम्मान एवं स्नेह देनेवाले श्रीरघुनाथको सिंहासनासीन होना है।'

'सम्राटकी सेवामें अर्पित करनेको हमारे पास है ही क्या?' एक वयोवृद्ध उठे। उनका कृष्णकाय, स्नायु-पूरित शरीर, उज्ज्वल केश—आदरार्ह थे समस्त निषाद-कुलमें। वे कह रहे थे—'निषाद क्या दे सकता है? मत्स्य, कुछ घास-फूल, चर्म और मिट्टी।'

'सम्राट अपने—श्रीरघुनाथ तो सदासे स्नेहके भूखे रहे हैं।' गुहका स्वर गद्-गद् होगया—'सामग्री उन्हें दे सके, इतना वैभव तो बेचारे इन्द्रके पास भी नहीं।'

'हम सब अभी निश्चय कर लेंगे कि कहाँसे क्या लाया जा सकता है और

कौन उसे लेने जायेंगे ।' वृद्धने अपने अनुभवका उपयोग किया—'हममें किसे क्या पता है, यह हम लोग पहले सुनलें ।'

किसीने कभी कहीं कोई अति दुर्लभ श्वेतसिंह देखा है। उसके शावक यदि आ सकें............ । दूसरे किसने सुना है कहीं किसी अलभ्य ओषधिकी चर्चा। बड़ेसे-बड़ा कृष्ण मृग इस समय कहाँ प्राप्त होगा, यह चर्चा भी हो गयी। जिसे जो पता था, सबने अपने ज्ञातव्य सूचित किये। प्रत्येक वस्तुके संग्रहके लिए उपयुक्त व्यक्ति नियुक्त कर दिये गये। सब तत्काल प्रस्थान करेंगे—निर्णय हो गया।

'अत्यन्त दुर्गम स्थान है। कण्टकपूर्ण वन, कई खड्ड, मार्गमें अजगरोंसे और विशेषतः मधु-मक्षिकाओंसे सावधान रहना।' उचित सूचनायें दी गयीं प्रत्येक दलको तथा साथ ही प्रायः सबसे कहा गया—'कमसे कम दो सहायक और ले लो। कार्य शीघ्र एवं निर्विघ्न होना चाहिए।'

'आपके आशीर्वादसे कार्य तो एकाकी कर आता' प्रायः सभी चाहते थे कि कोई एक सेवा तो उनके अकेले श्रमसे सम्पन्न होती। लेकिन अपने नायकाका आदेश स्वीकार करना पड़ा था उन्हें। प्रत्येकके साथ अनेक युवक किये गये। प्रत्येक दलमें एक अनुभवी वृद्ध रखा गया।

'थोड़ेसे सुरङ्ग मत्स्य !' सामग्री एकत्र होने लगी—'प्रायः सभी रङ्ग हैं। स्वर्णपीत, रजतशुभ्र, पराग पांडुर, पाटलारूण, पत्र हरित—ये सम्राटके उद्यानकी पुष्करिणीमें साम्राज्ञीको यदाकदा किञ्चित् विनोद प्रदान करेंगे।'

'हमने एक महामत्स्य अवरुद्ध कर लिया है।' दूसरा समाचार—'सरिताओंमें इतना विशाल मत्स्य सुना तक नहीं था। सागरीय तिमि जैसा मत्स्य। श्रीअवधके समीपस्थ सरोवरकी शोभा बनेगा यह और सम्राट इसे देखकर अवश्य एक पल प्रसन्न होंगे।'

निषादराज गुह स्वयं प्रत्येक सामग्रीको देखने, सुरक्षित रखने, अयोध्या तक उसे ले जानेकी व्यवस्था करनेमें व्यस्त हो रहे हैं।

'श्रीरघुनाथ अयोध्या उतर गये होंगे। मिल चुके होंगे वे प्रियजनोंसे।' उनके चित्तमें एक ही चिन्तन चल रहा है—'महर्षि वशिष्ठ राज्याभिषेकका मुहूर्त कलका भी तो निर्दिष्ट कर सकते हैं। यदि ऐसा हुआ—अयोध्यासे अश्वारोही चर शृङ्गबेरपुरके लिए चल भी चुका होगा। क्या-क्या संग्रह हुआ ? शीघ्र, शीघ्र एकत्र करनी है सब सामग्री।'

४६. भगवान शिव–

'आज यक्षराज सुप्रसन्न दीखते हैं।' भगवती उमाने अपने पदोंमें प्रणाम करनेके अनन्तर अञ्जलि बाँधे कुबेरकी ओर देखा। भगवान शङ्कर अनुग्रह पूर्वक यक्षपतिको अपना सखा कहते हैं; किन्तु कुबेर अपना सौभाग्य मानते हैं आशुतोषका किंकर होनेमें। वे पद-वन्दन करने कैलाश आजाते हैं प्रतिदिन। इसमें व्याघात तभी पड़ता है जब वे अलकामें न हों।

'अज्ञ जीव मानापमानका प्रभाव त्याग नहीं पाते।' कुबेरने मस्तक झुकाया श्रद्धापूर्वक—'पुष्पक लोक स्रष्टाने मुझे प्रदान किया था। प्रपितामहके उस पुरस्कारमें अनुजका स्वत्व नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है; किन्तु दशग्रीवने जबसे बलपूर्वक पुष्पक लेलिया—अपनी तुच्छता मातः, पराभवका शल्य अन्तरसे गया नहीं था।'

'तो पुष्पक प्राप्त होगया आपको?' भगवतीने पूछ लिया—'वह अलका आगया?'

'उसके अलका आनेसे अधिक प्रसन्नता होगी आपके इस किंकरको, वह यदि अयोध्या न रह सके तो लङ्का ही रहे।' यक्षराजके स्वरमें सच्चा हर्ष था—'दशग्रीव पुष्पक बलपूर्वक लेगया—आज यह चिन्तन भी मुझे प्रसन्न करता है। वह विमान लङ्कामें था—किसी भी प्रकार वहाँ गया हो, उसके द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तमकी किंचित सेवा तो हो सकी। मैं जानता हूँ, अयोध्यामें रहने योग्य वह नहीं है, किन्तु वे परात्पर प्रभु यदि उसे विभीषणको ही प्रदान कर दें—अपने अनुगम अनुजके समीप उसके रहनेसे मुझे कितनी प्रसन्नता होगी, आप सर्वज्ञासे अविदित तो नहीं हैं।'

'श्रीरघुनाथ मर्यादा पुरुषोत्तम हैं मित्र! 'भगवान चन्द्रमौलिके अधरों पर स्मित आया—'परस्व वे स्वीकार नहीं कर सकते एवं उनके जन किसीके स्वत्वापहरणसे प्राप्तकी स्पृहा नहीं करते। विभीषणके चित्तमें यदि विमानकी कामना उठे, विश्वकर्मा अपनी कलाको कृतार्थ मानेंगे उन्हें नूतन विमान देकर; किन्तु जहाँ श्रीरघुनाथ विराजमान हैं, उस अन्तरमें कामनाका उदय सम्भव नहीं है।'

'विभीषणने कुलको कृतार्थ किया।' यक्षराजका स्वर भावपूर्ण हुआ—'अनुज होकर भी वे आदरार्ह हैं, गौरव हैं हमारे कुलके। उनका अग्रज होकर यह जन भी अपनेको पवित्र मानता है।'

'मेरे आराध्य आज लङ्कासे प्रस्थान कर चुके हैं।' भगवान गंगाधर भावमग्न होगये श्रीरघुनाथका स्मरण करके—'भगवती जनक-नन्दिनीके साथ वे पुष्पकसे गगन यात्रा कर रहे हैं। वनवासकी अवधिका आज अन्तिम दिन है। कल मध्याह्नके लगभग वे अयोध्या पहुँचेंगे और कल ही सूर्यास्तके पूर्व पुष्पक अलका आजायगा।'

'पुष्पक अलका आजायगा?' यक्षराजने इन शब्दोंको दुहराया इस प्रकार जैसे उन्हें इस विचारसे बड़ा धक्का लगा हो। उनका उत्साह शिथिल होगया। कुबेर निधिपति होकर भी कृपण हैं। पुष्पकका लोभ गया नहीं हृदयसे, इसीलिए तो वे सर्वज्ञ, सकलेश्वर, करुणामय इस तुच्छका यान स्वीकार न करके लौटा रहे हैं।'

'व्यर्थ खेद करते हो मित्र! भगवान नीलकण्ठने सान्त्वना दी—'सृष्टिकर्त्ताने जब यह यान तुम्हें प्रदान किया, इस कल्पमें इस सृष्टिके रहने तक वह तुम्हारी सम्पत्ति है। मर्यादापुरुषोत्तमको मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। वे मर्यादाकी स्थापनाके लिए ही अपने दिव्य धामसे धराको धन्य करने पधारे हैं।'

'श्रीरघुनाथ कल अयोध्या पहुँच रहे हैं।' भगवती उमाने अपने त्रिलोचन आराध्यकी ओर देखा—'प्रभु क्या कैलाश पर ही विराजेंगे?'

'अपना वृषभ अभीसे उत्सुक हो उठा है। उसकी हुंकृति आप सुन ही रही है।' भगवान चन्द्रमौलिने कहा—'श्रीरघुनाथ भरतलालका अपूर्व मिलन देखनेका सुअवसर छोड़ा नहीं जा सकता; किन्तु वृषभ जायगा नहीं।'

'प्रभु एकाकी जायेंगे?' जगदम्बाने आशंका पूर्वक देखा। 'कहीं उनको कैलाश रहकर गणोंके ऊपर दृष्टि रखनेका आदेश तो प्रभु नहीं देने जारहे हैं?'

'सुरोंके समान शिव भी अम्बरसे द्रष्टा बना रहे, यह आपको रुचिकर नहीं हो सकता।' आशुतोष सुप्रसन्न थे—'हम दोनों अभी प्रस्थान कर रहे हैं; किन्तु अयोध्यामें आप अपना स्थान स्वयं चुनेंगी। महर्षि वशिष्ठके यहाँ ऋषि-मुनियोंका अपार समुदाय एकत्र होता जारहा है। उनमें यह जटाधारी भी सरलतासे सम्मिलित होजायगा और श्रीराघवेन्द्र जब राजपथसे राजसदनकी ओर चलेंगे—स्वस्तिपाठ करेगा।' यात्राके लिए साम्बशिवके उठते ही यक्षराजने भी अभिवादन करके अनुमति ली और अलकाकी ओर चले गये।

४७. सृष्टिकर्ता--

'प्रभु कुछ विशेष विचार कर रहे हैं ?' देवी सावित्री (ब्रह्माणी) ने लोकस्रष्टाके आसनीभूत लोकपद्ममें अल्प कम्पन लक्षित कर लिया था। 'कोई आह्लादपूर्ण विचार।'

रजतश्मश्रु, चतुर्मुख, रक्तवर्ण सृष्टिकर्ता स्थिर आसीन थे अपने ज्योतिर्मय लोक-पद्म पर। उनका संकल्प—केवल उनका संकल्प-विविध लोकोंमें नाना प्रकारकी स्थावर-जंगम आकृतियाँ प्रदान कर रहा था जीवोंको। कहा जाता है कि सृष्टिकर्ता अत्यन्त व्यस्त रहते हैं। उन्हें क्षणार्धका अवकाश नहीं, किन्तु उनकी यह व्यस्तता कायिक नहीं है। उनके दिव्यलोकमें कायिक कार्य अनावश्यक है। संकल्प उठता है और मूर्त होता चला जाता है।

'देखती हूँ, आपके प्रिय मरालका मानस भी उमंगपूर्ण हो चुका है।' देवी सावित्रीने दूसरी ओर देखा। हंसके रोम ऊर्ध्वोन्मुख हो रहे थे। वह जैसे द्विगुण देह पाचुका हो। मन्द मधुर कूजता वह आया और ब्रह्माणीके पाद-युगल पर उसने अपना सिर रखा स्नेह पूर्वक। उसकी दीर्घ ग्रीवा लम्बायमान हो रही थी। देवीने झुककर उसके पृष्ठदेश पर स्नेह पूर्वक अपना कमलकर रखा।

'मेरी प्रार्थना—अपने शिशुका अनुरोध वे करुणा-वरुणालय सदा ही सुनते हैं।' लोक पितामहने शिथिल चामरकर देवी सावित्रीकी ओर देखा। 'उनके चरणोंके अतिरिक्त इस जनका कोई आश्रय भी तो नहीं है।'

'क्षमा करें प्रभु !' स्रष्टाके स्वर में जो श्रद्धातिरेक है, उससे देवीको अपने बोलने पर खेद हुआ—'परात्पर प्रभुके चिन्तनमें व्याघात बनी मैं।'

'वे परात्पर प्रभु। उन्होंने इस बार भी मेरी प्रार्थना स्वीकार की।' ब्रह्माजी उसी प्रकार कहते गये—'वे अपने दिव्य धामसे धरा पर पधारे। साकेतके स्वामीको प्राप्त करके अयोध्या धन्य हुई।'

'वे तो वनवासी हैं।' देवीको आश्वासन मिला। लोक पितामह असन्तुष्ट नहीं है। श्रीरघुनाथकी चर्चा करनेमें उन्हें सदा ही ध्यानकी अपेक्षा अधिक उल्लास प्राप्त होता है। 'विशेषतः लङ्कामें युद्धरत थे वे और अभी ही तो दशग्रीवका दर्प उन्होंने शमित किया है।'

'सुर-कार्य सम्पूर्ण होगया । मेरे ही वरदानसे अजेय बना असुर लोक-कण्टक बन चुका था और अब वह शल्य शांत कर दिया प्रभुने ।' सृष्टिकर्ता कहते गये—'पुष्पक उनका स्पर्श प्राप्त कर पुनीत होगया । पुनः लोकपाल निधिपतिको वहन करने योग्य हो गया वह । श्रीरघुनाथ अयोध्याके मार्गमें हैं ।'

'इसलिए महामराल आनन्दमग्न हो रहा है ।' देवीने अब भी अपने पदोमें ग्रीवा रखे हंसकी ओर देखा—'यह आपको अयोध्या ले जानेकी आशा करता है, किन्तु····।'

'किन्तु क्या देवि ?' स्रष्टाने पूछ लिया—'श्रीरघुनाथके राज्याभिषेकका दर्शन करने आप भी चलेंगी ही मेरे साथ । हम गगनसे उस समारोहको देख सकेंगे ।'

'यदि आप अनुमति दें' देवी सावित्रीने ग्रीवा झुकाली—'मुझे प्रिय होगा अवधके राजसदनमें किसी मानवीके रूपमें उपस्थित होना । त्रिभुवनेश्वरी साम्राज्ञी बनने जारही हैं । अभिषेकके पूर्व किञ्चित् सेवाका सुअवसर कदाचित करुणामयी इस अपनी बालिकाको भी दे दें ; किन्तु मैं कुछ और पूछ रही थी ।'

सृष्टिकर्ताने केवल देख लिया उनकी ओर । दृष्टिने ही प्रश्न करनेकी अनुमति प्रदान करदी ।

'सुर-कार्य सम्पन्न होगया, यह श्रीमुखसे मैंने अभी सुना' देवी सावित्रीने विचित्र गम्भीर स्वरसे पूछा—'कहीं आप प्रार्थना तो नहीं करने जा रहे कि प्रभु अपने निज धाम············।'

'अपने निजधाममें ही तो हैं प्रभु । अवध उनका नित्यधाम है ।' किञ्चित् स्मित आ गया सृष्टिकर्ताके श्मश्रु बहुल श्रीमुख पर—'शूलोद्धरण ही पर्याप्त नहीं होता, व्रणरोपण भी आवश्यक होता है देवि ! लोकशूल रावणने रणशैया प्राप्त करली ; किन्तु उसने अनेक चतुर्युगियों तक जो उत्पात कर रखा था—मर्यादाका बलात् विनाशक्रम इतने दीर्घकाल चला कि मानव मर्यादाको विस्मृत हो चले हैं । श्रीरघुनाथ ग्यारह सहस्र वर्ष भूमिका शासन करेंगे । श्रुतिकी मर्यादाकी स्थापना, पोषण, प्रवृद्धिका कार्य भी तो उन्हीं मर्यादापुरुषोत्तमको सम्पन्न करना है ।'

'सेवाके अनेक अवसर मिलेंगे ।' देवीने इस बार दृष्टिमें पूरा अनुराध भर लिया—'इस बार क्या आप इस किंकरीको अनुमति दे रहे हैं ?'

'अवश्य ! ब्रह्माजीने प्रसन्नमुख कहा—'आपका सौभाग्य यह जन नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु राज्याभिषेकके समय ऋषियोंके साथ स्वस्तिपाठ करने एवं आशीर्वाद देने राजसभामें यह भी उपस्थित रहना चाहेगा ऋषि-रूपमें ।' प्रस्थानकी प्रस्तुति हो गयी ।

—×—

४८. देवराज—

'दशग्रीवके अपार आतङ्कसे अमरावती मुक्त हो गयी देवि !' देवराज इन्द्र अपने अन्तःपुरमें थे। मणिभित्तियोंमें सुसज्ज कल्प वृक्षके सुमनोंकी मालाओंकी सुरभि सम्पूर्ण कक्षमें भरी थी। सुर सेविकाएँ कक्षसे बाहर सावधान प्रतीक्षा कर रही थीं ; कदाचित् उन्हें कोई आदेश मिले । सुरेन्द्र जब अपनी प्रियाके कक्षमें हों, वहाँ और कोई तो आदेशके बिना उपस्थित नहीं रह सकता।

'स्रष्टाके वरदानके कारण राक्षस अजेय था। अमर उसे पराभव दे नहीं सकते थे और वह हमें उत्पीड़ित करनेमें ही आनन्द मानने लगा था।' मरकत सिंहासन पर देवेन्द्र पोलोमीके साथ आसीन थे। उनके पद परागास्तरण पर स्वच्छन्द अंगुलियोंको अनायास चला रहे थे।

'श्रीराघवेन्द्रकी कृपासे हमारी यह विपत्ति वीतकथा हो गयी।' केवल संकल्प-बार्ता करते हैं देवता ; किन्तु आज जो अन्तरमें उल्लास था, उसने वाणीको मुखर बना दिया—'रघुवंश सदासे अमरोंकी आपत्तिमें सहायक रहा है। अनेक बार मुझे असुरोंके विरुद्ध अयोध्याके अधितियोंकी उदार सहायता प्राप्त हुई। महाराज दशरथने मुझे मित्र बनाकर गौरव दिया था और श्रीरघुनाथ, उन निखिलेश्वरके अतिरिक्त आपत्तिमें और कौन शरण देता। वे तो सदासे सुरोंके शरणद हैं।'

'वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।' शचीके नेत्रोंमें उल्लास आया—'इस समय वे नर-नाट्य करने धरा पर पधारे हैं और चक्रवर्ती महाराज दशरथ आपके सखा रहे हैं।'

'हमने सख्य धर्मका निर्वाह किया, यह किस मुखसे कहूँ !' ग्लानि और लज्जाके भाव स्पष्ट व्यक्त हुए पुरन्दरके मुख पर। हमारे कारण, हमारी अभिसन्धिसे उन रघुवंश शिरोमणिको चौदह वर्ष वनमें रहना पड़ा। श्रीजनक-नन्दिनीका हरण किया नैकषेयने । समरमें मातलि मेरा निजी स्यन्दन ले गये अवश्य, किन्तु यह सेवा या सहायता कहाँ थी ? यह तो अपना ही स्वार्थ था।'

'वे उत्तमश्लोक क्षमाधाम' शचीके विशाल दृग भर आये,—'उन्होंने कभी किसीके

अपराध मनमें लिये ही नहीं। उन कमल-लोचनके दृगोंको किसीके दोष देखनेका अभ्यास नहीं। उनसे भी क्या क्षमा माँगना पड़ता है।'

'अपनी क्षुद्रताकी बात करता हूँ देवि!' देवराज देख नहीं पारहे थे शचीकी ओर 'वे करुणा-वरुणालय हैं। उन्होंने तो हमारी अभिसन्धिका भी अभिनन्दन किया। भू-भार हरणमें जैसे इस अभिसन्धिने उनकी सहायताकी। आभार आया उनके अन्तरमें।'

'श्रीधरानन्दिनीके अपहरण कर्ताको भी जिन्होंने अपवर्ग दिया।' शची भाव विह्वल हो उठीं। किसी प्रकार वे बोल पा रही थीं—'अपने पूज्य पिताके मित्रके प्रति उनमें अमर्ष आवेगा, कल्पना भी पाप है। उनका सम्मान एवं श्रद्धा ही सुरेन्द्रको सदा प्राप्त होगी।'

'वे आज पथमें हैं। सहस्राक्षके नेत्र समूह अब धन्य होंगे शीघ्र ही। राज्यभिषेक होगा उन परम प्रभुका अयोध्यामें।' देवेन्द्रके मुखपर पुनः कान्ति आयी—'वामाङ्गमें श्रीवैदेहीके साथ सिंहासनासीन श्रीरामको अमरावतीका अधिपति अभिवादन करेगा, स्तवन करेगा और स्वीकार करेगा राजपरिषदके नियमोंका सम्यक पालन करते हुए कि अमरावतीने अपना सम्राट माना श्रीअयोध्यानाथको। इन्द्र अब श्रीराघवेन्द्रका अनुगत है। आप देवि........'

'मुझे कहाँ राज्यपरिषदमें उपस्थित होना है।' शचीके सुकोमल अधर स्मितोज्वल हुए—'वहाँ क्या करना है, यह सुरोंके स्वामीको निर्णय करना ठहरा।'

'सुरोंकी स्वामिनीके लिए अवधकी राज्य सभामें अवरोध नहीं होगा।' देवेन्द्रने इस बार अपने नेत्र इन्द्राणीके मुखपर स्थिर किये—'साम्राज्ञी सादर स्वागत करेंगी उनका।'

'किन्तु प्रलोमाकी पुत्री इतनी अज्ञ नहीं है कि अभिषेकके दिन ही साम्राज्ञीका अभिवादन ग्रहण करने उपस्थित हो जाय।' शचीने सहास्य कहा—'आपका ऐरावत सज्जित हो चुका होगा। गगनसे कुछ क्षण श्रीरघुनाथका भरतलालसे मिलन भी तो देखना चाहेंगे आप।'

'देव-साम्राज्ञी साथ नहीं होंगी?' इन्द्रने उदास होकर पूछा।

'क्यों नहीं।' शची उठती हुई बोली—'आज तो मैं आपके साथ ही हूँ, किन्तु साम्राज्ञीके राजसदनमें पहुँचनेसे पूर्व ही उनकी किंकरीको वहाँ उपस्थित हो जाना चाहिए। आपको अनुमति मैं जानती हूँ, प्राप्त है मुझे।'

'प्राप्त है देवि।' महेन्द्र गद्गद् होगये।

४६. प्रचेता-

'दशग्रीव केवल एक बार विमावरीपुरी आया और उस समय मैं अनुपस्थित था।' लोकपाल वरुण कुछ सोच रहे थे—'मेरी उपस्थिति सम्भवत: मेरे लिए ही अपमानप्रद होती। राजसूय करने वाला चक्रवर्ती लोकपाल वरुण—किन्तु रावण अजेय था और जैसे अन्य स्थानों पर लोकस्रष्टा तक मध्यमें पड़े, कौन जानता है, यहाँ भी ऐसा ही कुछ न होता।'

यादोगण चक्रवर्ती जलाधिप वरुण, उनकी देदीप्यमान मौक्तिक शुक्ति निर्मित योजनदीर्घापुरी विभावरी सदासे दुर्धर्ष रही है। मुक्ता, प्रवाल, शंख, शुक्ति प्रसाद हैं उस पुरीके। उत्तुङ्ग उदधिकी हिलोरें उस पुरीसे पर्याप्त दूर ही विनम्र हो जाती हैं। समुद्र वहाँ गर्जन नहीं करता। उसका स्वर जैसे स्तुति कर रहा हो और उसकी लहरें अत्यन्त कोमलता पूर्वक पुरीके प्राकार एवं प्रासाद भित्तियोंको प्रक्षालित करती हैं।

मत्स्य-शिशुओंकी, जल-कन्याओंकी मञ्जुक्रीड़ा चलती है विभावरीके प्रवालोद्यानोंमें। अष्टपद, मकर, जलघोटक, जल-केहरी सुपरिचित सेवक हैं वहाँ और तिमिङ्गिल प्रहरीका कार्य सम्पन्न करते हैं।

विपुल वैभव है देव वरुणका। अतल गम्भीर सागर, यह तो उनका निवास है; किन्तु गगन उनका क्रीड़ाङ्गन है। मेघ उनकी अनुकम्पासे जीवन पाते हैं। सरिताएँ, सरोवर, झीलें और आखात, उन महान देवताकी विनम्र प्रजा हैं ये सब।

लोकपाल वरुण—जलाधिप वरुण ही तो जगतीके जीवनाधिष्ठाता हैं। जीवन, जलका पर्याय कहनेमें उसे किसे आपत्ति है। श्याम तमाल वर्ण, अति सुगठित प्रलम्ब महाकाय, कुटिल कृष्ण केश कलाप, दीर्घ अरुण नेत्र, कठोर सघन भृकुटि, किञ्चित संकीर्ण भाल, विशाल वक्ष, सुदीर्घ भुजदण्ड, मौक्तिकाभरण-भूषित, शुभ्र फेन वस्त्र, मकरवाहन, पाशहस्त, देव वरुण। सुरोंके वे सहचर हैं एवं असुरोंके अधिप। देव-दैत्यदानव सम्राट वरुण सभीके सन्मान्य हैं। श्रुतियाँ स्तवन करती हैं उन राजाधिराजका।

'त्रिलोकीका वह कण्टक शान्त होगया श्रीराघवेन्द्रके करोंसे।' आज वे अमित प्रभाव प्रचेता एकान्तमें आसीन हैं अपने प्रवाल सिंहासन पर और कुछ ध्यानस्थसे

हो रहे हैं—'सुरोंका सङ्कट समाप्त होगया। लोकपाल वरुणकी विपत्ति भी टली। अब यह आशङ्का नहीं कि वह दुर्धर्ष आ धमकेगा। लोकपाल वरुण, राजाधिराज प्रचेता मैं जलका अधिपति हूँ; किन्तु लङ्कामें मेघ मेरे स्थान पर रावणके नियन्त्रणमें रहते थे। उन्हें नगरके पथ प्रक्षालित करने पड़ते थे। आज वरुण सचमुच लोकपाल हुआ।'

'अयोध्या आ रहे हैं वे त्रिभुवनाधीश और उनका अभिषेक होना है।' प्रचेता सिंहासनसे उठे। उनकी दृष्टि सहजभावसे गयी और सागरकी तरंगें शान्त हो गयीं। 'सलिल सीकर स्रावी छत्र वरुणका किस दिन सार्थक होगा? सागरके दक्षिणावर्त शंख किस दिनके लिए हैं? निखिल ब्रह्माण्ड नायकको जब नर-नाट्य करना है, अयोध्याके सिंहासन पर आसीन उनका अभिवादन करेगा वरुण। अपने उपहार अर्पित करेगा उनके श्रीचरणोंमें और अयोध्याके अधिपतिका प्रसाद प्राप्त करेगा।'

'श्रीराम त्रिलोकीके सम्राट हुए।' महर्षि वशिष्ठ जब यह घोषणा करेंगे, जलाधिपति अपने विचारोंके कारण ही गद्‌गद् हो रहे थे—'राजाधिराज वरुणने उपहार अर्पित किये अयोध्याके सिंहासनको! धन्य हो जायगा वरुण, धन्य हो जायगा यह राजाधिराज कहलाना। वरुण अयोध्याका मण्डलीक। अयोध्याके राजपथका प्रक्षालक-पद भी प्रचेताके लिए परम गौरव है, मण्डलीक तो बहुत बड़ा होता है।'

'करुणा-वरुणालय श्रीराघवेन्द्र अवश्य अनुमति देंगे अपनी राज्यपरिषद्में किसी मण्डलीकके स्थान पर वरुणको बैठ जानेकी।' प्रचेताने दृष्टि उठायी और उनका मकर लहरों पर लहराता उनके समीप आगया। क्षणार्धमें दिव्य मौक्तिक एवं प्रवालोंकी राशियाँ एकत्र होगयीं। 'छोटे-बड़े शंख, अद्भुत शुक्तियाँ, क्या दे सकता है त्रिभुवनके स्वामीको यह उनका तुच्छ दास? कुछ सोचा प्रचेताने और आदेश दे दिया—'यह सब अयोध्यामें, सरयूके जलमें प्रकट हो।' श्रीरघुनाथकी प्रजा सहज भावसे प्राप्त करे यह जलाधिपका उपहार और स्वयं जलाधिप? वे अत्यल्प उपकरण लिये प्रस्थान कर रहे हैं।

—※—

५०. कुबेर—

जिनकी कृपासे यह एकाक्ष पिंगली निधिपति होगया, कोई सेवा तो उनकी इससे बनी नहीं। निधिपति वैश्रवण कैलाशसे अलका लौट आये थे। वे आये और अपने एकान्त कक्षमें चले गये। इतना खिन्न मुख उनका कदाचित ही कभी किसीने देखा हो—'पुष्पक वे न स्वयं स्वीकार करेंगे, न विभीषण ही। अनुज होकर भी विभीषण आज श्रेष्ठ हैं, गौरवशाली हैं। मर्यादा पुरुषोत्तमने उन्हें अपना लिया है।'

तुन्दिलकाय, कटिसे निम्न भाग अपेक्षाकृत ह्रस्व, उन्नत ललाट; किन्तु कुल मिलाकर धनाधीशको सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उनका एक नेत्र स्वर्ण पीत है, इसलिए वे एकाक्ष पिंगली कहे जाते हैं और उनका स्थूलकाय, उनके असौन्दर्यने ही उनका नाम कुबेर दिया है। इतना होने पर भी उनमें प्रभुत्व है, ओज है, और है एक अद्भुत प्रभाव। उनके मुखकी ओर देखनेका साहस यक्षनायक भी नहीं कर पाते। उनकी महागदा यमके कालदण्डसे कम भीषण नहीं है।

श्रुतियाँ जिनका स्तवन करती हैं, प्रत्येक देवताके अर्चनकी समाप्ति पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करते समय वेदज्ञजन जिन राजाधिराज वैश्रवणको नमस्कार करना आवश्यक मानते हैं, भगवान विश्वनाथने जिन्हें सखा बनाकर सनाथ किया, आज वे चिन्तित थे।

'श्रीरघुनाथ आज लङ्कासे प्रस्थान कर चुके। कल उन्हें अवध पहुँच जाना है। वहाँ शीघ्र ही उनका राज्याभिषेक होगा।' खिन्नवदन बैठ गये हैं वे अपने रत्नोज्ज्वल सिंहासन पर—'वे निखिलभुवनाधीश, कुबेर उनकी कृपासे निधिपति हुआ। असुर यक्षोंका नायक होकर भी लोकपाल बना। महर्षिगण स्तवन करते हैं इसका और इसके अपमानको, इसके पराभवको अपनी अनुकम्पासे विस्मृतिके गर्तमें डाल दिया प्रभुने। कुबेरकी निधियाँ, दशग्रीवके दासत्वसे श्रीरघुनाथ उन्हें मुक्त न करते, क्या अर्थ रह गया था मेरे निधिपतित्त्वका और आज वास्तविक निधिपति होकर भी अकिञ्चन है, असहाय हैं वैश्रवण। राज्याभिषेकके समय अयोध्याके सम्राटकी कोई सेवा करने योग्य नहीं। कोई तुच्छतम उपहार, कृतज्ञताज्ञापन तो कर पाता।'

'अक्षय है कुबेरका कोष। अनन्त हैं निधिपतिकी निधियाँ। अपार है स्वर्ण-मणियोंका अम्बार।' वैश्रवणकी चिन्ता यह सोचकर शान्त नहीं हो रही थी। 'जहांके कण्टकद्रुम भी कल्पतरु हो रहे हैं, जहांके रेणुकणमें कोई ऐसा नहीं, जिसकी महिमा चिन्तामणि प्राप्त कर सके, क्या देगा कुबेर वहां? त्रिवर्ग—अर्थ, धर्म, काम दे सकता है निधिपति; किन्तु चतुवर्ग-अपवर्ग तक अयोध्याकी धूलिमें लुण्ठित होते हैं। कुबेर तृप्त कर सकता है केवल कामना-कलुषित अन्तरको; किन्तु जहाँ एकमात्र श्रीरघुनाथके पादपद्मोंकी प्रीति ही कामना है, कुबेर कङ्गाल है वहाँ। अवधके मार्ग प्रक्षालकोंको भी कुछ जो नहीं दे सकता, वह राजाधिराज—कितना उपहास?'

'रिक्त हस्त जाना उचित नहीं सम्राटके सम्मुख।' निधिपतिकी चिन्ता यही है कि श्रीरघुनाथके राज्याभिषेक महोत्सवका दर्शन करनेसे वे अपनेको वञ्चित करना नहीं चाहते और राजाधिराज निखिल भुवन सम्राटके सम्मुख कैसे पहुंचे, यह निश्चय वे कर नहीं पा रहे हैं। 'कुबेर क्या लेकर जाय?'

निधियोंका स्मरण किया उन्होंने और वे साकार बद्धाञ्जलि उपस्थित होगयीं—'सम्राटकी आज्ञा?'

'जबतक मर्यादा पुरुषोत्तम धरा पर हैं, तुम सबको अयोध्या रहना है।' धनाधीशका प्रभुत्त्वपूर्ण स्वर गूँजा—'अलकामें तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। वहांके किसी भी जनकी कोई सेवा तुमसे बन सकी तो तुमने अपनेको और अपने इस अधिपतिको भी कृतार्थ कर दिया।'

'भगवान गङ्गाधर जगदम्बाके साथ अवधमें ही होंगे उस समय।' कुबेरने निधियोंको जानेकी आज्ञा दी और पुनः विचार मग्न होगये। 'अवश्य वे वहाँ प्रच्छन्न रूपमें होंगे; किन्तु उनकी करुणा अवश्य अपने इस अनुचरकी सहायता करेगी।'

'यक्ष-यक्षिणियाँ मर्यादा-पुरुषोत्तमकी सम्पूर्ण प्रजाकी सेवा करेंगी आजसे।' धनाधीश अपने एकान्त कक्षसे बाहर आये और अपने महामन्त्री मणिसेनको आदेश दिया उन्होंने—'कोई कहीं पीड़ित नहीं होगा हमसे। किसी पशु या पक्षी तकको अपने आहार, आवास एवं उपभोगका अभाव जगतीमें अनुभव नहीं करना पड़ेगा।' अयोध्या पहुंचनेकी शीघ्रता थी निधिपतिको और वे जानते हैं कि उनके अनुचर प्रमाद नहीं किया करते।

—:०:—

५१. यम—

'अपना कार्य अब अत्यन्त सरल हो गया है।' प्राणियोंके परम शासक यमराज अपनी संयमिनी पुरीमें अपने सिंहासन पर आसीन थे। 'कहना चाहिए कि अपने पास अब कोई कार्य नहीं रह गया है। जबतक मर्यादा पुरुषोत्तम धरा पर हैं, आपको कोई विवरण नहीं रखना है। कोई जीव संयमिनी नहीं आवेगा।'

कार्याधिक्य तो केवल कलियुगमें होता है। जीवोंके कर्म यिववरण रखनेवाले चित्रगुप्त इस दीर्घ विश्रामसे कुछ अधिक उत्साहित नहीं थे। वे कर्म प्रिय, आलस्य उन्हें अच्छा नहीं लगता और अकर्मावस्था उन्हें आनन्द दे, ऐसी प्रकृति स्रष्टाने नहीं दी। 'सतयुगमें' कोई कार्य होता नहीं और त्रेतामें भी आदिसे अन्त तक कोई यहाँ आता है, जब असुरोंके आतङ्कके कारण प्राणोंका मोह उसे सत्पथ पर टिकने नहीं देता। इधर दशग्रीवके आतङ्कने जिन्हें पथच्युत किया था, केवल वे आये आपके सम्मुख। उनके अभियोग सरल थे, पर प्रेरित थी उनकी कर्मच्युति।

'जीवन अनन्त है। माया मोहित अज्ञ जीव इसे समझता नहीं। देहासक्ति उसे इन्द्रिय लोलुप बनाती है अथवा भयभीत करती है। नश्वर देहके लिए वे अत्यन्त कष्ट स्वीकार करते हैं और इसे जानते तक नहीं।' करुणापूर्ण स्वर था धर्मराजका 'सतयुग और त्रेता तकमें ऐसे अबल मानव होते ही हैं कि असुरोंका भय देहकी ममता जागृत करके उन्हें सत्पथ पर स्थिर नहीं रख पाता।'

'यदि ऐसे जीव मानव देह न पावें' चित्रगुप्तके स्वरमें व्यंग न होने पर भी तीखापन था—'तो मुझे संभवतः पुनः लोकपितामहके सम्मुख उपस्थित होना पड़ेगा कि वे कोई अन्य कार्य अर्पित करनेकी कृपा करें और आप............।'

'मुझे कितना हार्दिक कष्ट होता है किसी प्राणीको नरक भेजनेका आदेश देनेमें, आप जानते हैं।' यमराज उसी दयापूर्ण स्वरमें कह रहे थे—'किन्तु हम जानते हैं कि सर्वेश्वरके विधानमें दण्डको स्थान नहीं है उनका—उन अनन्त करुणा-वरुणालयका विधान सबके लिए ही मंगलमय है। ये नरक, ये यातनाएँ, यह हम सबकी नियुक्ति यह तो कर्म-कलाप कलुषित प्राणीके प्रक्षालनके प्रयत्न मात्र हैं।'

'यदि इसकी आवश्यकता न रह जाय?' चित्रगुप्तने पूछा।

संयमिनीपुरी प्रायः सुनसान पड़ी थी। वह पुरी जिसमें अहर्निश मर्त्यलोकके मृतप्राणी प्रवेश करते रहते हैं, जहाँ यमराजके दारुण दूतोंका तर्जन एवं पापी प्राणीका आर्तक्रन्दन कभी कदाचित ही विराम पाता है, इस समय प्रशान्त थी। नरकोंमें भी अत्यल्प प्राणी रहे थे। पाश एवं दण्ड यम दूतोंने धर दिये थे। वे इस प्रकार बैठे थे इधर-उधर जैसे उनके लिए कभी कोई कार्य ही न रहा हो। उनके मुख, कोई नहीं कह सकता उनके मुख देखकर कि उनसे सीधे, सरल प्राणी भी कहीं होते हैं। अधिकांश ऊँघ रहे थे। उनकी आकृतिकी भयङ्करता आज जैसे लुप्त होगयी थी। आप इस समय उन्हें अधिकसे अधिक जो विशेषण दे मकते हैं, वह होगा कुरूप एवं आलसी। यद्यपि आप जानते होंगे कि आलस्य उनसे अधिक किसीको अरुचिकर नहीं।

'इस समय तो इसकी आवश्यकता रह नहीं गयी है। मर्यादा-पुरुषोत्तमके राज्य-कालमें आप किसीके प्रमत्त होनेकी दुराशा नहीं कर सकते।' यमराजने स्नेह स्निग्ध स्वरमें कहा—'मैं जानता हूं कि मेरी पुरी कर्मभूमि नहीं है, किन्तु उन नवजलधर सुन्दर श्रीरघुनाथका स्मरण, चिन्तन, कीर्तन सर्वत्र ही परमानद प्रदायक है। उन दया-धामने अपने इन किंकरोंको भी अवकाश दिया है कि उनकी अमृतस्यन्दनी कथाका आस्वादन कर सकें।'

द्वादश भागवताचार्योंमें यमराज और अब उन्हें श्रीरघुनाथके मङ्गल चरित स्मरण आगये। संयमिनीपुरी अब कथा-मण्डप बन जायगी और समस्त गण अपने अधिपतिके श्रद्धालु श्रोता। चित्रगुप्तको इसमें आपत्ति करनेका साहस नहीं हो सकता।

'इस बार आप श्रीराघवेन्द्रका गुणगान करेंगे।' सहसा महिषका गर्जन सुन पड़ा और यमराजने चित्रगुप्तकी ओर देखा। 'मेरा महिष आकुल हो रहा है अयोध्या पहुँचनेके लिए। श्रीराघवेन्द्र लङ्कासे प्रस्थान कर चुके हैं। वे जब राजसदनमें प्रवेश करेंगे, कमसे कम उनके राज्याभिषेक तक अवधके बहिर्द्वार पर दौवारिकके पार्श्वमें दण्ड-हस्त यम एक प्रहरी बने रहनेकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। आप गणोंके श्रवण श्रीरामकी चर्चासे पवित्र करें।'

चित्रगुप्तने स्वीकृतिमें सिर झुका दिया। वे जानते हैं कि उनके स्वामी इस समय और कुछ सुन नहीं सकते। यमराज़ महिषकी पीठपर हाथ रखे कह रहे थे। 'तुम सरयूके जलमें स्नान कर सकोगे और वहीं तट पर रहोगे। नगरकी ओर आनेकी इच्छा मत करना।'

—✿—

५२. अश्विनी कुमार—

'दशग्रीवसे दारुण युद्ध किया श्रीराघवेन्द्रने और हम भिषक हैं, देव भिषक !' अश्वनीकुमार भ्रातृद्वय परस्पर ही वार्तालीन थे। 'कोई सेवा नहीं कर सके हम उन निखिल भुवननायककी।'

'वे आनन्दघन नित्य अनुग्रह-विग्रह' द्वितीय बन्धुका स्वर अश्रुहोद्धार्द्र का था 'उनका दिव्य देह पाञ्चभौतिक तो है ही नहीं। उसमें कोई निमित्त विकृति उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। उस चिन्मय देहको चिकित्सककी कलाकी भला क्या अपेक्षा हो सकती है। अस्त्राघात जन्य व्रण, रक्तस्रावादि रण शोभाके लिए लीला पूर्वक भले उस नवजलधर श्याममें व्यक्त हों, सन्ध्या कालमें युद्ध विरत होने पर भी कभी दृश्य रहे हैं वे ?'

'एक अवसर आया था। छोटे कुमारने इन्द्रजितके आघातका सम्मान किया। स्रष्टाकी अमोघ शक्तिका सम्मान मात्र था वह' प्रथम कुमार सखेद कह रहे थे 'लङ्काके राजभिषक सुषेणको इस सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ। अवसर ही नहीं मिला देव-वैद्योंको।'

'श्रीरघुनाथ सदासे भक्ताधीन हैं। विभीषण सानुकूल थे सुषेणके और जिसके सानुकूल श्रीराघवका कोई जन है, उसका सौभाग्य नित्य अतुलनीय है।' द्वितीय कुमार भाव गद्‌गद्‌ हो रहे थे। 'भिषक हैं आप और देवता हैं। आप तो जानते हैं कि सुषेणकी सेवा और सञ्जीवनीका उपयोग केवल नर नाट्य था। कुमार लक्ष्मणके दिव्यकायमें कोई विकृति नहीं थी वस्तुतः। सञ्जीवनी न भी आती, महाकालका साहस नहीं उन्हें स्पर्श कर सकें। सुरोंका सुधा कलश सादर करोंमें लिये सुरेन्द्र उपस्थित हो पाते तो वे भी अपना अहोभाग्य ही मानते।'

'वन्ध्या हो गयी हमारी विद्या। कपियोंमेंसे एककी चिकित्सा, एकको भी जीवन-दान देनेका सुयोग तो हमें प्राप्त हुआ होता ?', प्रथम कुमार अधीर हो रहे थे। 'यह सौभाग्य भी सुरेन्द्रको प्राप्त हुआ। सुधा वृष्टि की उन्होंने और सुधा भी सार्थक हो गयी।'

'श्रीरघुनाथकी अमृतस्यन्दिनी दृष्टि। कपि-दल अपने आराध्यकी दृष्टिपात मात्रसे श्रान्तिहीन, व्रणहीन, सबल स्वस्थ हो जाता था। सुधाको भी सम्मान ही देना था

प्रभुको।' द्वितीय कुमार उसी प्रकार कहते रहे—'जिनका संकल्प कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका पालन करता है, जिनका ईक्षण ही सृष्टिके समस्त जीवनका उद्भव करता है, अपने आहत जनोंके लिए उन्हें अपेक्षा होती चिकित्साकी ? उनको सुधाको सम्मानित करना अभिप्रेत न होता, उनकी दृष्टिसे ही सुधाकी भी जीवन दायिनी बनती है बन्धु !'

'उनकी अनुकम्पाने ही हमें भिषक बनाया। हमारी यह जीवनदायिनी विद्या उनकी दयासे आयी।' प्रथम कुमारको आश्वासन मिल नहीं रहा था—'हम किञ्चित सेवा प्राप्तिके अधिकारी भी नहीं माने गये। एक कपि सैनिक, एक ऋक्षमात्र, किसी एककी भी सेवा तो नहीं प्राप्त हुई हमें।'

'अब तो समाप्त हो चुका संग्राम !' द्वितीय कुमारने अपने बन्धुके मुखकी ओर दृष्टि उठाई—'प्रभु पुष्पकासीन होकर प्रस्थान कर चुके अयोध्याकी ओर।'

'अयोध्यामें राज्यभिषेक होगा उन निखिल भुवन-नाथका।' प्रथम कुमारके स्वरमें घोर निराशा थी—'आप ऐसी दुराशा स्वप्नमें भी नहीं कर सकते कि श्रीरामके राज्यमें उनकी प्रजाका कोई जन कभी ऐसी अवस्थामें आवेगा कि उसकी अत्यन्त सामान्य चिकित्साका सुयोग भी आप प्राप्त कर सकें।'

'किन्तु सेवाका परम सुन्दर सुअवर अपने सम्मुख है।' द्वितीय कुमारने सोत्साह कहा—'इस सुअवसरको हम जाने नहीं दे सकते।'

'सेवाका सुअवसर ?' प्रथम कुमारका स्वर कहता था कि उन्हें विश्वास नहीं हुआ—'हम सचमुच कोई सेवा कर सकते हैं उन परात्पर प्रभुकी ?'

'हम औषधियाँ अर्पित करेंगे, अति दुर्लभ अमोघ प्रभाव औषधियाँ।' द्वितीय कुमारने उसी उत्साहसे बताया—'पत्र, मूल, पुष्प, धातु, रस, द्रव, मणि, सब प्रकारकी सिद्धौषधियाँ।'

'क्या उपयोग उनका ?' प्रथम कुमारका स्वर शिथिल हो गया—'अनुपयोगी पदार्थ चाहे जितना अलभ्य हो, कहीं भी आदरार्ह नहीं हुआ करता।'

'आप यह विवाद छोड़िये ! इस सरस्वरूपमें हम अयोध्या नहीं चल सकते।' द्वितीय कुमारका उल्लास अखंड था—'महाराजाधिराजके अभिषेकके लिए ही औषधियोंकी आवश्यकता है और उसे वनोंसे संग्रह करने राजपुरुष तो जायँगे नहीं।'

दो क्षणमें दोनों देवता कृष्णकाय कौपीनाम्बरधारी किरात वेषमें धराकी ओर प्रस्थान कर चुके थे।

—×—

५३. विश्वकर्मा—

शिल्पियोंके परमगुरु आद्याचार्य त्वष्टा—वे तपोधन, देववन्द्य विप्र-श्रेष्ठ ! सुर सदासे उनका सम्मान करते आये हैं, क्योंकि जहाँ समस्त निर्माण उनके कुशलकरोंकी कृति है, वहीं उनका तप: तेज असीम है। उनका स्नेह विश्वरूपके रूपमें मूर्तिमान हुआ और उसने तब असुरोंके विरुद्ध सुरोंको संरक्षण दिया, जब सुरगुरुने सुरेन्द्रका त्याग कर दिया था और जब इन्द्रने अपने आश्रयदाताके सिरको ही वज्रसे छिन्न कर दिया, त्वष्टाके तेजने त्रिलोकीको त्रस्त कर दिया था। उन महातेजाके तेजसे ही वृत्रका उद्भव हुआ।

विश्वकर्मा त्वष्टा, गौरारुण वर्ण, तप्त ताम्रके समान, सुदीर्घ वेधक दृष्टि, किञ्चित लम्ब गौरव मण्डित मुख-मण्डल, अरुण नयन, उन्नत भाल, कृष्ण-कुञ्चित केशराशि, प्रलम्ब भुजायें, दीर्घांगुलि, अङ्ग-अङ्ग सुगठित, किन्तु सुकोमल तनु है श्रीअङ्ग विश्वके आदि शिल्पीका, पर उसे दुर्बल कहना कठिन है।

शिल्पकलादि-गुरुकी कार्य पद्धति भी अद्भुत है। वे जब कोई नव-निर्माण करना चाहते हैं, ध्यानस्थ हो जाते हैं। कोई महामुनि केवल स्पृहा कर सकता है उनकी उस तन्मयताकी। विकच सरोजसे पद्मपाणि क्रोड़ीमें पड़े रहेंगे। स्थिर, निष्कम्प, ऋजुकाय, लगता है कि वे स्वयं अपनी कृतियोंमें-से ही कोई एक कलामूर्ति बन गये हैं। कोई अवधि नहीं, कभी दो क्षण लगेंगे और कभी वर्ष बीत जायेंगे। जो कुछ निर्माण करना है, जब तक अन्त:करण उसे स्पष्ट प्रत्यक्ष न करदे, अपने चित्तमें प्रत्यक्षकी भाँति उसका साक्षात्कार न हो जाय, कोई परिस्थिति उस महायोगीको अपने आसनसे उठा पानेमें नित्य असमर्थ रही है।

आसनस्थ हो गये हैं वे विश्वकर्मा आज पुन:। आकाश - गङ्गाके पुनीत तट पर यह उनकी एकान्त स्फटिकशिला, जब वे इस पर आ विराजते हैं, सुर-असुर गन्धर्व-नागादि सभी समुत्सुक हो उठते हैं। निश्चय ही त्रिलोकमें कहीं नूतन कलाकृति, अप-रुप सौन्दर्य अभिव्यक्त होनेकी प्रतीक्षा कर रही है। आज वे पुन: उसी अपनी प्रेरणा-शिला (यही नाम दे रखा है अपनी उस आसनभूता शिलाका देव-शिल्पीने) पर आसीन हो गये हैं।

'कहाँ नव-निर्माण होना है ? कौन सी अभिव्यक्ति अंकुरित होनेके लिए देव शिल्पीको आकृष्ट कर रही हैं।' सुर, गन्धर्व किन्नर ही नहीं असुर, नाग दानव भी उत्कण्ठित हो गये हैं। कोई कुछ अनुमान नहीं कर पाता इस बार। 'सुर-गन्धर्वादिमें किसीने कोई प्रार्थना नहीं की। असुर, दानव, नाग, किन्तु उनके शिल्पी मय आजकल समाधिस्थ नहीं हैं। धराके किसी नरेशको धन्य करेंगे देव शिल्पी ? कोई अधिकारी नहीं दीखता। मिथिला और अयोध्याको उनके कुशलकर बार-बार सज्जित कर चुके हैं। दशग्रीव रणशय्या ले चुका और विभीषण अभी अयोध्याके पथमें हैं।'

'श्रीरघुनाथने प्रस्थान कर दिया अवधकी ओर ! पुष्पकको लङ्काकी भूमिसे उठकर उत्तर जाते देव शिल्पीने देखा था और वे तत्काल अपनी इस प्रेरणा शिलाकी ओर चल पड़े थे। सुरोंको जिन्होंने दशग्रीवके त्राससे त्राण दिया, वे कल अयोध्या पहुंच जायेंगे।'

'श्रीभरतलाल, श्रीराघवेन्द्रके वे प्राणाधिक अनुज, उनकी कोई सेवा की जा पाती इस समय।' स्वयं देव शिल्पी कुछ निश्चय नहीं कर सके थे। नित्य सज्जिता अयोध्या अपने अग्रजके स्वागतमें श्रीभरतलाल उसे अत्यधिक सज्जित करानेमें लग गये हैं। पथ-प्रक्षालन, कुछ अधिक तोरण-बन्दन पताकाएँ, इससे अधिक कुछ करनेको तो वहाँ है नहीं। 'त्वष्टाके उपयुक्त कोई सेवा ?' कुछ सूझ नहीं रहा था और देवशिल्पी अपनी प्रेरणाशिला पर आसीन ध्यानस्थ हो गये हैं।

निशा आयी अपने तारक खचित तमका नीलाम्बर धारण किये। अवनि पर आज अयोध्यामें निद्रा कहीं प्रवेश पा सके, ऐसा कोई उसे दृष्टि नहीं पड़ता। सहसा सुरगङ्गाकी प्रेरणा शिला पर रात्रिके प्रथम-प्रहरान्तमें देव शिल्पीके शरीरमें अल्प कम्पन हुआ। उनके ध्यानस्थ नेत्रोंकी पलकें हिलीं, हिले क्रोड़ीमें पड़े पद्माणि और वहीं शिला पर मस्तक रखकर किसी अदृश्यके निमित्त उन्होंने प्रणिपात किया।

'इतनी सेवा क्या कम है इस सेवकके लिए।' देव शिल्पी उठ खड़े हुए— 'दयामय आपने दासको अवर तो दिया।'

इस बार उनका संकल्प ज्योतिर्मय, किन्तु अति क्षुद्र मणियोंको अयोध्याकी धरा पर एकत्र करने लगा था। कल पुष्पक जहाँ धराका स्पर्श करेगा, श्रीरघुनाथके अवतरणकी उस सम्पूर्ण भूमिको देव शिल्पी विविध मण्डलोंसे रात्रिमें ही अलंकृत कर देनेका निश्चय कर चुके हैं।

—:※:—

५४. देव-वृन्द—

'स्वार्थ सभीको अन्धा कर देता है। हम दशग्रीवके द्वारा युगों तक पीड़ित होते रहे और हमारी इस व्यथाने हमें विचारहीन करदिया। अहर्निशिका आतङ्क, अधम असुरका दासत्व, कोई उपाय नहीं था और हमारे समीप। हम इतने व्याकुल हो चुके थे कि किसी भी प्रकार, इस विपत्तिसे परित्राण चाहते थे।' यद्यपि सुरेन्द्र एवं कोई मुख्य लोकपाल नहीं थे इस देव गोष्ठीमें; किन्तु अन्य प्रायः सभी देवता एकत्र होगये थे। वे देव-सभामें नहीं, नन्दन-काननमें एकत्र हो गये थे। इसलिए कि यह देवताओंकी कोई पूर्व निश्चित गोष्ठी नहीं थी। वे अकस्मात् एकत्र होगये थे और जब कोई समूह एकत्र होता है तो परस्पर कुछ चर्चा होती ही है। यह चर्चा ऐसी नहीं थी कि इसे ठीक चर्चाका नाम दिया जा सके। देवताओंमें प्रत्येक मौन था। केवल इतने अर्थमें मौन कि किसीके ओष्ठ नहीं हिल रहे थे और किसीके मुखसे कोई शब्द भी नहीं निकल रहा था। वे केवल कुछ सोच रहे थे। संकल्प द्वारा बातचीत सामान्यतः देवताओंकी बातचीतकी पद्धति ही यह है कि उनके अनिमेष नेत्र किसीकी ओर उठते हैं और मन संकल्प करता है।

दशग्रीवसे जब श्रीरघुनाथ स्वयं संग्राम करने लगे मातलिके द्वारा सञ्चालित रथ में आरूढ़ होकर, कोई देवता नहीं जो अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक उस युद्धको देखता न रहा हो, प्राण जैसे नेत्रोंमें आगये थे। यद्यपि मानव एक वर्षका दिन होता है देवताओंका, किन्तु उस समय तो पल कल्प प्रतीत होते थे। अन्ततः त्रिलोकीका त्रास अस्त होगया। छिन्न मस्तक, भिन्न हृदय दशग्रीव गिर गया रण-भूमिमें और देवता दौड़े सुरकाननकी ओर। इन अमृत पायियोंके अङ्ग श्रान्त नहीं होते और न सुरतरु कभी पुष्पहीन होता। श्री राघवेन्द्र पर गगनसे अविराम सुमन वृष्टि होती रही, जब तक पुष्पकने लङ्कासे प्रस्थान नहीं किया। पूरी समर भूमि आच्छादित हो गयी पुष्पोंसे।

पुष्पक जब लङ्कासे उत्तर चल पड़ा, सुरोंके कर विरमित हुये। उन्होंने देखा कि अकस्मात वे नन्दन वन में एकत्र हो गए हैं। अब पारिजातकी पुण्य छायामें वे पुष्प-परागके मृदुलास्तरण पर बैठ गए हैं और उनकी संकल्प वार्ता चल पड़ी है।

'हमारी व्यथाने भगवान ब्रह्माको वाध्य किया और उनके स्तवनको स्वीकार करलिया निखिल ब्रह्माण्ड नायकने। वे हमारे क्लेशको हरण करने धरा पर अवतीर्ण

हुए। वे सर्वसमर्थ, अपने कार्यके प्रति असावधान होते वे चिन्मयवपु जिनके स्मरणसे प्रमाद प्रशान्त हो जाता है ?' संकल्प चल रहे थे—'वे स्वयं अपनी कार्य पद्धति निर्णीत करते; किन्तु हम धैर्य हीन हो चुके थे। हमने उन चराचर गुरुके लिए भी कुटिल चालें चलीं। मन्थराके चित्तमें विभ्रम, महारानी कैकयीके वरदान। उन त्रिभुवन सुन्दर, सुमन सुकुमार श्रीचरणोंको पूरे चौदह वर्ष वन-वन भटकना पड़ा। हमें छोड़कर दूसरा कौन अपराधी है इसका ? अपने स्वार्थने हमें, हम सत्त्वात्मक कहे जाने वाले सुरों को अपने त्राताके प्रति अपराधी बनाया।'

'हमने चित्रकूटमें क्या किया ? श्रीरामके निज-जन अयोध्यावासियोंके चित्तमें उच्चाटन उत्पन्न किया हमने।' सामूहिक संकल्प कहना चाहिए इन्हें—'किन्तु वे अनन्त कृपासिन्धु, हमारे लिए उनके चरण कमलोंके अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं। उन्होंने हमारे किसी अपराध पर दृष्टि नहीं दी। हमारे उपद्रवोंको भी उन्होंने सेवाके रूपमें स्वीकार किया।'

'क्या सेवा की हमने उन परम सेव्यकी ? कुछ अवसरों पर सुमन वृष्टि एवं स्तवन, उन आनन्द घन, पूर्णकाम निखलेश्वरकी हम और सेवा भी क्या करते ?' चर्चाने एक निश्चित दिशाकी ओर रुख किया—'अब भी हमसे कोई सेवा बन पाती।'

'श्रीराघवेन्द्र अयोध्या पहुंच रहे हैं। हम सुमन वर्षा करेंगे। स्तवन करेंगे। देववाद्य तो देववाद्य हैं, हम उनका वादन करें, यह प्रतीक्षा उन्हें नहीं है। वे स्वयं सस्वर हो जायेंगे।' इतनी सेवासे संतोष नहीं हो रहा था,—'यह तो हम अभिषेक समारोहके अवसर पर करेंगे और प्रत्येक उत्सव, यात्रा, यज्ञादिके अवसर पर करेंगे।'

'श्रीरघुनाथ जबतक धरा पर हैं, हम नित्य सावधान रहेंगे। प्रत्येक प्राणी, पदार्थ एवं अङ्ग-क्रियादिके अधिदेवता रूपमें हम सावधान रहेंगे।' एक सुस्थिर निश्चित होगया—'कहीं कोई कलुष, कोई प्रमाद, कोई अव्यवस्था, विकृति या ह्रास प्रवेश नहीं पा सकेगा। सर्वत्र सौंदर्य, शुचिता, सुमङ्गल व्यक्त हो, सब अनुदिन अभ्युदय प्राप्त करें, निर्मल रहें, प्रभुकी सेवामें सार्थक होनेकी हमसे प्रेरणा पावें, यही हमारी सेवा।' इस निश्चयके साथ गोष्ठी विसर्जित हो गयी।

—×—

५५. गन्धर्वराज–

पाटलारुण वर्ण, दीर्घ अरुणाभ नेत्र, स्वर्णिम केशराशि, किञ्चित कृष, प्रलम्बकाय, सुकुमार सुतनु, दीर्घ कोमल करांगुलि। प्रायः गन्धर्वगण समानाकृति होते हैं। उनमें कोई खर्व काय अथवा स्थूयांग ढूँढ़े नहीं मिलेगा। अवश्य उनमें कुछ काञ्चन गौर, घन-कृष्णकेश मिल सकते हैं।

गन्धर्वराज चित्ररथके यहाँ आज एकत्र हैं गन्धर्वगण। तुम्बरू, हा हा, हू हू आदि गन्धर्व प्रमुख सभी हैं। देवगायकोंका यह समुदाय एकत्र होगया हैं गन्धर्वराज चित्ररथके यहाँ।

लङ्काकी समर भूमि पर देवताओंके साथ गन्धर्व, किन्नर, अप्सरायें, सभी थे। सबने श्रीरघुनाथका सत्कार किया था अपने अपने ढङ्ग पर। गन्धर्वोंने उन श्रीरघुवंश विभूषणका यशोगान किया और जब पुष्पक प्रस्थान कर गया, गन्धर्वराज चित्ररथने कहा था—'मित्रो ! हमें कल अयोध्या उपस्थित होना है। सामूहिक रूपमें हम कुछ निश्चय कर लें, यह क्या उचित नहीं होगा ?'

'अवश्य !' सबको यह अच्छा लगा और देव-गायकोंका समूह अपने अग्रणीके यहाँ आगया।

'बहुत दिनों तक हमें अधम राक्षसका स्तवन करना पड़ा।' गन्धर्वराजका स्वर गम्भीर था,—'अपवित्र होगये हैं हमारे स्वर, हमारे कण्ठ, हमारे वाद्य।'

'हम विवश थे ! कोई उपाय नहीं था हमारे समीप।' अत्यन्त खिन्न स्वर था तुम्बरूका—'ऋषिगण तक स्तुति करते थे पौलस्त्य दशग्रीवकी। सुरेन्द्र एवं संयिमिनीके अधीश्वर जहाँ कुछ नहीं कर सके, हम क्या कर सकते थे ?'

'हमारी विवशता सर्वेश्वर क्षमा करेंगे, यह विश्वास मुझे है, किन्तु' चित्ररथ ने एकबार सबकी ओर देखा—'हमारे राग एवं रागिनियाँ, वे क्या इस योग्य हैं कि उनकी शुद्धिके पूर्व मर्यादा पुरुषोत्तम परम प्रभुकी सेवामें उन्हें प्रयुक्त किया जाय ?'

'हमने अभी यही किया है' एक गन्धर्वने जो सबसे पीछे बैठे थे कहा—'और इनकी शुद्धि, संगीतकी शुद्धिका कोई विधान सुना नहीं गया है।'

'अभी हमने यही किया है' गन्धर्वराजने उस वक्ताकी ओर देखा। 'हम युगोंसे पीड़ित थे और जब हमारी वह विपत्ति प्रभुने दूर करदी, हम अपनेको रोक नहीं सके। हम आह्लाद विह्वल थे और दूसरी कोई बात सोचनेका हमारे पास अवकाश नहीं था। लेकिन अब हम विचार करनेकी स्थितिमें हैं।'

'सङ्गीतकी शुद्धि ?' तुम्बरूने अत्यन्त शान्त स्वरमें जिज्ञासा की।

'असुरके स्तवनसे आया कल्मष सुरोंके स्तवनीयकी स्तुतिसे शमित हो जायगा।' बड़ी सीधी बात बतायी गन्धर्वराज चित्ररथने 'श्री रघुनाथ अपनी सेवासे उतने प्रसन्न नहीं होते जितने प्रसन्न अपने जनोंकी सेवासे होते हैं।'

'श्रीरामके अनुज, भक्तोंके मुकुटमणि श्रीभरतलालका।' तुम्बरूकी बात गन्धर्वराजने पूरी करदी 'उन परम तापस मातृभक्तिके आचार्यका गुणगान स्वरोंको रागनियोंको, रागोंको, वाद्योंको और हम सबको भी परिशुद्ध कर देगा।'

'हम अभी अयोध्या चलेंगे।' एक उत्साहीं उठ खड़े हुये 'अभी इस क्षण। उन भावमयके स्तवनसे हम अब तक पवित्र नहीं हुये, अल्प प्रमाद नहीं है यह।'

'हम प्रातः कालीन प्रथम किरणके साथ अयोध्याके गगनमें उपस्थित हो जायेंगे।' गन्धर्वराजने उठनेकी कोई उत्सुकता व्यक्त नहीं की 'हमें अभीसे अपने वाद्यों स्वरों एवं अभिषेक तकके समयमें अपने इस सेवा-कार्यका पूरा निश्चय कर लेना है।'

तत्काल मन्त्रणाने दिशा बदल दी। किसका प्रिय वाद्य क्या है, किसे किसमें पराकाष्ठाका पटुत्व प्राप्त है, यह किसीसे अविदित नहीं था। किसकी आराधनाने किस राग या रागिनीके अधिदेवताको साकार किया है, इस आधार पर उस राग या रागिनीके कालमें उसके स्तवनमें प्राधान्य रहेगा, यह निर्णय हो गया।

'नृत्यागनाओंका समन्वय भी हमें प्राप्त कर लेना चाहिये।' गन्धर्वराजने यह गोष्ठी विर्सजित करदी और अप्सराओंके पास सन्देश भेज दिया।

—×—

५६. अप्सरायें—

'हम अप्सरा हैं, जैसे इसलिए हमारा कोई सम्मान नहीं। हमारी कोई भावना नहीं। हम अत्यन्त तुच्छ तृणके समान कुचल फेंकने योग्य हैं।' रम्भाके अधर आज पुनः फड़क उठे थे 'दुष्ट दशग्रीवका दर्प, मैंने बताया था उसे कि मैं आज उसकी पुत्र-बधू हूं, किन्तु वह उसका अट्टहास 'अप्सरा' ओह ! कितना व्यङ्ग, कितना तिरस्कार था उसके उस 'अप्सरा' शब्द में और उसने मुझे नितान्त तुच्छकी भाँति धर्षित किया।'

'तुम्हारे उस कष्टने कितनोंको आश्वासन दिया।' पूर्वचित्तिके स्वरमें आश्वासनका भाव था। 'वह वरदान बन गया अत्यन्त उत्पीड़िता अनेक सतियोंके लिए। दशग्रीवके द्वारा वे अपहृतायें, उस समयके कुबेर कुमारोंके शापने ही उन्हें सुरक्षित किया था।'

'मैं अपने उस अपमानको क्षण भरके लिए भी विस्मृत नहीं कर सकी।' बात सत्य थी। उसके पीछे रम्भामें उल्लास आया ही नहीं था। वह देवराजकी सभामें नृत्य करने उपस्थित नहीं हुई थी इधर युगोंसे। 'आज रणभूमिमें जब उस दुर्दमके छिन्न मस्तक भूलुण्ठित हुये, श्रृगाल उस विंशति बाहुकी भुजाओंको लेकर भागने लगे, मेरा हृदय शीतल हो गया। श्रीरघुनाथने मेरे अपमानका पूरा प्रतिकार कर दिया। यह उनकी नित्य किंकरी, इसे भी क्या गन्धर्वराजके आदेशकी अपेक्षा है। इसके शरीरका चर्म भी निकालकर कोई उन परम प्रभुकी सेवामें लाना चाहे, धन्य होजाय यह दासी। गन्धर्वराज तो नृत्य मात्रकी बात कहते हैं।'

'महर्षि विश्वामित्र कितने स्नेह, कितने वात्सल्यसे उन परात्पर प्रभुको कहते हैं 'वत्स रामभद्र।' मेनकाका अद्‌भुत गद्‌गद् स्वर 'मैं जानती हूं कि अप्सरा किसीकी पत्नी नहीं होती; किन्तु यदि हो पाती ! आज मेरा हृदय कितना व्याकुल है उस दिनके लिए, कहीं पुनः मैं महर्षिके वामाङ्गमें बैठ सकती। मुझे वह शब्द कहनेका अधिकार नहीं, नहीं, मैं उन श्रीचरणोंमें अपना मस्तक झुकाती हूं। वे श्रीराघवेन्द्र अयोध्या पहुंच रहे हैं कल। उनका वनवास मुझे पूरे चौदह दिन (मानव चौदह वर्ष) निद्रा नहीं आयी। मुझे लगता था, मेरा आत्मीय, कोई अत्यन्त स्नेहाधार ही सपत्नीक वनमें भटक रहा है। कल वे अयोध्या पहुंच रहे हैं। राज्याभिषेक होगा वहाँ उन श्रीरामभद्र ·······श्रीराघवेन्द्रका। मुझसे अधिक उल्लसित, अधिक आनन्दित और कौन होगी

गन्धर्वराज सन्देश दे रहे हैं; किन्तु मैं तो स्वयं उनसे अनुनय करनेवाली थी कि वे अपने संगीतज्ञोंका सहयोग दें इस समारोहमें और मेनका अपने पदोंकी गतिको कृतार्थ कर ले।'

'उन निखलेश्वरके अंश हैं भगवान नर-नारायण और उन श्रीनारायणके श्रीअंगसे उत्पत्ति हुई इस किंकरीकी।' उर्वशी बोल रही थी, किन्तु लगता था, वह अभी उठकर नृत्य करने लगेगी। 'यह उनकी कन्या, पिताके राज्याभिषेकमें पुत्रीको कितना हर्ष है, कोई अनुमान न कर सके तो मेरा अपराध ? पिता, हाँ मेरे पिता और मेरी माता वे जगज्जननी श्रीवैदेही।'

'हम न माता हैं, न पुत्री' तिलोत्तमा, घृताची, पूर्वचित्ति आदि अनेक एक साथ बोल उठीं—'किन्तु जो निखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं, उनकी हम भी अधम सेविकायें तो हैं ही। दशग्रीवके असह्य आतङ्कसे हमारा उद्धार किया उन प्रभुने। हमें कम उल्लास नहीं और उनकी कोई तुच्छाति तुच्छ सेवा बन पड़े, इतनी भाग्यशालिनी हम कहाँ हैं। गगन नृत्य करनेका अवसर मिलेगा हमें, अयोध्याके दिव्य गगनमें, यही क्या हमारा अल्प पुण्योदय है ?'

अप्सराओंको गन्धर्वराज चित्ररथका सन्देश मिला था। उस सन्देश वाहक गन्धर्वने कहा था—'कल प्रातः सूर्यकी प्रथम किरणके साथ अयोध्याके गगन पर हम श्रीभरतलालका गुणगान प्रारम्भ कर रहे हैं। श्रीरघुनाथके पधारते ही वह स्वागत गान बन जायेगा और राज्याभिषेक समारोह तक यह चलेगा। आप सब यदि हमें सहयोग दें, आशा है यह सहयोग मिलेगा।'

यह भी कुछ पूछनेकी बात है। किस समय गायक वर्गमें किन गन्धर्व श्रेष्ठकी प्रमुखता रहेगी, उनके साथ किसका नृत्य अधिक समन्वय कर पाता है और कौन अपने नृत्यमें उस समयके राग-रागिनीको मूर्त करनेमें अधिक प्रवीण है, इसके अनुसार अप्सराओंने भी तत्काल निर्णय कर लिया कि उनके किस समयके नृत्यका नेतृत्व कौन करेगी।

—★—

५७. ग्रह-गण—

'अपने अपकर्मोंसे ही दशग्रीव दग्ध हो गया ।' मङ्गलका रक्तिम देह उत्साहातिरेकमें अत्यन्त अरुण हो उठा था । 'उसने—उस अधम असुरने मेरी अनुजाके अपहरणका साहस किया और आशा करता था कि मैं सानुकूल रहूँगा ।'

'सत्य तो यह है कि उसने हमारी सदा उपेक्षा की और हमारी सम्मिलित शक्तिकी अपेक्षा भी उसका शौर्य सबल था । वह महान् ज्योतिर्विद्; किन्तु उसने हमारी स्थिति पर ध्यान देना कभी आवश्यक नहीं माना । हम सबकी विवशता—हम अनुकूल रहनेको बाध्य थे ।' हरिताभ, नित्य शान्त, बुद्धिके प्रेरक चन्द्र-पुत्र बुध अपनी सहज गम्भीरतासे कह रहे थे—'जगज्जननीका जब उसने अपहरण किया, मेरे लिए एक ही मार्ग था उसके लिए, बुद्धि नभसे अस्त हो जाऊँ, उपेक्षा कर दूँ उसकी और अब मेरा स्थान स्थिर हो गया है । श्रीरघुनाथ सम्राट होने जा रहे हैं, वे त्रिभुवननाथ, उन्हें कहाँ किसी नन्हें नक्षत्रकी अनुकूलता अभीष्ट है ; किन्तु जो अपनेको उनके अनुकूल न बना सके, उससे अभागा कहाँ कौन होगा ? उनका अभिषेक काल-बुधको तो वह उपहारमें सर्वोच्च स्थिति देगा ।'

'निखिलेश्वरीने मुझे गौरव दिया । धरा नन्दिनी होकर वे अनुजा हुईं मेरी ।' भूमि-पुत्र मङ्गलका आनन्द अपार था । स्वर विह्वल था । कोई सेवा नहीं कर सका मैं । श्रीकौसलेशका परा-क्रम वर्धन, उन अचिन्त्य शक्तिका कोई अभिवर्धन क्या करेगा ? मङ्गल उनके पराक्रम स्थानमें रहेगा यह गौरव मङ्गलका ।'

'चन्द्र चञ्चल गति है' आजकी ग्रहोंकी बैठक पूर्ण नहीं थी । न भगवान सूर्य थे वहाँ, न देवगुरु और न दैत्य गुरु ही, किन्तु जो थे, वे परस्पर विरोध विस्मृत कर चुके थे । अत्रिकुमार अमृत किरण भगवान सोम उल्लासपूर्ण थे इस समय 'किन्तु इस सेवकको अपनी अनन्त करुणासे उन्होंने धन्य कर दिया है । उनके नामका अंश मिला है इसे प्रसादके रूपमें और जब उनके श्रीमुखको ही नहीं, पद नखमणिको उपमा दी जाती है मेरी । मेरा गौरव मुझे ही त्रिभुवनकी श्रद्धासे परे लगता है । चञ्चल गति चन्द्र, अब्धिजा जिनकी अंश सम्भूता हैं, वे अखिलेश्वरी भी यदा-कदा दृष्टि पात कर लेती

हैं आत्मीय समझकर इस पर प्रकाश कङ्कालकी ओर ! उनके विधानका अनुगत यह उनकी सेवा तो क्या करेगा…………' स्वर आवेगमें डूब गया।

'शनि क्रूर ग्रह है। कृपा करना जानता ही नहीं यह कृष्णकाय वक्र दृष्टि; किन्तु दशग्रीवने इसे विवश कर दिया था। पवनकुमारने, श्रीराम-दूतने मुक्ति दी उस विवशता से मुझे। शनि कहाँ कृतज्ञता ज्ञापनके भी योग्य है। इसकी दृष्टि न भी पड़ती, लङ्का तो श्रीजानकीके निःश्वासोंसे ही भस्म हो चुकी थी।' सूर्य पुत्रने अपनी दृष्टि लगभग बन्द करली थी—'श्रीराघवेन्द्रने धन्य किया मेरे पिताके वंशको। अब तो शनि उनकी शरणगता लङ्काकी ओर भी देख नहीं सकता। मैं उनका राज्याभिषेक देखनेका अधिकारी नहीं, कोई खेद इसका मुझे नहीं है। अब तो प्रतीक्षा करनी है, उनके शर ही कभी कहीं अपना लक्ष्य शनिकी दृष्टिको भी अवसर देगा कि उसे देख लिया जाय।'

'स्रष्टाका अनुग्रह, हम असुर होकर भी ग्रह मण्डलमें स्थान पासके।' राहु-केतुमें से केतुके पास तो बोलनेका साधन नहीं और आवश्यकता भी नहीं। राहु उसीका तो मुख है, केतुका हृदय ही तो राहुके द्वारा अभिव्यक्त होता है, 'अपना सहयोग दिया हमने युगों तक दशग्रीवको; किन्तु उसने हमारी नित्य उपेक्षा की। दैत्यकुलका सम्मान करना चाहिए, इतना भी उस उद्धतके हृदयमें कभी आया नहीं। हम सुरोंके शत्रु, श्रीरघुनाथको सुर कौन कहता है ? वे सर्वेश्वर सबके ही तो अपने हैं। प्रह्लादके पौत्रकी पौरि पर गदापाणि कोई ओर अवस्थिति है पुर-पालक बनकर ? हमारी दृष्टिने तो इसे कभी पहिचाना नहीं। हम सर्वाधिक सानुकूल रहेंगे उनके। आज इसमें भी हमारा अपना गौरव, अपना स्वार्थ, अपनी तुष्टि ही है। वे हमारे परजन कहाँ हैं।'

'वे इन्द्र नीलमणि स्वरूप हैं मित्र !' शनिके अधर भी आज हास्यमृदु हुए—'हम आप चाहें तो भी प्रतिकूल हो नहीं सकते।'

'शुभ मणियोंकी भूमि है अयोध्या, किन्तु आज मणियोंकी अपेक्षा किसे है ?' मंगल कह रहे थे, 'वह मेरी अनुजाका पुर है और वे चन्द्र-नन्दनकी पितृ स्वसा नहीं हैं, यह वे कहने नहीं जा रहे हैं।'

आपने मुझे और बुधको भी गौरवान्वित किया बन्धु !' भगवान सोम स्वयं बोले—आपको आज भाई कहनेके स्वत्वकी स्पृहा सुरपतिको भी होगी।'

—०—

५८. सुरगुरु—

भगवान वृहस्पतिका उटज—स्वर्गमें भी उटज ही है वह। क्या हुआ कि उसके तृण नित्यनूतन रहते हैं। क्या हुआ कि वह अप्रयास स्वच्छ बना रहता है और अन्धकारका प्रवेश तो अमरावतीमें ही वर्जित है। सुरगुरु स्वभाव सिद्ध तापस हैं। उनका अपरिग्रह, उनकी तितीक्षा, उनका यज्ञकार्य एवं नियम संयम, यह तो वे क्षुद्र-काम देखें कि स्वर्ग कर्मभूमि नहीं है। नित्य निष्काम देवगुरु अपना स्वभाव छोड़ नहीं सकते। अमरावतीका वैभव धन्य है उनके पदोंमें प्रणत होकर, किन्तु वहाँका विलास देवसभामें देवके पधारने पर अप्सराओंके लास्य व्यस्त पद विश्राम पा लेते हैं। उनके कटाक्ष चञ्चल लोचन श्रद्धा विनत हो उठते हैं। अमर गुरु उपभोक्ता नहीं, श्रद्धेय हैं। कामनाओंके मस्तक पर पद निक्षेप करते चलनेवाले वे महत्तम, उनके पदोंमें प्रणत होकर सुर सनाथ होते हैं।

आज व्यस्त हैं भगवान वृहस्पति। उन्होंने अपने उटजको आज अस्त व्यस्त छोड़ दिया है। 'जानता हूं वत्स! अवध धरा आज कामदुधा है, किन्तु इस ब्राह्मणको भी तो कृतार्थ होना है।' आज भाव क्षुब्ध है देवगुरुका स्वर 'महर्षि वशिष्ठ आज विश्ववन्द्य हैं और उनके चरणोंमें आज कुछ दिव्य कुशसमित् लेकर वृहस्पति उपस्थित हो सके, अयोध्यानाथ जब सिंहासनासीन होंगे, रघुकुल-गुरुका अनुगत होनेका सौभाग्य उनके अन्तेवासियोंको प्राप्त होगा।'

'आप समित्-पाणि उपस्थित होंगे अयोध्या में?' सुरगुरुके शिष्य आश्चर्य मूढ़ रह गये। गुरुदेव कभी कुशोंकी राशि उलटते पलटते हैं, कभी समिधायें और कभी मृग चर्म। उनके आश्रमका चयन अमानव है, अणुशुद्ध है, दोष उसकी छाया का स्पर्श नहीं पा सकते, किन्तु देवगुरुको आज जैसे उसमें कुछ भी श्रेष्ठ नहीं दीखता। वे उसमेंसे दो चार उत्तम कुश, कुछ शुद्ध समिधायें पा लेना चाहते हैं। अपने अनुगतों-को चकित करनेके लिए यही उनकी चेष्टा पर्याप्त थी और अब वे क्या कहते हैं? महेन्द्र जिनकी पद रज अपने किरीट पर धारण करते हैं वे वशिष्ठके चरणोंमें आज शिष्यकी भाँति उपस्थित होंगे? महर्षि वशिष्ठ ब्रह्मपुत्र हैं, अद्वतीय तापस हैं, किन्तु सुरगुरु....

'अयोध्यामें आज भगवान भवानीनाथ भी भिक्षुक बनकर उपस्थित हो सकते हैं और स्रष्टाको सामान्य विप्र-पंक्तिमें देखकर किसीको आश्चर्य नहीं होगा।' एक बार दृष्टि उठी अपने छात्रोंकी ओर 'वृहस्पति भी इसी प्रकार जा सकता है और इसे उन

अनन्त करुणार्णवका सत्कार प्राप्त हो जायेगा, किन्तु इसका कलुष क्या इसे शांति देगा तब ?'

'आपमें कलुष ?'

'इसे सुरोंका पौरोहित्य करना पड़ता है।' क्षोभकी सीमाका स्वर स्पर्श कर गया 'मन्थराकी मति शारदाकी शक्तिसे भ्रांतकी जासकती है, यह सम्मति जिसने दी, उसके कलुष श्रीकौसल्या नन्दवर्धन नहीं देखते, यह उनका औदार्य; किन्तु उसे क्षमा मिले इसका एक ही मार्ग रहा है, महर्षि वशिष्ठ उसे अपने अनुगतोंमें स्वीकार कर लें।

'हम सब अत्यन्त उत्सुक हैं.........'

'स्वाभाविक है' स्वीकृति मिल गयी 'स्वत्व है आज यह उन समस्त प्राणियोंका जिन्हें श्रीरामभद्र प्रिय हैं। अयोध्याके कुलगुरुके अन्तेवासियोंके साथ बिना अनुमति भी तुम खड़े हो, वे महत्तम केवल सस्मित देख लेंगे, किन्तु बृहस्पति उनके श्रीचरणोंमें एकाकी उपस्थित होगा। मुझसे पहिले ही सबको वहाँ पहुँच जाना है।'

इच्छा सबकी गुरुके साथ या उनसे पीछे पहुँचनेकी थी, किन्तु 'आज्ञागुरुणाम-नुलंघनीया'। श्रीरघुनाथ अयोध्या पहुँचने ही वाले हैं और उनके विमानको अवधकी धरासे गगनमें देखनेको जो उत्कण्ठित हैं, उनके समीप इस समय अवसर कहाँ है दो क्षण विरमित होनेका।

'वृहस्पतिके साथ वह कोई शिष्टाचार तुममेंसे कोई अयोध्यामें नहीं प्रदर्शित करेगा जो यहाँ किया जाता है।' प्रस्थानाभिमुख शिष्योंको सुरुगुरुने एक अकल्पित आदेश दिया—'वहाँ हम सभी समान रूपसे महर्षि मैत्रावरुणि के अन्तेवासी हैं, यह विस्मरण नहीं करना चाहिए।'

'महर्षि इसे स्वीकार कर लेंगे ?' प्रश्न स्वाभाविक था।

'नहीं करेंगे' सुरगुरुके स्वरमें गाम्भीर्य था 'किन्तु स्वीकृति अपने अन्तःकरणकी होती है। श्रीरधुनाथके सम्मुख वृहस्पति सुरगुरुके रूपमें पहुँच नहीं सकता अपने ही कृत्योंकी लज्जासे। वह महर्षि वशिष्ठके पावन पदोंके पीछे चलकर उनके अनुगतके रूपमें ही उपस्थित हो सकता है। महर्षिकी स्वीकृति इसमें अपेक्षित कहाँ है ?'

५६. महर्षि भृगु—

'मैंने त्रिदेवोंकी परीक्षा ली थी। भगवान विष्णुका वह शील, वे मेरे पदाघातका चिह्न अपने वक्षस्थलपर धारण करते हैं।' तपोलोक ही नहीं जनलोकके भी महत्तम एकत्र हो गये थे सत्यलोकमें और उनके मध्य अपार तेजा ब्रह्मपुत्र महर्षि भृगु कह रहे थे—'श्रीनारायण अंश हैं श्रीरघुनाथके और वे परात्पर प्रभु अंशी धरापर अवतीर्ण होकर अपने वक्षपर भृगुलता धारण करते हैं। भृगुकी क्षुद्रता, उन मर्यादापुरुषोत्तमने मेरे अपराधको भी धन्य किया।'

'आपके जामाता भी तो हैं वे!' एक स्वर आया। माँ भगवती लक्ष्मीने अपने एक अवतरणमें महर्षि भृगुको पिता बनाया है। भगवान शेषशायी महर्षिके जामाता हैं और श्रीजनक नन्दिनीकी अंशभूता ही तो हैं रमा।

'वे निखिलेश्वरी' महर्षिके लोचनोंसे वर्षा होने लगी—'किन्तु जब दृष्टि उनपर जाती है, भृगुमें सदा वात्सल्य ही उमड़ता है। यह सत्य है कि सब जानकर भी श्रीरघुनाथको 'वत्सरामभद्र' कहनेमें जो उल्लास प्राप्त होता है इस हृदयको·····।'

काँप-काँप उठते रहे हैं महर्षिके कर उस क्षणसे, जबसे दशग्रीवने श्रीजनकात्मजाका हरण किया। पञ्चवटीकी उस निष्ठुर घटनाके क्षणमें ही भगवान लोकस्रष्टाने अपने अतुल तपः शक्ति सम्पन्न पुत्रको सम्हाल न लिया होता, भगवान शङ्कर तकको शाप देते जिसके पद कम्पित नहीं हुए, स्रष्टाके वरदान रक्षाकर लेते रावणकी महर्षि भृगुके शापसे? 'वत्स! तू जानता है, अधम नैकषेय श्रीजानकीके सम्मुख तक नहीं जा सकता। वे तो अग्नि-निवास कर रही हैं। यह छाया सीताका हरण, श्रीरामके अतुल यशमें व्याघात बनना तुझे रुचिकर होगा?' भगवान ब्रह्माकी यह वाणी सफल हुई थी। महर्षिके कर कमण्डलुकी ओर बढ़ते रुक गये थे; किन्तु वे रह-रहकर काँप उठते थे।

छाया सीता, निखिलेश्वरीकी अंश भूता और अंश भूता ही तो है रमा भी उनकी। महर्षिको लगता था, छाया सीता अधिक आत्मीया, अत्यधिक वात्सल्य भाजना हैं उनकी और उनके कर काँप उठते थे, 'किन्तु रामभद्रका सुयश? नहीं, दशग्रीवको शाप दग्ध नहीं ही किया जा सकता।'

आज श्रीरामके शरोंने दशग्रीवके खण्ड फेंक दिये धरापर और गाम्भीर्यके स्वरूप महर्षि तत्काल पुकार उठे थे—'वत्स, रामभद्रकी की जय।'

अब श्रीरघुनाथ अयोध्याकी भूमिपर उतरनेवाले हैं। उनका राज्याभिषेक होगा वहाँ। महर्षि भृगुको लगता है, उनके आत्मीयका ही अभिषेक है। उस समय कौशलके नवीन सम्राटको समस्त दिव्यर्षि वृन्दका आशीर्वाद प्राप्त होना ही चाहिए। अलक्ष्य आशीर्वाद नहीं, प्रत्यक्ष रहकर सम्राटके मस्तकपर हाथ रखकर दिया गया आशीर्वाद और महर्षिने स्वयं सबको आमन्त्रित किया है।

'हम सब स्वयं अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।' एक ही अभिप्राय है सबका—'अयोध्याके गगनसे श्रीराम-भरतकी भेंट देखनेकी लालसा जिस हृदयमें मचल न पड़ती हो, वज्र हृदय होगा वह। राज्याभिषेकके समारोहमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य, उसे तो तापसोंके परम गुरु भवानीनाथ भी छोड़ नहीं सकते थे।' 'आपका अनुगमन करके आज हमारी समस्त साधना सफल होती है।'

'हम महर्षि वशिष्ठके अतिथि होंगे, जब वे राजसदनसे लौट आवेंगे अपने आश्रम।' श्रीरघुनाथ यात्रा-श्रान्त होंगे और अवधके प्रत्येक प्राण आतुर हैं उनसे मिलनेके लिए। इस अवसर पर नभसे उनका दर्शन ही यथेष्ट होना चाहिए। उनके स्वजनोंके मिलन एवं विश्राममें व्याघात करनेकी बात सोची ही नहीं जा सकती। अपनी उत्कण्ठा चाहे जितनी प्रबल हो, उसे अवरुद्ध रखना होगा अभी।

'आपके उपहारोंके ही हम दर्शन करलें इस समय।' एक ऋषिकुमारने उत्कण्ठा व्यक्त की। तपः पूत अक्षय ज्योति अकल्पनीय शक्तियोंसे सम्पन्न दिव्यालङ्कार, दिव्य आभरण, सुरोंकी कल्पना भी स्पर्श न कर सके जिन्हें वे अतुलनीय अम्बर एवं नित्य अम्लान सुमन-माल्य, महर्षि भृगुकी तपः शक्तिने पता नहीं कितने उपकरण प्रस्तुत किये हैं। अनन्तः अयोध्या वे रिक्त-हस्त तो नहीं जायँगे।

'ब्राह्मणका परमोपहार उसका आशीर्वाद।' महर्षिने सामग्री सम्मुख करके भी उसमें उल्लास नहीं दिखाया—'जिनके भ्रूभङ्ग कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि प्रलय करते हैं, उन्हें कोई कङ्गाल ब्राह्मण उपहार क्या दे सकता है?'

६०. देवर्षि—

'आप तो पुष्पकके साथ यात्रा कर करते थे ?' चारों कुमारोंमें-से सनन्दनजीने कहा—'पुष्पकसे भी यात्रा करनेमें कोई बाधा नहीं थी।'

नित्य पथिक देवर्षि लङ्कासे लौटे थे। दशग्रीवके दारुण समरके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे वे और संग्राम विजयी श्रीराघवेन्द्रका प्रथम जय-घोष उनके ही स्वरने किया था। उनकी वीणाके स्वरोंने लङ्काके सुर-शत्रुको समर शय्या देनेवाले उन दूर्वादल श्याम, श्रम-सीकर शोभित दाशरथिका स्तवन किया और देवर्षि ब्रह्मलोक आ गये, किन्तु उन्हें कहीं स्थिर रहना आता कहाँ है और जबसे श्रीरामने धराको सार्थक किया है, घूम फिर कर देवर्षि उनके आस-पास पहुँचते ही रहते हैं। अब उन्हें अयोध्या पहुंचनेकी त्वरा है।

'पुष्पकमें स्थिर बैठना नारदके स्वभावके अनुकूल नहीं है।' देवर्षि अपने इन अग्रजोंको अतिशय सम्मान देते हैं। गुरुकी भाँति इनका अर्चन-वन्दन करते हैं। अत्यन्त विनम्रता पूर्वक मस्तक झुकाकर उन्होंने प्रार्थना की—'पुष्पकके साथ प्रस्थान करता तो निश्चय अधिक उल्लसित होता, किन्तु मर्यादापुरुषोत्तम परम संकोचशील हैं। उन्हें संकुचित करना किसीको प्रिय नहीं हो सकता और श्रीचरणोंमें संग्राम सम्वाद भी सूचित करने थे।'

आत्माराम, आप्तकाम, नित्यतृप्त, मायासे पार पहुँचे, पूर्वजोंके भी पूर्व ज, किन्तु सदा पाँच वर्षकी अवस्थाके शिशु बने रहनेवाले चतु:कुमारोंको किसी युद्ध-समाचार जाननेका कुतूहल ? आशंका व्यर्थ है। श्रीरघुनाथके चरितामृतके जो रसज्ञ हैं, कहाँ मिलेगा इन कुमारोंसे महान् रसज्ञ और वह समर-सम्वाद, श्रीरामचरितका वह उत्कर्ष सुननेको वे उत्कर्ण न हों, दूसरा कौन होगा ?

'धन्य हैं देवर्षि !' सनातनजीका सहज उल्लास व्यक्त हुआ—'नेत्रोंकी परम सफलता इनके सम्मुख ही मूर्त हुई और इतनी सार्थक वाणी तो देवी वीणापाणिने भी प्राप्त नहीं की।'

'किन्तु इस बार आपको एकाकी यात्रा नहीं करने दी जा सकती।' सनकजी आसनसे उठ खड़े हुए—'इस आनन्दाम्बुधिके अवगाहनमें आपको और भी सहचरोंका संग प्राप्त होना है। यह संग असङ्गताकी अपेक्षा अधिक उत्तम सिद्ध होगा।'

'आप सब चल रहे हैं ?' देवर्षिने कोई आश्चर्य व्यक्त नहीं किया। इस अवसर पर न चलनेका निश्चय कोई करे, आश्चर्यकी बात तभी हो सकती थी। 'गगनसे ही श्रीभरतलालका अपने अग्रजसे मिलन देखनेकी इच्छा थी मेरी। महाराजाधिराजके सम्मुख तो राज्याभिषेकके अनन्तर उपस्थित होना चाहता था।

'हम इस बार आपके अनुगत हैं।' सनत्कुमारजीने अत्यन्त श्रद्धाभरित स्वरमें कहा—'आप अधिक परिचित हैं अयोध्या तथा उसकी परिस्थितिसे एवं उस दिव्य धराकी प्रकृतिसे भी।'

'श्रीरघुनाथसे अपरिचय किसका और जिनके वे हृदय सर्वस्व हैं तथा जो उनके हृदय-धन हैं, उनका अपरिचय ?' देवर्षिका स्वर आर्द्र बना—'किन्तु गुरुजन शिशुओंका जो स्नेह सत्कार करते हैं, श्रीचरणोंमें सदा यह सहज स्नेह सुलभ रहा है।'

'अयोध्याकी राजसभामें जब श्रीरघुनाथ विदेह नन्दिनीके साथ सिंहासनासीन होंगे' सनत्कुमारजी ही कह रहे थे—'उनकी अर्चाका सौभाग्य प्राप्त हो नहीं सकता हमें। वे मर्यादापुरुषोत्तम, वहाँ तो उनकी अर्चा स्वीकार करनी होगी। चित्त श्रीविदेह कुमारीके पाटलारुण पादपद्मोंमें लगा भले रहे, उनके सुकुमार कर जल धारा डालेंगे और उनके आराध्यको अपने पाद प्रक्षालनसे रोका जा नहीं सकता।'

'अर्चाका सुअवसर आज है।' देवर्षिने बताया, 'नभसे सुमन वर्षा करनेमें हमें कोई रोक नहीं सकता।'

'सुर-पादपके सुमन सफल हो जायँ आज।' चल पड़े थे चारों दिग्वास नित्य शिशु देवर्षिके साथ। उन्हें स्वर्गके नन्दन काननसे कुछ सुमन भी तो लेने हैं।

'इतनी सेवाका सौभाग्य यदि स्वीकृत हो सके' कानन-रक्षकने कर बद्ध प्रार्थनाकी—'श्रीचरण स्वयं सुमन चयनका श्रम स्वीकार करना चाहेंगे ? सेवकको सेवाका सौभाग्य नहीं मिलेगा ? यदि अवधके गगनपर पुष्प-प्रस्तुत करनेकी अनुमति प्राप्त हो जाय……।

सुरेन्द्र नहीं हैं। इन त्रिभुन-वन्दनीयोंका समुचित स्वागत इस समय सम्भव है न हो सके, सेवकके मनमें पता नहीं क्या-क्या है. किन्तु ; यहाँ किसे अवसर है। अयोध्याके आकाशमें पहुंचनेकी त्वरा, पुष्प वहाँ प्रस्तुत मिलेंगे, इससे उत्तम व्यवस्था क्या हो सकती है ?

—★—

६१. भगवान भास्कर--

'उस वंशका वंशधर होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ मुझे जिसमें अवतीर्ण होना परात्पर परम पुरुषको प्रिय प्रतीत हुआ। भगवान आदित्यको अवकाश कहाँ कि वे कहीं स्थिर रहकर किसीसे कोई विचार विनिमय या बात चीत कर सकें। उनके सारथि अरुणको अपने अश्वोंको रोकना नहीं आता, आता भी होता, अश्व ही रुकना कहाँ जानते हैं। यह तो रथकी शोभा है कि उस पर अग्रिम स्थानमें सूत आसीन है; किन्तु हाथ-पैरकी अंगुलियोंसे रहित सूतसे वास्तविक सारथ्य अश्व-निन्त्रणकी आशा आप कैसे कर सकते हैं ?

अनाधार अम्बरमें आदित्यका ज्योति रथ, उसके उज्ज्वल प्रकाश पुञ्ज अश्व उस रथको अनन्तकालसे एक निश्चित मार्गपर जो वृत्तप्राय है समान वेगसे लिये चल रहे हैं। शान्त स्थिर मात्र रहना है सारथी एवं रथीको।*

आज स्तुति करनेवाले ऋषियोंको, नृत्य करते साथ चलनेवाली अप्सराको, गुण-गायक गन्धर्वराजको ही नहीं, बालखिल्य ऋषियोंको भी दिवानाथने अनुरोध पूर्वक अवकाश दे दिया था। रथको ठेलनेवाले राक्षस एवं उसकी सुरक्षापर नियत नाग आग्रह करनेपर भी गये नहीं थे, अन्यथा कहा उनसे भी गया था—'अयोध्याका महोत्सव आप सब भी देख लें आज।'

'अपने स्वामीके साथ ही हम उसे देखेंगे।' उनका उत्तर स्वाभाविक था और स्वीकृत होगया था। अरुणजी रथसे उतरना ही नहीं जानते। वे अपनी उत्पत्तिके पश्चात् सीधे जो आकर रथके सूतासनपर बैठे सो स्थिर बैठे हैं। लेकिन आज नृत्य, गीत, स्तवनका कोलाहल रथके साथ न होनेपर भी न सूतको और न सारथिको ही कुछ अटपटा लगता है। उनके अन्तरका उल्लास, उन्हें तो पूरा ब्रह्माण्ड आनन्दपूरमें उन्मज्जित होता प्रतीत होता है।

---

*आजके ज्योतिर्विद भी मानते हैं कि सूर्य स्थिर नहीं हैं। वे भी अपनी धुरी पर घूमते हुये सम्पूर्ण सौर मण्डलके साथ किसी अज्ञात महासूर्यकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। सूर्य स्थिर हैं, यह बात केवल पृथ्वीकी अपेक्षासे कही जाती है। सूर्यकी रश्मियाँ ही उनके अश्व एवं रथ हैं और अरुणको तो नित्य प्रभातमें आप देखते हैं। यह जो सूर्य-मण्डल दीखता है आपको उसके अधिष्ठाता देवता सूर्यकी बात यहाँ कहीं जा रही है।

'ऋतुएँ दशाननकी इच्छानुसार परिवर्तित होती थीं और वह भी एकही समय अत्यन्त सीमित स्थानोंपर।' कोई उपालम्भ या रोष स्वरमें नहीं था—'हम कहाँ कितना आतप प्रदान करें, इसमें स्वाधीन नहीं थे। लङ्काधिपके भ्रूभङ्गका हमें निरन्तर ध्यान रखना था।'

'लगभग मन्वन्तर व्यापिनी यह पराधीनता' अरुणने तनिक पीछे मुख करके अपने रथीकी ओर देखा—'आज वह समाप्त होगयी। मेरे अनुज जिन चतुर्बाहु नवजलधर सुन्दरका वहन करते हैं, वे गरुड़ध्वज अंश हैं श्रीराघवेन्द्रके।'

'वत्स रामभद्र !' अत्यन्त आह्लाद पूरित था दिवस्पतिका स्वर—'अरुण ! सृष्टि नियन्ताके कर अमङ्गलका सृजन नहीं किया करते। अभ्यास अनुशासन रहित होकर सुपक्व नहीं हुआ करता। उस अनुशासनमें पराधीनताके अनुभवका क्लेश, अपनी अज्ञताके अतिरिक्त वह और क्या है ? दशग्रीव सृष्टिके परम सञ्चालकका एक विधान था। अनुशासन दिया उसने और अभ्यास पुष्ट होगया, परिपक्व होगया हमारा।'

'देव !' अरुणके नेत्रोंमें प्रश्न आया, आश्चर्य आया और पता नहीं क्या आया। स्पष्ट था कि वे अपने आरोहीका तात्पर्य समझ नहीं सके थे।

'दशग्रीवके हम कृतज्ञ हैं अरुण !' भगवान आदित्य उसी आह्लाद पूरित स्वरमें कहते गये—'यह ठीक है कि वत्स श्रीरामकी श्रद्धा प्राप्त है मुझे। वे मर्यादापुरुषोत्तम, उन्हें सुरोंपर रोष कभी नहीं आवेगा, अपराध बन जानेपर भी नहीं, किन्तु वे सर्वेश्वर हैं और भक्तवत्सल भी हैं। भक्तापराध सह लेना उनकी भी सहनशीलताकी सीमासे परे है और वे अब भू-मण्डलके एकछत्र अधिपति होने जारहे है।'

'सचमुच हम कृतज्ञ हैं नैकषेय दशाननके देव !' अरुणके स्वरमें भी उल्लास आया—'उसके अनुशासनने, भयने हमें अभ्यास करा दिया कि व्यक्तियोंकी इच्छा एवं सुविधाके अनुसार ऋतुओं तथा तापका नियन्त्रण हम कैसे रख सकते हैं। अयोध्य-नाथकी प्रजाकी सेवाका सौभाग्य अब हमारा स्वत्व है।'

'आज आपके अश्व शिथिल पद हो रहे हैं।' स्मित आया भगवान भास्करके अधरों पर।

'अयोध्या समीप आ रही है, देव।' अरुणके नेत्र धराकी ओर देखने लगे थे—'कुमार भरत अपने नन्दि-ग्रामके उटजसे बाहर आ चुके हैं और पुष्पक गगनसे मन्दगति धराकी ओर चल पड़ा है।'

आगे जो दृश्य था, शब्द ही नहीं, संकल्प एवं शरीरकी सुधि भी डूब गयी उसके गाम्भीर्यमें। —×—

६२. वैवस्वतमनु—

'मानव-सन्तति परम्पराकी सुरक्षाका कार्य सृष्टि कर्त्ताने दे रखा है मुझे।' जिनके पदका स्थायित्व लगभग ७२ चतुर्युगी है और जो वर्तमान मन्वन्तरके मनु है (वर्तमान मन्वन्तरके मनु, क्योंकि मनु तो एक पद है, भले यह देवत्व जैसा पद हो) वे कह रहे थे अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे—'अपने मन्वन्तरके प्रारम्भसे ही मुझे दशग्रीवके दर्पका अनुभव हुआ। लोक पितामहने उसे वरदान दे रखा था। उसका अंकुश स्वीकार करनेके अतिरिक्त उपाय नहीं था।'

'आपपर उसका अंकुश ?' इक्ष्वाकुने साश्चर्य पूछा। क्योंकि मनुका कार्य ऐसा है कि किसी प्राणीसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं।

'जन संख्याकी कहाँ वृद्धि आवश्यक है और कहाँ उसपर नियन्त्रण रहना चाहिए, यह बात राक्षसराजकी दृष्टिमें थी और वह जानता था कि इसका प्रेरणा-सूत्र मनुके करोंमें रहता है। यों मनुकी शक्ति सीमासे वह परिचित था और इसीलिए उसने कभी प्रताड़ित करना आवश्यक नहीं माना—'किन्तु नैकषेय बढ़ते गये तथा पुण्य प्राण जनोंकी संख्या सीमित बनी रही, यह सत्य तो जगतके सम्मुख था ही।'

'समाप्त हो गयी वह रात्रिचरोंकी अतिरिक्त वृद्धि।' इक्ष्वाकुके स्वरोंमें परम सन्तोष था—'समाप्त कर दी श्रीरामने आपपर अंकुशकी वह भावना।'

'वे निखिल ब्रह्माण्ड नायक—मनु आज धन्य हैं।'

'धन्य है, यह इक्ष्वाकु और उसका वंश।' कण्ठ भर गया मनुके समर्थ सुतका—'वे जब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं, अपने गोत्रका परिचय देते अपनेको ऐक्ष्वाकु कहते हैं। इतना गौरव दिया उन्होंने·······।'

'लोक उन्हें राघव कहता हैं। रघुनाथ हैं वे तात।' दिव्यलोकसे महाराज रघुने आकर मनु एवं इक्ष्वाकुके पदोंमें प्रणाम किया—'सर्वाधिक धन्य किया उन्होंने इस जनको। वे इस रघुके ही नाथ हैं।'

'मर्यादापुरुषोत्तम हैं वे वत्स !' मनुने अपने सुयोग्य वंश प्रवर्तकके मस्तकपर अपना दक्षिण हस्त रखा—'तुम्हारे वंशधरोंके स्वामी होनेसे उन्हें रघुनाथ या राघवेन्द्र कहा जाता है। केवल इतनी व्याख्या वे स्वीकार कर सकते हैं।'

'हम आज इसीसे अयोध्याकी भूमिपर उतर नहीं सकते। उन्हें अतिशय संकोच होगा।'

'धन्य हो गयी अयोध्या ! कृत-कृत्य होगये उसके जन । सफल हो गया उसे राजधानी बनानेका हमारा श्रम । आज पूर्णत्व प्राप्त हुआ उसे । पूर्ण आज उसके अङ्कमें आ रहा है ।' मनु जैसे समाधि भाषामें बोलने लगे हों—'वह नित्यपूर्ण उसके सिंहासन पर आसीन होगा। अयोध्याका अधीश्वर, वही तो उसका शाश्वत अधीश्वर है ।'

'हम गगनसे देखेंगे श्रीराम भरतका मिलन एवं रामभद्रका राज्याभिषेक ।' इक्ष्वाकुका स्वर भी प्रेमार्द्र था—'कुमार भरतका तप, अयोध्याका नरेश अपनी उत्तरवयमें सदा तपस्वी रहा ; किन्तु अपने यौवनमें कैकेयी कुमारका तप ?' महर्षिगण भी उनके तपकी श्लाघा ही कर सकते हैं, श्रीरामके प्रेमसे परिप्लुत वह भावना-प्राण दिव्य-तप……अयोध्या विश्वकी ऐश्वर्य भूमि थी और भरतने उसके उपकण्ठको पावन तपोभूमि बना दिया ।'

'अयोध्याका राजकुमार, वल्कल वसन, जटा मुकुट, घोर तप, आर्य-नरेशको इन सबसे परिचय करना पड़ता है । प्रिय है यह परिचय उसे, किन्तु वानप्रस्थका वह तप गार्हस्थ्यके प्रारम्भमें ही, भरतके भाव स्निग्ध तपकी तुलना वानप्रस्थके तपसे कैसे की जा सकती है ।'

'पुष्पक अयोध्याकी ओर प्रस्थान कर चुका है ।' रघुने ही सावधान किया, अन्यथा यह गोष्ठी तो भरतके स्नेह स्मरणमें ही आत्म-विस्मृत हो चुकी थी । 'जटा-मुकुटधारी दो नव जलधर-सुन्दर कुमारोंका मिलन समारोह ।'

'वात्सल्य प्रेमके दो अनन्त अपार उत्तुङ्ग आलोड़न लिये महासमुद्रोंका यह सम्मिलन विश्व प्रथम देखेगा आज ।' वाणी शब्द नहीं पा रही थी । शरीर शिथिल हुआ जा रहा था—'हमारे नेत्र धन्य बनें ।'

पुलक पूरित गात, गद्‌गद कण्ठ, साश्रु-नयन, स्वेदाम्बुपूर तन, स्नेह-सिक्त रोम-रोम, वे परम-पूजनीय पूर्वज, उनका आशीर्वाद शब्दकी कहाँ अपेक्षा करता है । उनका स्नेह साकार अयोध्या नहीं पहुंच गया, यह कैसे कहेगा कोई ।

—·|·—

६३. महाराज दशरथ--

'मेरा पाप भी पुण्य बना लिया श्रीरामने।' लङ्काकी रणभूमिमें दशग्रीव-जयी त्रिभुवन-स्तुत अपने नव-दूर्वादल-श्याम सुतकी शोभा महाराजने महेन्द्रके साथ देखी थी। देवराज अनुरोध न भी करते, कम उत्सुकता थी महाराजके मानसमें। उस रक्ताक्त भूमिमें धनुषकी ज्या उतारकर वाम हस्तसे उसे भूमिसे टेके, स्थिर, शान्त, सुप्रसन्न श्रीराम। स्वेद सीकरोंके साथ उनके श्याम श्रीअङ्गपर शत्रुके रक्तके यत्र-तत्र कण, वह दिव्य छवि क्या भूलने योग्य है।

'महाराज! आपका परम पुण्य सुरोंके संकटको समाप्त करके यहाँ साकार अवस्थित है।' सुरेन्द्रने कहा था संग्राम-भूमि सम्मुख आते ही। उस समय कण्ठ असमर्थ था कुछ कहनेमें। अवश हो रहे थे महाराज स्नेहके उमड़ते प्रवाहके कारण।

'मेरा पुण्य, स्त्रीजित दशरथका पुण्य? यह पुण्य कि इसने श्रीरामसे शीलनिधि पुत्रको स्वत्वच्युत करके वन भेज दिया?' महाराजके मानसका यह शूल स्वर्ग आकर भी कहाँ जाता है—'सुरोंका, त्रिभुवनका संकट समाप्त हो गया आज। श्रीरामने उसे समाप्त कर दिया। दशरथका अपराध ही विश्वके लिए वरदान बन गया।'

'पुत्रने पिताके पापको पुण्य बना दिया। राम अपनोंके अपराधको सुकृतमें परिवर्तित करनेके सदासे अभ्यासी हैं।' महाराजका मानस आज आनन्दका क्रीड़ाङ्गण बना है। वे क्षण-क्षण विह्वल होते हैं—'पुत्रोंने दशरथके सभी अपकृतोंको सुकृत बना दिया। श्रीराम और भरत, मेरा भरत, उस सुकुमारने अपना सुर सुन्दर शरीर शुष्क कर दिया तपमें। अग्रजका स्वत्व, पिता भूल कर गये हों, भरतसे प्रमाद कहाँ सम्भव था। कैकेयीकी कुक्षिसे यह जो दिव्य ज्योति आविर्भूत हुई।'

'कैकेयी, किसी क्षुद्र कुण्ठाकी आखेट बनी वह भाग्यहीना। आजके उल्लासमें भी उसका स्वत्व नहीं।' आज महाराजके चित्तमें किसीके प्रति क्षोभ नहीं है। क्षमा करनेका प्रश्न कबका समाप्त हो चुका। आज तो वे करुणापूर्ण हो उठे हैं—'उसके हृदयमें कम उमङ्ग है? किन्तु उस उल्लासको यदि वह व्यक्त करे, कैसे करे! कहाँसे साहस पावे?'

'श्रीराम सर्वाधिक सम्मान करते हैं, करेंगे अपनी उस विमाताका; किन्तु भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न? कोई आशा नहीं कि भरत उसे क्षमा करदें। श्रीरामकी

मातृ भक्ति, उनका शील। कैकेयीका क्लेश अब उसके जीवनका अङ्ग बन गया और उसका अयश-अक्षय हो गया उस भाग्यहीनाका।'

'देवि कौशल्याका मूक तप सार्थक हुआ। उन तपोमयीका धैर्य।' महाराज आज सुराधिपके साथ नहीं जा सके थे। अमरावतीमें वे इस समय एकाकी थे। सुरेन्द्रने अनुरोध किया था; किन्तु अपनी भावधारामें अन्तर्लीन महाराजने सुना ही नहीं। उनके आनन्दमें व्याघात बनना कोई कैसे स्वीकार करता।

'भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, सुमन्त्र।' आज महाराजके मानसमें एक-एक मूर्तियाँ आ रही थीं। उनकी अपूर्ण धैर्यमयी पुत्र वधुएँ, अयोध्याके जन, श्रीरामके सखा—अश्व, पक्षी, पता नहीं क्या-क्या उन्हें स्मरण आ रहा हैं और प्रत्येक स्मृति उन्हें आत्म-विस्मृत कर देती है। प्रत्येकको महानता, प्रत्येकको भाव प्रवणता उन्हें विभोर कर देती है।

'महेन्द्र ठीक कह रहे थे। श्रीरामका भरतसे मिलन—त्रिभुवनने ऐसा अभूत पूर्ण दृश्य नहीं देखा, आगे भी नहीं देखेगा।' सहसा महाराज चौंके, 'इन नेत्रोंको भी शीतल होना चाहिए। दशरथको अपनी भूलका वास्तविक परिमार्जन देखकर शीतल करना चाहिए हृदयको।'

अमरावती संकल्प लोक है। इच्छा करते ही यान उपस्थित होगया। अयोध्या पहुंचनेका प्रश्न ही नहीं। वहाँ अब उपस्थित संकोचकी सृष्टि करेगी। गगनमें भी दूरसे देखना है उस राम-भरत मिलनको। इतनी दूरसे जहाँसे सुरोंका संसर्ग भी व्याघात न बने। पुष्पक अब अयोध्याके आकाशमें पहुंच चुका है। महाराजके यानको पर्याप्त ऊपर रहकर उसके आरोहीको देखते रहना है।

—※—

६५. देवी शारदा—

'सुरोंका सङ्कट समाप्त होगया। मेरी अपकृति उपकृति बनी। निखिलेश्वरने मेरे कौटिल्यको सेवाके रूपमें ग्रहण किया; किन्तु' श्वेत पद्मासना, श्वेतवस्त्रा, हिमोज्वलाङ्गी, हंसवाहिनी, भगवती वीणापाणिका नित्योत्फुल्ल श्रीमुख इधर पर्याप्त समयसे खिन्न था और आज भी उसपर पूर्णोल्लास नहीं था। उनकी वीणाने इधर रसराजके स्थानपर करुण रससे एकात्मकता प्राप्त करली थी। उसके स्वर दिशाओंको लास्य मग्ना नहीं करते थे, वहाँ द्रवीभाव उत्पन्न होता था, किन्तु आज जो अनन्त आनन्द उमड़ पड़ा था चारों ओर, भगवतीकी वीणा उससे असंस्पृश्य रह जाय, आज तो यह अपराध बन जायगा।

'सरस्वती सुकृतकी अधिदेवी कही जाती है। मेरा आशीर्वाद, मेरा स्पर्श यशोज्वल करता आया है सदासे सबको।' कमल दलायत लोचन भर आये—'विडम्बना यह कि उसी शारदाके स्पर्शने अक्षय अयश भाजना बनाया मन्थराको, भरत जननीको और·······ओह ! मेरी भविष्य दर्शिनी दृष्टि यह क्या देखती है ? देवि धरा-कुमारीके निर्मल चरितके प्रति अवधके लोक मानसमें यह कैसी कलुषित कुण्ठा—कैसा जुगुप्सित प्रवाद अंकुरित होनेको उत्सुक हो रहा है ?'

'श्रीरामने अग्निकी साक्षीमें जिन्हें स्वीकार किया, सुरोंकी सर्वज्ञ दृष्टि जिनके कलुषकी छायासे त्रिकाल शुद्ध श्रीचरणोंमें नित्य नम्र है, वे त्रिभुवनादर्शा, भुवन-धात्री····।' दीर्घ निःश्वास निकला उन स्वरोंको साकार करने वाले अधरोंको स्पर्श करता—'सरस्वती ! तू अपनेको कैसे अपराधहीना मान लेगी ? कोई नहीं कहेगा, किसीकी दृष्टि तेरी ओर नहीं उठेगी, यह कितनी बड़ी विडम्बना है। तेरा हृदय क्या कहेगा ? सबको सुयश देनेका गर्व करनेवाली तू और तूने अयश दिया भरत-जननीको, तू अयशका हेतु बनी श्रीविदेह नन्दिनीके। मन्थराके मानसमें तूने मतिभ्रम उत्पन्न किया और अब अवधके जन मानसका मतिभ्रम रोक लेनेकी शक्ति है तुझमें ?'

'अवधका जन मानस ?' सहसा भगवती चौंक पड़ी—'श्रीरघुनाथके निज जनोंके मानसको स्पर्श करनेमें तू कब समर्थ थी ? अब तेरा असामर्थ्य तो सामर्थ्य था ही कब ? वहाँसे तो केवल श्रीराघवेन्द्रकी इच्छाके स्वर स्फुरित होते हैं। कहाँ है वहाँ तेरा कृतित्व ? वनवासका वह काण्ड, छिः ! तू स्वयं यन्त्र नहीं थी उन सर्वेश्वरकी

इच्छाका ? उनका अप्रत्यक्ष अनुमतिका आशीर्वाद न प्राप्त होता, मन्थराकी मति तेरी नियन्त्रण सीमामें कब थी ? श्रीरामके निज परिकरोंके मानस तक तेरी गति है, कहाँ और तब तुझे यह विषाद क्यों ? वे लीलामय धरापर लीला करने आये हैं। उन मर्यादापुरुषोत्तमने कुछ लीलायेँ की हैं और कुछ लोकोत्तर मर्यादाओंको वे और मूर्त करना चाहते हैं, तुझे उनके सम्बन्धमें विचारका स्वत्व कहाँसे प्राप्त हो गया ? तू उनकी नित्य गुण-गायिका किंकरी, गुणगान कर तू उनका।'

विशादकी म्लानता जो इधर पर्याप्त समयसे श्रीमुखपर छायी थी, सहसा अदृश्य होगयी। दिशाएँ आलोकित हो उठीं उस अमल-धवल आलोक राशिसे। वीणापर शिथिल प्ड़ाकर सावधान हुआ और कोमल रागोंके अधिदेवताओंको मानो नूतन प्राण प्राप्त हो गये।

'श्रीरघुनाथ, दशग्रीव-जयी श्रीराघवेन्द्र पुष्पकसे अयोध्या पधार रहे हैं ! तू स्वयं अयोध्याकी गायिकाओंके मध्य उनकी स्वागत गायिकाके रूपमें उपस्थित हो सकती है इस समय।' हंसने पंख फड़फड़ाये और फुदककर वह स्वयं समीप आ गया। वीणा करोंमें उठ गयी। अधर उज्वल स्मितसे शोभित हो उठे। 'त्रिलोकीमें जो कंठ श्रीरघुनाथका यशोगान करना चाहे, शारदाका उसे अनिमन्त्रित आशीर्वाद ! जो कर उन श्रीराघवेन्द्रके स्वागत या सेवाकी कोई प्रस्तुति करना चाहें, सरस्वतीकी सम्पूर्ण कला उनकी सेवासे सार्थक बने।'

सहसा धरापर एक आश्चर्य हो गया। गीतकारोंके मानसमें अतर्क्य अनवरुद्ध दिव्य भावोंका स्रोत उमड़ पड़ा। स्वयं शिल्पी स्तम्भित रह गये अपने करोंकी कृतियोंका दर्शन करके। इतना नैपुण्य, इतनी गहन भङ्गिमा, जो कभी उन्होंने नहीं सोचा, जो अभ्यास उनके कर कभी प्राप्त नहीं कर सके, कवि अपने काव्य और शिल्पी अपनी कृतिपर आत्म विस्मृत हो उठा। वह क्या सोचता—'श्रीरघुनाथ लौट रहे हैं और उनके अमित प्रभावका यह आशीर्वाद।'

'धन्य हुई शारदा तू !' सरस्वती स्वयं आनन्दमग्ना हो उठीं—'तेरा संकल्प प्रभुके सुयशका साधन बना। तेरी सर्वेशके श्रीचरणोंमें उपस्थिति हुई और वहाँ उपस्थितिको अस्वीकृति मिला नहीं करती।'

अयोध्याके उस उल्लासमें अवकाश किसे था यह देखने पहिचाननेका कि उनके मध्य कौन कहाँसे, किस रूपमें कब आ खड़ा हुआ है।

—×—

६५. भगवती धरा--

'रमा आपकी किंकरी हैं, देवि' भगवती लक्ष्मीने वैसे भी कभी भू-देवीमे ईर्षा नहीं की है और जबसे आदि शक्तिके प्रति मातृत्व व्यक्त हुआ है धरा देवीमें, श्रीपद्मजाको वे अपनी पूजनीया प्रतीत होने लगी हैं और आज तो उनकी महिमा अचिन्त्य है। श्रीरघुनाथ, निखिल ब्रह्माण्ड नायक अयोध्या लौट रहे हैं। वे सिंहासनासीन होंगे ओर श्रीभूमिकुमारी साम्राज्ञी बनेंगी। पृथ्वीके पालनका व्रत लेंगे वे।

'आपका मुझपर सदासे सहोदराके समान स्नेह है, जानती हूं।' भू-देवी अत्यधिक आदर करती हैं सिन्धु सुताका—'किन्तु जबसे श्रीसीताने मुझे अपना मातृत्व प्रदान किया, अन्तरका सहज प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ करता। पता नहीं क्यों आपको देखती हूं तो मेरा वात्सल्य उमड़ता है। आप उन सर्वेश्वरीकी अंशोद्भवा हैं और उन्होंने इस गौको एक गौरव दे दिया है।'

'गौ, गौ रूपधारी बनकर प्रायः आप अपने सङ्कटके समय परम पुरुषकी शरणापन्ना होती हैं। गौ आपका एक आधिदैविक रूप है, यह सत्य है; किन्तु इसीलिए तो आप सर्वसहा हैं, अनन्त वात्सल्यमयी हैं।' रमाने—अत्यन्त श्रद्धा समन्वित स्वरमें कहा—'गौ लोकमाता हैं और उन्हें निखिलेश्वरी भी माताका गौरव देनेसे अपनेको रोक नहीं पाती हैं।'

'निखिलेश्वरी जनक-नन्दिनी श्रीराम-भामा, किन्तु देवि! उनका ऐश्वर्य मेरे अन्तरका कम ही स्पर्शकर पाता है।' भू-देवीके लोचन सहसा भर उठे—'मेरी वह भोली, भावमयी सुमन सुकुमार कन्या, वन-वन भटकना पड़ा उसे। आतप, वर्षा, वात उसे उटजमें व्यतीत करना पड़ा और अन्तमें अधम नैकषेयने जो अत्याचार किया........।'

'धराका भार उतारनेके लिए परम पुरुषको अवतीर्ण होना पड़ा। धराका भार दूर करनेको श्रीराम वनवासी बने। धराका भार मिटानेके लिए धन्या जनक कन्या राक्षस द्वारा अपहृता हुई।' दो क्षण रुककर धरा देवीका स्वर व्यक्त हुआ तो उसमें वेदना और ग्लानिका अपार प्रवाह आ गया 'धिक्कार है धराको। ऐसा क्या भार था, ऐसी कितनी विपत्ति थी। नष्ट ही हो जाती धरा दशग्रीवके अनियन्त्रित अत्याचारसे, श्रीजानकीको यह कष्ट तो न होता। सामान्य जन तक पुत्रीको पूज्या

मानते हैं। कन्याके पुरका जल तक अग्राह्य रखना चाहते हैं और लोक धारणी होकर धरा पुत्रीकी विपत्तिका मूल बनी। जिन्हें यह कन्या कहना चाहती है, कितना क्लेश दिया अपने स्वार्थके लिए इसने उनको।'

'देवि ! आप अकारण दुःखी होती हैं।' पद्मजाके विशाल दृग भी भाव-भीने हो उठे थे—'आप केवल निमित्त बनीं मर्यादापुरुषोंके अपने कार्यमें। सुरोंका संरक्षण धर्मकी मर्यादाओंकी स्थापना और आपके भारका दूरीकरण तो वे अपने संकल्पसे भी कर लेते ; किन्तु नगरमें, वनमें और लङ्कामें भी जो उनके दर्शनोंके प्यासे प्राण थे, उन्हें अपने विभिन्न आत्मीयोंके रूपमें अपनानेको जो उत्कण्ठित हृदय थे, उनका समाधान करनेका था कोई दूसरा मार्ग ? श्रीजनक-नन्दिनी लङ्का न जातीं, सरमा और त्रिजटाका तप एवं उपासना सफल होती ? वे उनके दर्शनकी अधिकारिणी हो चुकी थीं और जो सेवाधिकारणी हो चुकी, सर्वेश्वरी उन्हें वञ्चिता तो रख नहीं सकती थीं।'

'सर्वेश्वरी, देवि, मुझे वे सर्वेश्वरी कम लगती हैं और आत्मजा अधिक।' धरा देवीका मुख किञ्चित प्रसन्नता प्राप्त करने लगा—'अब तो वे जगदीश्वरी होने जा रही हैं, अयोध्या महाराज्ञी। मेरी कन्या अब मेरी पालिका बनेगी, यह आह्लाद मेरे सब अवसादको आत्मसात् कर लेता है।

'और आप मुझे अपनी कन्याका कैंकर्य देनेमें सहायिका बनेंगी।' भगवती रमाने अनुनयके स्वरमें कहा—'मेरा अनुरोध आपके चरणोंमें कभी असफल भी हो सकता है, यह मैं सोच नहीं सकती।'

'अनुरोध जैसी कोई बात भी हो।' धरा देवीके अधरोंपर स्मित आया—'अपने स्वत्वके लिए किसीसे अनुरोध करे, उसने उसे सम्मानित किया। आप अयोध्या पधारें। मैं अपने रूपमें (अधिदेव रूपमें) वहाँ जाऊँ, यह उचित हो नहीं सकता।'

'आपका वाह्य रूप ही वहाँ मेरी सेवाका माध्यम बन सकता है।' भगवती रमाने अपनी योजना स्पष्ट कर दी—'मैं और कोई सेवा कर सकनेकी शक्ति तो अपनेमें पाती नहीं, अयोध्याके पथों भवनों एवं उपवनोंकी स्वच्छता रखूँ, आपके वाह्य रूपका शृङ्गार करूँ।'

'मेरे इस रूपको ही अपने हाथों सज्जित करनेका क्या कम व्यसन है आपको ?' भू-देवीका उल्लास हास्य बना। यह संवाद अधिक चल नहीं सकता था ; क्योंकि रमाको अयोध्या पहुंचनेकी त्वरा थी।

—×—

६६. भगवान शेष—

'भूभार स्वयं शेषका भी भार तो है ।' पाताल तलमें मृणाल-गौर सहस्र-फणामौलि भगवान अनन्तके समीप आज मुनि मण्डल नहीं था। परमार्थ तत्त्व जब सशरीरी होकर पुष्पकसे अयोध्या पहुँचने ही वाला था, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार आज दुर्लभ कहाँ था कि कोई अन्तर गुहामें उसके दर्शनका उत्कण्ठित साधनेच्छु पृच्छार्थ पाताल पहुँचता। समस्त साधनोंके आदि गुरु भगवान शेष; किन्तु साधनोंकी अपेक्षा तो साध्य तक पहुँचनेके लिए है और वह साध्य आज धरापर साकार था। मुनि-मण्डल आज अयोध्या न पहुँच कर पाताल आता ? भगवान अनन्तको क्या प्रतीत नहीं होता कि उनके उपदेश ऊसर हृदयमें पड़े हैं, किन्तु उनका कोई शिष्य अनधिकारी हो कैसे सकता है।

सहस्र फणस्थ मणियोंकी काँतिसे ज्योतित पाताल प्रदेश। शान्त सुस्थिर भगवान शेष । उनके सहस्र फणोंमें-से एक पर निखिल भू-मण्डल एक सर्षपके समान स्थित है। आज पातालका यह पवित्र प्रान्त नीरव है, प्रशान्त है। मुनि मण्डल तो नहीं, ही है अपने अधीश्वरकी आराधना करने, उनके मृडाल गौर भोगको चन्दन, अगुरु, कुंकुमादि प्रसाधनोंको लेकर अपने सुकुमार करोंसे सज्जित करने लज्जारुणमुखी, हर्षचपल-लोचना, कोकिल कूजित स्वरा नागराज कुमारियाँ भी नहीं आयीं हैं। आज अयोध्याके राज-सदनकी सेवा तो सुरांगनाओंको भी दुर्लभ है; किन्तु कदाचित किसी राजकिंकरीकी सेवाका ही सौभाग्य प्राप्त हो जाय।' सबने कलही अनुमति माँगी थी और भगवान शेषने तो स्वयं भी उन्हें प्रेरणा प्रदान की थी।

'श्रीचरणोंमें यह क्षुद्रजन प्रणिपात करता है।' नागश्रेष्ठ वासुकि आये थे अपने कुछ आगुन्तुकोंके साथ। प्रायः सब महाकाय, अनेक मस्तक, मणिधर, सब अत्यन्त विनम्र थे अपने अधिष्ठाताके सम्मुख।

'प्रसन्नो भव !' प्रफुल स्वरोंमें आशीर्वाद मिला।

'आज श्रीचरण कुछ अधिक गम्भीर हैं।' सर्वथा समीप अपनी भोग कुण्डली पर स्थिर होते वासुकिने जिज्ञासा की।

'सोच रहा था कि भू-भार स्वयं शेषका भी भार तो है।' भगवान अनन्तका स्वर आर्द्र था—'मेरे परमाराध्यने अवतीर्ण होकर उसे दूर किया। उसे दूर करनेके लिए सर्वलोकाधीश्वरीने अपार क्लेश उठाये।'

'लोक-रावण रावण समाप्त हो गया। समस्त लोकोंका, स्वयं नागलोकका संकट भी दूर हुआ।' वासुकिका स्वर भी गद्गद् हो उठा—'हमारे रत्न उसने बार-बार हमारे कोषसे ही नहीं, हमारे फणोंसे बलात् उत्पाटित किये और नाग कन्याएँ, दशग्रीवने उन्हें सदा अपनी क्रीता समझा। हमारा अपमान, हमारा दमन, श्रीरघुनाथने हमें उससे परित्राण दिया।'

'उनके किसी जनकी कोई क्षुद्रतम सेवा हमसे कभी बन सके......' भगवान शेषने प्रेरणा दी।

'यह किंकर प्रमत्त नहीं है प्रभु! किन्तु निरुपाय है वासुकि।' नागश्रेष्ठने बताया कि वे अभी पिछली रात्रि भी मानव वेशमें धरापर पहुंचे—'हमारे रत्न, वे कदर्य कंकड़ियोंमेंसे भी अधिक कुरूप हो गई हैं वहाँके लिए। देवी धराने जो यत्र-तत्र रत्नराशि प्रकटकी है, कुछ क्षणोंको शिशु उनमें-से जिन्हें क्रीड़ार्थ उठा लें, वे धन्य हो गये, अन्यथा उपलोंको कौन अपने कक्षमें स्थान दे? आज तो धरापर चिन्तामणि भी मार्गमें अश्वोंके पदोंसे लुण्ठित होती है और नाग कुमारियाँ—किसी भी सेविकाकी पाद-सेवा प्राप्त होनेको वे कबसे वहाँ आतुर भटक रही हैं। भटक तो रही हैं उनके साथ सुरांगनाएँ भी।'

'आज श्रीरघुनाथ अयोध्या पहुंच रहे हैं।' भगवान शेषका स्वर प्रेमावेशमें विह्वल होने लगा।

'स्वयं भगवती लक्ष्मी सम्पूर्ण धराका शृङ्गार करनेमें व्यस्त हैं। मणियाँ लुढ़कती फिर रही हैं।' वासुकि कम विभोर नहीं थे—'अयोध्याके ही नहीं, प्रायः सम्पूर्ण धराके जन आज आनन्दमग्न हैं। अन्तरका आनन्दोदधि उमड़ पड़ा है और ऐसी अवस्थामें, कौन वाह्य उपकरणोंपर दृष्टिपात करे। स्वर्ण रत्न आज धराके मानवके लिए निष्प्रयोजन हैं। स्वर्ग और नाग लोकका सौन्दर्य उन्हें कदर्य प्रतीत हो, स्वाभाविक है, क्योंकि आज उनके मध्य स्वयं सौन्दर्य सिन्धु आगये हैं।'

'अब अयोध्यानाथ होंगे मेरे वे परमाराध्य। सिंहासनासीन श्रीजनकनन्दिनीके साथ वे नव-दूर्वादल श्याम......' वाणी विरमित होगयी। अन्तर ध्यानके आनन्दमें डूब गया।

'कभी उन्होंने ही अपने एक रूपसे उदधि मन्थन किया था। सुर और असुर जब दोनों श्रान्त हो गये, वासुकिके मुख एवं पुच्छ भागको अपने श्रीकरोंमें लेकर वे स्वयं मन्थनोद्यत हुए।' जैसे आज भी नागश्रेष्ठ उन करोंके स्पर्शका अनुभव कर रहे हों।

और आप जानते हैं, जब दो भाव भरे प्राण एकत्र हुए हैं, उनके प्रेष्ठकी यह परस्पर चर्चा शीघ्र समाप्त होनेकी नहीं।

—※—

६७. दैत्यराज बलि—

'लीलामय !' नियमानुसार दैत्यराज बलि प्रातःकाल अपने द्वार पर भगवान वामनकी चरण बन्दना करने पहुंचे थे। सुतलका वह द्वार देश, ज्योतिर्मय मणियोंसे नित्य उद्भासित गदापाणि भगवान वामनका निवास स्थल, बलिने रत्न भूमिमें सम्पूर्णाङ्ग प्रणत होकर अपने किरीटसे उन उरुक्रमके पादाग्रका स्पर्श किया और तब बद्धाञ्जलि सम्मुख स्थित होगये।

'आज दैत्यराज कुछ विशेष कहना चाहते हैं ?' नित्य प्रसन्न बामन भगवानने देखा अपने उन अपार अनुग्रह भाजन दैत्य पतिकी ओर।

'दशग्रीव आपके श्रीचरणोंमें स्थान पा चुका। वह जब यहाँ आया था और आपने अपने पादाग्र स्पर्शसे उसे सहस्र योजन ऊपर फेंक दिया था, मुझे लगा था कि इन पादपद्मोंमें ही उसे स्थान मिलना है।' बलि गद्‌गद् कण्ठ कहते रहे—'किसी प्रकार कोई भी आपके सुयशके श्रुत स्पर्शमें भी आ जाने पर जब अन्ततः आपको प्राप्त कर लेता है, जिसे स्वयं आपने श्रीचरणोंसे स्पर्श किया……।'

'आपने दशग्रीवको तब जाना नहीं था। स्रष्टाके नित्य कुमार पुत्रोंके शापसे भगवान नारायणके द्वारपाल आसुरी योनिको प्राप्त हुए तीन जन्मके लिए और आपके कुल-पुरुष रूपमें वे आये।' भगवान वामनने रहस्यका आवरण उद्घाटित किया।

'दशग्रीव तथा सम्भवतः कुम्भकर्ण, द्वितीय जन्म था उनका।' दैत्यपतिने बात समझ ली—'श्री, सम्पत्ति, सुयश एवं पराक्रमके मूल स्थान आपके श्रीचरण हैं। मेरे कुलपुरुष और लङ्काका दुर्दम अधीश, सुरासुर-जयी, उनका शौर्य, वह शौर्य स्वयं पुकारता है कि वह आपके श्रीचरणोंसे आया है। निजजन हैं वे आपके।'

'अहङ्कार जीवको परिसीम बना देता है और भ्रान्त भी।' भगवान वामन कह रहे थे—'और जब किसीका अह किसी पावन प्राण भक्तको पीड़ा देने लगे, उसके शौर्यको समाप्त होना ही पड़ेगा। दशग्रीव यहाँ प्रह्लादके पौत्रको पराजित करने आया था और लङ्कामें उसने विभीषणको निर्वासित किया।'

'अपने प्रथम जन्ममें अपने महाभागवत पुत्रका विरोध ले गया उन्हें और इस दूसरे जन्ममें पुत्रवत् पालनीय अनुजसे शत्रुता करली गयी।' दैत्यपतिके लोचन भर आये।

'लङ्का सुरक्षित है वत्स।' भगवान वामनने प्रसङ्गकी दिशामें परिवर्तन किया—'विभीषण कल्पान्त अमर हैं और सुर भी अब उनका सम्मान ही कर सकते हैं।'

प्रह्लादका पौत्र जैसे यहाँ श्रीचरणोंसे रक्षित है और उसका अतिक्रमण करनेका साहस किसीके भी चिन्तन सीमासे परे हो गया है।' बलिने पुन: मस्तक रखा उरुक्रम प्रभुके पदोंमें—'हम तामस प्राण दैत्य, राक्षसों पर आपका यह अनुग्रह !' असुरोंको आपने आत्मीय बनाया अपना !'

'दशग्रीवको तो परात्पर प्रभुकी कृपा प्राप्त हुई और अब विभीषण उनके निजजन हैं।' भगवान वामन कह रहे थे।

'आज वे श्रीरघुनाथ अयोध्या पहुंच रहे हैं। धरा उनके द्वारा अब रक्षित होगी।' बलिको कुछ स्मरण आया—'धन्य था दशग्रीव, वह ठीक सम्राट था। उसके जयीने अपनी विजय वरमालाको स्वीकार करके उसकी स्थितिको सम्मानित किया है।'

'लेकिन यह मत कहो वत्स कि तुम्हारा इन्द्रत्व लेकर मैंने तुम्हारे स्वत्वको स्वीकार नहीं किया।' भगवान वामनके स्वरमें अपार स्नेह था—'वह अब भी तुम्हारा स्वत्व है। पुरन्दर केवल इस मन्वन्तरमें अधीश्वर है वहाँका। अमरावतीको तुम्हारे संरक्षणमें धन्य होना है।'

'धन्य तो मैं आज हूं। यहाँ हूं। मेरे आराध्य नित्य मेरे सम्मुख हैं। मेरे समीप हैं।' बलिका स्वर गद्‌गद् हो गया—'आपके श्रीचरणोंके सान्निध्यकी अपेक्षा जिसे त्रिभुवनका वैभव मुग्ध करे, मूर्ख है वह। मैं तो आज धराके भाग्यकी बात कह रहा था, किन्तु सुतलको वह सौभाग्यतो नित्य प्राप्त है।

'धरा पर आज निखिल ब्रह्माण्ड नायक प्रत्यक्ष विराजमान हैं। वे अयोध्या आरहे हैं आज। उनके आगमनका सुतल स्वागत कर सकता है अपनी भावनामें।' भगवान वामनने एक सुझाव दिया।

'उन लीलामयका एक वपु अयोध्यामें और दूसरा वही नवदूर्वादल श्याम शरीर सुतलमें।' बलिने अपनी भावना व्यक्त की—'सुतल आज अपने अधिष्ठाताकी अर्चा करेगा।'

'दैत्यराज, वे अंशी हैं। उनका कोई अंश उनका स्थान नहीं ले सकता।' भगवान वामनने भाव भूमि प्रस्तुति की 'सुतल उनके सम्मानमें उत्सव मनावे आज और हम सब उनका स्मरण करें।'

बलिने प्रणिपात किया। उनके अनुचर महोत्सवकी प्रस्तुतिमें लग गये।

—★—

६८. सूर्पणखा—

'आपको यहाँ कोई कष्ट, कोई असुविधा नहीं होगी। सम्पूर्ण सम्मान प्राप्त होगा आपको यहाँ। मेरी माताके समान आप मधुपुरीमें निवास करें।' लवणासुरने स्वागत किया था अपने यहाँ आने पर सूर्पणखाका और वह उसके अन्तःपुरमें सम्मान पूर्वक रहने लगी थी। वह छिन्न कर्ण-नासिक अमङ्गलरूपा, किन्तु असुर लवण कहाँ मङ्गल अमङ्गल मानता है। अपनी मातृष्वसा (मौसी) के प्रति वह पर्याप्त विनम्र है।

'बिभीषणने भी तो कहा था कि पिछले द्वेषको भूल जाओ और सुख पूर्वक लङ्कामें रहो। न तुम्हारा कोई असम्मान करेगा और न तुम्हें कोई असुविधा ही होगी।' सूर्पणखा लङ्का रह नहीं सकी थी। वह मधुपुरी चली आयी थी, किन्तु उसके हृदयको जब शान्ति मिले। 'विभीषण अब लङ्काधिप बन गया है। वह सीधा है, सच्चा है और अन्ततः भाई है। भाई, किन्तु सदासे बचपनसे वह मुझे भिड़कता आया है। वह भी क्या राक्षस कुलके योग्य है। अब वही राक्षसेश्वर हो गया।'

'सूर्पणखा सुख पूर्वक सम्मान पूर्वक निवास करे। लवण भी यही कहता है। सूर्पणखा शान्ति पूर्वक रहे! सुख पूर्वक रहे!' अब और रह भी क्या गया है इस भग्नकपाला कुरूपके भाग्यमें।' अपनेको अत्यन्त विवशा अनुभव करती है यह राक्षसी और अत्यन्त चिड़चिड़ी हो गयी है!

'वह दिन, वह जीवनको दावाग्नि-दग्ध करने वाला दिन। उस दिनको भी क्या भूला जा सकता है, जब मैं पञ्चवटीमें भटक गयी थी। अपने शासित प्रदेशका ही भ्रमण कर रही थी, कोई अपराध तो कर नहीं रही थी मैं।' निरन्तर अन्तरमें यही सब आवृत्ति करता रहता है। 'कोई बतावे मेरा अपराध? मैं आर्या नहीं हुं, राक्षस-कुल-कन्या हूं। कोई आर्या, कोई सुरांगना आवे और उन दोनों अवध राजकुमारोंको देखकर अपना हृदय स्थिर रख सके तो·········वह नवदूर्वादल श्याम और वह स्वर्ण गौर, दोनों भाई जैसे सौंदर्यके सारसे निर्मित हैं। उनके वे अरुणाभ दीर्घदृग, वे विशाल बाहु, वह सुपुष्ट वक्षस्थल। सूर्पणखा तो राक्षसी है। जो प्रिय लगे उसे पा लेना, किसी भी प्रकार पा लेना इसके कुलका निसर्ग सिद्ध स्वत्व है।'

'वे प्रिय लगे, प्राण तो अब भी उनमें ही लगे हैं। है कोई त्रिभुवनमें सती जो उन दोनों भाइयोंको देखकर अपने सतीत्वका गर्व कर सके ? राक्षसी सूर्पणखा, किन्तु उस अत्यन्त कृशकाय जनककी कन्याने मेरा सब मनोरथ चौपट कर दिया । वह न होती, यह कैसे कहा जा सकता है ?' यह भ्रम अपने मनसे निकाल नहीं पाती यह राक्षसी और इसीलिए इसका श्रीविदेह-नन्दिनी पर अपार रोष है।

'मैं उस छुई-मुई-सी गौरांगीको पेटमें पहुंचा ही चुकी थी, एक क्षणका बिलम्ब हो गया और छोटे कुमारने·······बड़ा निष्ठुर है वह गौर कुमार ! वह जितना मधुर दीखता है, उतना ही तीक्ष्ण है।' लेकिन चाह कर भी सूर्पणखाके मानसमें उन श्याम-गौरमें-से किसीके प्रति क्रोध नहीं जागता।

'खर-दूषण मारे गये थे। कितना कहा था मैंने हतभागे दशग्रीवसे कि इस जनककी कन्याका कलेऊ कर लेने दे मुझे। यही सम्पूर्ण उत्पातकी मूल है। यह जहाँ रहेगी, विनाश बुलावेगी, किन्तु वह अन्धा होगया था। उस पर भी जादू चल गया था उस छुई-मुईके रूपका। उस महानागकी शिरोमणिको अपनी बनानेका लोभ, मृत्युने अपना बना लिया उन सबको, जिसने उस मणिकी ओर हाथ बढ़ाया अथवा जिसने भूलसे भी हाथ बढ़ानेवालेका साथ दिया।'

'सीताने राक्षस कुलका सर्वनाश कर दिया। मिट गया उस प्रदीप्त दीप-शिखा का शलभ बनकर दशग्रीव।' सूर्पणखा जैसे विक्षिप्त हो गई है। वह अपने एकान्तमें बाल नोचती है, दांत पीसती है, मुट्ठियाँ बाँधती खोलती है 'मैं उसे पीसकर रख देती। ऐक ग्रासमें निगल लेती। मेरे सम्पूर्ण कुलके विनाशकी मूल और अब वह साम्राज्ञी बनेगी । वह अब अयोध्याके सिंहासन पर आसीन होगी रामके साथ। राम·······राम·······लेकिन सीताने रामको मेरा नहीं होने दिया। लक्ष्मणको भी मेरा नहीं होने दिया।'

'सुख पूर्वक, सम्मान पूर्वक रहे सूर्पणखा । अब और बचा ही क्या है इसके लिये ?' अभागिनी सूर्पणखा पागल होगयी है। वह कभी राम, कभी लक्ष्मण और कभी सीताका नाम लेकर बड़बड़ाती रहती है।

---

६६. लवणासुर—

'असुरोंमें जहाँ भी आर्य रक्त आया, आर्योंका अविचार भी आया ही और वही अविचार ले डूबा।' असुर लवणकी विचार शैली सबसे भिन्न है। यह दशग्रीव ऋषि पुलस्त्यकी परम्परामें थे और इसलिए वह मिथ्याभिमान उनमें पूरा प्रकट हुआ जो आर्योंका अपना विशेष दुर्गुण है। दिग्विजय मिथ्या अहंकारके अतिरिक्त और क्या है? कोई अनुपस्थित है और उसके सेवकोंने कर दे दिया, आपने मान लिया कि वह विजित होगया। किसीको स्रष्टाने अथवा अन्य किसीने समझा दिया, वह अपने शीलके कारण उपरत होगया युद्धसे, आप अपनेको विजयी घोषित करते फूले नहीं समाते। मिथ्या तुष्टि! अविचार ही तो है यह सब।'

'अपने ही स्वजन, सम्बन्धी, सहायकोंसे संघर्षरत होकर शत्रुता कर लेना—यह आर्योंकी अज्ञताको ही शोभा देता है।' लवण युद्ध प्रिय नहीं है। वह यशेप्सु नहीं है। इसलिए उसे अपने शासन क्षेत्रकी सीमाके विस्तारार्थ होनेवाले युद्धोंमें अरुचि है और दशग्रीवने जो दैत्य-दानवोंसे संग्राम किये थे, कभी क्षमा नहीं कर सका वह इसके लिए राक्षसाधिपको। 'मातामहमें यह दुर्व्यसन पराकाष्ठा पर पहुंच गया था।'

'मातृष्वसा सूर्पणखा, उनकी उत्तेजना व्यर्थ है। वे लवणके समीप सम्मानपूर्वक रह सकती हैं तो लङ्कामें भी रह सकती थीं। उनका रोष समझमें आने योग्य है; किन्तु उनके प्रतिशोधके लिए सर्वनाश आमन्त्रित तो नहीं किया जा सकता।' लवणमें कहीं जाकर युद्ध करनेकी वृत्ति नहीं है। 'आर्य अपनी स्त्रियोंके लिए झट मरने मारने पर उतर आते हैं, यह लोक-सिद्ध बात है और रामने अकेले खर-दूषणको ससैन्य मृत्युके घर भेज दिया था, यह तथ्य उपेक्षा करने योग्य नहीं था। कोई दैत्य, दानव या राक्षस किसी विशेष नारीके पीछे ऐसा उन्मत्त क्यों बने कि अपने कुलकी सत्ता ही शङ्कास्पद हो जाय?'

'मातामह विभीषणने विवेकका परिचय दिया।' लवणको भी रामसे कोई व्यक्तिगत शत्रुता या प्रेम नहीं। वह अपने भोगों तक रुचि रखने वाला प्राणी है। उसकी गणना स्वसुख-जीवी वर्गमें होनी चाहिए। उसके आखेट' भोजन, शयन एवं भोगमें व्याघात न पड़े, बस। विश्वमें सृष्टि हो या प्रलय, लवण इस पचड़ेमें नहीं पड़ेगा। 'अब लङ्कामें राक्षस कुल निश्चित रह सकता है। अपने स्वजन सुखपूर्वक रहें, इससे अधिककी चिन्ता असुर कुलके उपयुक्त नहीं है।'

'राम आज अयोध्या पहुँच रहे हैं। उनका राज्याभिषेक होगा और तब उन्हें अश्वमेध यज्ञकी सूझेगी, सूझेगी ही और न भी सूझे तो ये जटाधारी ऋषि क्या उन्हें शान्तिसे बैठने देंगे ? अश्वमेध यज्ञके लिए आवश्यक है दिग्वजय।' लवणने इस विषयमें भी बहुत गम्भीरतासे कभी विचार किया हो; ऐसी कोई बात नहीं है। चिन्ता करना उसका स्वभाव नहीं। 'कोई मधुपुरी न आवे, मेरे सिरमें क्यों दर्द हो ? बिना यहाँ आये किसीका अहंकार तुष्ट हो जाय मधुवन विजेता अपनेको मानकर, मुझे क्या वाधा और मेरी अनुपस्थितिमें कोई मेरे सेवकोंसे कुछ पशु चर्म लेकर अपनेको विजयी मान ले, संतुष्ट रहे उसकी मूर्खता।'

'कोई मेरे रहते भी तो सचमुच संग्राम करने आ सकता है।' इस सम्भावना पर यह मदान्ध असुर अभीसे सोचे, आप ऐसी आशा नहीं कर सकते। उसने टाल दिया इस चिन्ताको 'अयोध्याका अधिपति इतना अज्ञ नहीं हो सकता कि उसके चर युद्धसे पूर्व शत्रुका सम्वाद उसे न दे दें और तब उसे ज्ञात हो जायगा कि मधुके पुत्रके पास भगवान पुरारिके करोंसे प्रदत्त वह त्रिशूल है, जिसके पराभवकी बात ब्रह्माने मनसे भी कभी नहीं सोची।'

'श्रीराम अयोध्या आ रहे हैं। उन्होंने निशिचर हीन करौं महि' की शपथ ले रखी है। दण्डकारण्यके दुर्दम राक्षस उनके शरोंकी अग्निमें आहुति बन गये। दशग्रीव अपनी असीम शक्ति एवं असंख्य अजेय अनुचरोंके साथ सो गया संग्राम भूमिमें। लङ्काका राक्षस कुल, लवणका अपना ही मातृकुल श्रीरामने ध्वंस कर दिया और वे अब अयोध्याके सम्राट होंगे, पृथ्वीके एक छत्र चक्रवर्ती सम्राट।' असुर लवणको इस सबकी कोई चिन्ता नहीं। उसे न रोष है, न भय।

लवण भी निश्चिर है। लवण भी ऋषि मुनियोंका भक्षक है। लवण भी देव-द्विज-द्रोही है। चक्रवर्ती सम्राट अपनी दिग्विजयमें अपवाद अङ्गीकार नहीं किया करते और लवण रहे तोश्रीरामकी शपथ अपूर्ण रहती है। लवणका त्रिशूल, रावण, मेघनाद आदिके पास क्या कम अमोघ अस्त्र थे, किन्तु लवण यह कुछ नहीं सोचता। मृत्यु सिरपर देखकर मौज मनानेवाले जीवोंमें लवण, वही आज ऐसा धरापर जिसका नित्यक्रम निर्बाध है।

—※—

७७. दानवेन्द्र मय—

'मेरे आराध्य अयोध्या पधारे हैं।' कज्जल-कृष्ण-वर्ण, वज्रदेह, विशाल भाल, आजानु लम्बबाहु, मायावियोंके परमाचार्य, असुर महाशिल्पी दानवेन्द्र मय आज कुछ अद्‌भुत रूपसे गम्भीर हैं—'त्रिपुर नष्ट करके भी जिन करुणार्णवकी कृपाने मयको इस तलातल लोकका वैभव प्रदान किया, रसाके इस चतुर्थ लोक* में रहते हुए भी जिनके अमित प्रभावके कारण श्रीहरिका महाचक्र मुझे और मेरे अनुगतोंको संन्त्रस्त नहीं करता, वे गङ्गाधर चन्द्रमौलि आज अयोध्या पधारे हैं जगदम्बाके साथ।'

'श्रीराम अयोध्या आ रहे है। श्रीजनकनन्दिनीको लेकर पुष्पकसे आज वे पहुँचनेवाले हैं अयोध्या।' मयके मनमें कोई अमर्ष, द्वेषादि नहीं है। वह महाप्राण, उसने सदासे शौर्य एवं सद्‌गुणोंका सम्मान करना ही सीखा है—'आना ही चाहिए था श्रीरामको। मेरे आराध्य कहते हैं वे परात्पर प्रभु हैं। सर्वेश्वर, सर्व-समर्थ हैं। वे ऐसे न भी होते, उन्हें आज अयोध्या पहुँचना ही था। भरतके समान संयमी, तपःशील, अनन्य प्राण जिसकी एकान्त तल्लीनतासे प्रतीक्षा करेगा, स्रष्टा स्वयं भी उसके मार्गमें बाधा देनेमें समर्थ नहीं हो सकते।'

दशग्रीव दग्ध होगया रामके रोषानलमें।' मय इस प्रकार सोच रहे हैं, जैसे दशग्रीवसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं; किन्तु उन स्थित प्रज्ञसे आप और कोई आशा कैसे कर सकते हैं। जब भगवान त्रिलोचनने त्रिपुर भस्म कर दिया, मयके अपने तीन पुत्र और उनकी सन्तति ही भस्म हुई थी उसमें और तब भी मयने इसी तटस्थतासे सोचा था—'यह तो होना ही था। जन-जीवनसे शत्रुता करके किसीका भी शौर्य कितने दिन सकुशल रह सकता है?'

'दशानन तो सतियोंके शापसे ही मुग्ध हो चुका था।' आज भी दानवेन्द्र उसी तटस्थतासे सोच रहे हैं—'भूमिजाका हरण करके तो उसने अपने औधत्यकी सीमा

---

*पुराणोंके अनुसार पृथ्वीके नीचे सात लोक हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—१. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. तलातल, ५. महातल, ६. रसातल, और ७. पाताल। इनके अधिपति क्रमशः हैं—१. मयपुत्र बल, २. हाप्केश्वर शिव, ३. दैत्येन्द्र-बलि, ४. दानवेन्द्रमय, ५. काद्रवेयसर्प, ६. निवातकवच राक्षस, ७. शेष, वासुकि आदि नागेन्द्र।

कर दी। मैंने उसे जामाता बनाया था, उसका शौर्य मेरी पुत्रीके मनको जब मुग्ध कर चुका, मेरे पास और मार्ग भी क्या था।'

'इसका सम्मान करोगे दशग्रीव तो समृद्धि तुम्हारे चरण चूमेगी और आपत्ति स्वयं तुमसे आतङ्कित रहेगी।' मैंने कन्यादानके समय जो निर्देश दिया था, उस मन्दप्रज्ञने समझा होता उसके मर्मको।' मयकी चिन्तन परम्परा चलती रही—'मन्दोदरीका कभी असम्मान नहीं किया उसने, किन्तु मन्दोदरीकी मान्यताका, उसकी भावनाका सम्मान कभी नहीं कर सका वह। सुर उसके सदाके सेवक थे और श्रीराम, उनका आशीर्वाद होता उसके साथ।'

'श्रीरामका कृपा प्रसाद विभीषणको प्राप्त हुआ, दशग्रीवके लिए वह कहाँ दुर्लभ था, किन्तु स्रष्टाका विधान बदला तो नहीं जा सकता।' मयका मन अविचल बना रहा—'विभीषणको प्राप्त हुआ श्रीरामका वरद हस्त और दशग्रीवका वैभव। वह वैभव, लंकाका शासन तो नित्य प्राप्त था विभीषणको। वह सौम्यशील, मन्दोदरी उसका वरण न भी करती, लंकाकी महारानी तो वह थी ही। विभीषण अब भी उसके सम्मुख अवनत वदन ही आवेगा और तब भी उसकी आज्ञा अप्रतिहत होती।'

'मन्दोदरीने वरण कर लिया विभीषणको, मेरी नित्य कन्या, मानवर्धिनी पुत्री, राक्षस-कुल आज अनाथ हो गया है। विधवा रक्षोकुल वधुएँ, आश्वासन आवश्यक है उनके लिए।' मयका चित्त स्थिर शान्त है—'श्रीरामने लंकाका अधीश्वर विभीषणको बनानेका वचन दे दिया और मेरी पुत्री वर्तमान व्यवस्था न स्वीकार करती, विभीषणका शीघ्र सिंहासनपर बैठने देता उन्हें।' असुर कुलकी परम्परामें अनुचित ही होता यदि वह आग्रह करती कोई दूसरा। वर्तमानकी सेवा और वर्तमानमें पूर्ण सन्तोष, हमारा वह आदर्श महत्वशाली तो नहीं है।'

'लङ्काकी उचित व्यवस्था हो गयी। विभीषणने अयोध्या आकर इस समय उत्तम कार्य किया।' सहसा चिन्तनकी धाराने दिशा परिवर्तन किया। मेरे आराध्य कहते हैं—'श्रीराम परात्पर प्रभु हैं। मेरे आराध्यके परमाराध्य। धन्य हो गया विभीषण उनके श्रीचरणोंका सान्निध्य पाकर, किन्तु यह मय, मय यदि अयोध्या जावे. सुरोंका समुदाय एकत्र है इस समय वहाँ। देव शिल्पी विश्वकर्मा अपनी कलाको कृतार्थ करनेमें लगा है। मयको आज कहाँ अवकाश मिलना है। उसे वहाँ सेवाका सुअवसर मिले. कोई सम्भावना नहीं। अपनी उपस्थितिसे वह केवल चौंका देगा देववर्गको और संकोच होगा मर्यादा-पुरुषोत्तमको।'

'मय अयोध्या नहीं जायगा।' निश्चय करनेमें आधा क्षण लगा—'जो परात्पर प्रभु है, वह सर्वज्ञ है और अनन्त करुणार्णव है, मय प्रतीक्षा कर सकता है और यदि मयकी प्रतीक्षा प्रवञ्चनामयी नहीं है, इस दानवको भी अपनी सेवाके सुअवसर देनेसे वञ्चित करनेकी शक्ति उस सर्व समर्थमें नहीं हो सकती।'

मय शान्त होगये। निश्चिन्त होगये वे और कौन कह सकता है कि उनके इसी निश्चयने द्वापरमें मयूर मुकुटीको विवश नहीं किया कि दानवेन्द्रसे वे पाण्डव-राजसभाके निर्माणका सादर अनुरोध करें।

—·|·—

७१. आचार्य शुक्र—

'दशग्रीव शक्तिशाली था, समर्थ था और शास्त्रज्ञ था।' दैत्य गुरुका कोई विशेष सम्पर्क नहीं था रक्षोधिपसे। रावणने किसीको श्रेष्टत्व देना कभी स्वीकार नहीं किया था, किन्तु सदासे आचार्य शुक्रको पराक्रमी प्रिय लगता है। दशाननका शौर्य उनका स्नेह प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया था। वे मन ही मन उसपर अनुराग रखते थे। आप यह भी कह सकते हैं कि सुरोंके प्रति उनकी जो अप्रीति है, सुरोंके शत्रुका उत्कर्ष उसे अपनी प्रीति बना लेता है।

'दर्प उसे ले डूबा। उसने समझा नहीं कि शास्त्रज्ञ भी यदि शासक हो तो उसकी दृष्टि सुस्थिर नहीं रह पाती। उसे एक शान्त, स्वस्थ चित्त दृष्टाकी आवश्यकता होती है। अन्यथा हिरण्यकशिपुका कुल ही कहाँ शास्त्र ज्ञान शून्य है।' यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दैत्यवंश आचार्यके चरणोंकी सेवा करके विश्वको, अपने शत्रु सुरोंका भी श्रद्धा भाजन बन गया है। दैत्येन्द्र बलिके सौभाग्यकी त्रिभुवनमें समता नहीं।

'विभीषण तथ्य द्रष्टा था लंकामें, किन्तु शासककी श्रद्धा जब तक ऐसे दृष्टिवानको प्राप्त न हो, उसके तथ्य दर्शनका कोई अर्थ नहीं हुआ करता। उसकी उपेक्षा, अन्ततः विभीषणकी उपेक्षा हुई और मार्ग-द्रष्टाकी उपेक्षा विपत्ति न बने, ऐसा सम्भव नहीं है।' आचार्यको स्मरण आया कि उनके शिष्यने भी एक दिन उनकी, उनके आदेशकी

उपेक्षाकी थी। स्वर्गका साम्राज्य छिन गया उससे। यह दूसरी बात कि उसने जिसके लिए यह उपेक्षाकी वह धर्म था और धर्म तथा सर्वेशका आश्रय सदा मङ्गलका ही सृजन करता है। बलिको उसके धर्मने बचाया।

'अब विभीषण लङ्काधिप है।' आचार्य शुक्रको कोई अभिरुचि नहीं इस तथ्यमें विभीषण—सुरोंका समर्थक शान्तप्राण विभीषण आचार्यके चित्तको आकृष्ट नहीं। करता। वे उससे तटस्थ प्राय हैं।

'लङ्काका शौर्य समाप्त हो गया। अयोध्या अब अवनीका केन्द्र है, त्रिभुवनका केन्द्र कहना चाहिए।' दैत्यगुरुका चित्त आज शान्त है। उसमें उल्लास नहीं है; पर क्षोभ भी नहीं है।

अवश्यम्भावी है अयोध्याका उत्कर्ष।' अयोध्याके धर्मप्राण, शान्ति-प्रिय, संयमी नागरिक अच्छे लगते हैं आचार्यको। स्वभाव-शान्त, श्रद्धा-सेबित, कला-प्राण आचार्यका आशीर्वाद है अयोध्याके जनोंके साथ और वहाँकी कोमल कला उन्हें परमप्रिय है।

'श्रीराम आज अयोध्या पहुँचेंगे। लंका विजयके सुयशसे दिशाओंको उज्वल करके अब अयोध्याके आकुल प्राणोंको उन्हें शान्ति सुख प्रदान करना है।' तनिक गम्भीर हो गया आचार्य शुक्रका उज्वल श्रीमुख।

'श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। सुरोंका संकट उन्होंने समाप्त किया है। सुर अनिमन्त्रित अयोध्या आ सकते हैं उनके राज्याभिषेकमें। शुक्र अनिमन्त्रित तो नहीं पहुँच सकता। सुर और सुर-गुरु जहाँ आ रहे हों, शुक्र स्वयं पहुँचे, अपमान ही तो होगा उसका।' आचार्य शुक्र सदाके मानधनी हैं। वे शान्त स्वभाव, धर्मप्रिय, शास्त्र-श्रद्धा सम्पन्न होनेपर भी असुरोंके आचार्य एवं उनके रक्षक हैं, इस सम्मानकी प्रियताके कारण ही। अनिमन्त्रित वे कही जायँ, ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

'दूसरे प्रमाद कर सकते हैं, किन्तु जो सर्वज्ञ है, मर्यादाकी रक्षाके लिए अवतीर्ण हुआ है। वह भी इतनी सावधानी नहीं रख सकता। पवनकुमारसे पायक उसके पास हैं, क्या श्रम लगना था उसे।' आचार्यको लगता है कि उन्हें श्रीरामने अयोध्या पहुँचनेसे पूर्व ही आमन्त्रित न करके उनकी उपेक्षाकी है। किसीको कुछ लगा है, वह समुचित नहीं हुआ करता, किन्तु लगता है, इसे आप रोक तो नहीं सकते।

'शुक्र दैत्यगुरु है। एकाक्ष है। किसी मङ्गल मुहूर्तमें उपस्थित होने योग्य नहीं है। क्या आश्चर्य ऐसा कुछ सोच लिया गया हो। आचार्य शुक्र अकारण ही जो ऐसी भावनाएँ करने लगे हैं, अब उन्हें कौन कहे कि आप दैत्यगुरु सही, एकाक्ष सही,

किन्तु समस्त ज्योतिर्विदों, शुभाशुभ निर्णायकोंके मतसे परम मङ्गलायतन हैं। आपकी अनुपस्थितिमें, आपके अस्तकालमें कोई मङ्गल कार्य सम्पन्न नहीं होता और हो जाय तो मङ्गलप्रद नहीं होता। ग्रह मण्डलमें सर्वोपरि स्थान आपका, किन्तु आचार्य इस समय असन्तुष्ट हो उठे हैं और असन्तोष अकारण विकल्प चित्तमें उठाता है।

'शुक्र एक ग्रहका अधिपति भी है और इस रूपमें वह दाम्पत्य सुखका विधायक है।' आचार्यका असन्तोष अत्यन्त अप्रिय रूपमें प्रकट हुआ—'श्रीराम ! तुम चक्रवर्ती सम्राट हो सकते हो। सुरासुर वन्दनीय हो सकते हो। अक्षय यश भाजन भी हो सकते हो, किन्तु सर्व-समर्थ होकर भी इस अवतारमें दाम्पत्यका सुख तुम्हें अत्यल्प मिलेगा। उसका अभाव तुम्हें व्यथित रखेगा दीर्घकाल तक।' हाय रे नियति ! पता नहीं उसके क्रूर विधान कैसे सक्रिय रहते हैं। किसे पता है आज अयोध्यामें कि अन्तरिक्षमें कुछ इस उल्लासके विपरीत एक कृष्ण रेखा भी आज ही उदित हो गयी है।

—卐—

७२. बाणासुर

'जनकपुरीकी धनुष यज्ञ सभामें ही मैंने दशग्रीवसे कहा था, मित्र ! समयके साथ चलना ही सफलताका साधन है। कालको कोई कुचल नहीं सका। उसके प्रतिकूल व्यवहारका अर्थ असफलतासे भी अधिक होगा।' सहस्रबाहु बाणासुरके नगरमें, शोणितपुरमें भी लंकाका समाचार पहुंचा था।

उस दिन भी मेरे वाक्य वधिर कर्णों पर ही पड़े थे। 'जनकात्मजाको विस्मृत कर दो। वे जगज्जननी हैं। उनका अन्यथा चिंतन किसीका भी उन्मूलन कर देगा।' यह मेरी चेतावनी दशग्रीवके चित्तको स्पर्श नहीं कर सकी। वह अपने औधत्यको अवरुद्ध नहीं रख सका। और सब सोचने कहनेको रह क्या गया ?' अन्तत: महामना बलिके मनस्वी पुत्रने राक्षसेश्वरको मित्र स्वीकार किया था। क्या हुआ कि वह मित्रता रावणके अहंकारको शमित करदेनेके अनन्तर उसके प्रस्तावके रूपमें प्राप्त हुई थी। दशाननका दैन्य या भय भले मैत्री बना हो, आज उस मित्रके मरण सम्वादने वाणको खिन्न बना दिया।

'कोई सहायता नहीं कर सका मैं उसकी। सत् सम्मति ही दे सकता था जिसकी उसको आवश्यकता नहीं थी।' बाण सोच रहा था, 'युद्धमें सहायताकी अपेक्षा उसने नहीं की, ठीक ही किया। वह जानता है कि वाण भगवान पिनाकपाणिका आज्ञानुवर्ती है और वे चन्द्रमौलि अपने अनुचरको अपने ही आराध्यके विरूद्ध धनुष उठानेकी अनुमति दे नहीं सकते। ❊

'दशग्रीवका दर्प शान्त हो गया। समाप्त हो गया राक्षसकुलका शौर्य।' दीर्घ श्वास ली वाणाने—'लंका अब विभीषण रक्षित है। सुर उसकी सुरक्षाका भी स्वयं ध्यान रखेंगे। अयोध्याकी अब अनुवर्तिनी है वह।'

'श्रीराम अयोध्या पहुंचनेवाले हैं। उत्सुक प्रतीक्षा चल रही है वहाँ उनकी। रिक्त पड़ा है अयोध्याका सिंहासन उनके लिए।' वाण अपने रत्नासन पर तनिक सावधान होकर बैठ गया 'अयोध्याकी परम्परा ही इधर चक्रवर्ती सम्राटोंकी परम्परा

❊वाणासुरको अपने बलका गर्व त्रेता युगके पीछे हुआ, जब उसने भगवान शंकरसे ही अपनी युद्धलिप्सा पूर्ण करनेकी प्रार्थनाकी।

चल रही है। अश्वमेघध यज्ञ जैसे क्रीड़ा है अवध-नेरेशोंके लिए और श्रीराम अपने पूर्वजोंकी परम्परा रक्षित नहीं रखेंगे, यह दुराशा करनेवाला मूर्ख होगा।'

'वत्स ! अयोध्यासे शत्रुता नहीं करनी है तुम्हें।' युग बीत गये अपने आराध्यका यह आदेश पालन करते। इक्ष्वाकु-मान्धाता, रघु, अज, दशरथ, सभी तो चक्रवर्ती सम्राट हुये हैं। वाण आज कितनोंका स्मरण करे। उसे जब प्रथमावसर आया था ऐसे अश्वमेध यज्ञके अश्वको देखनेका, एक बार उसके मनमें उत्सुकता जगी थीं कि अश्व पकड़ ले। उसकी सहस्र भुजायें फड़क उठी थीं, किन्तु उसके आराध्य भगवान पिनाक पाणिकने सस्नेह रोक दिया उसे 'अयोध्या नरेशका यह प्रयत्न किसीको परतन्त्र करनेके लिए नहीं है। यह एक प्रकारकीं सार्वभौम स्वातन्त्र घोषणा है। कोई अपनी सीमाके बाहर अन्यको पीड़ित नहीं करेगा। कोई आक्रान्त नहीं करेगा किसीको। सम्राट की स्वीकृतिका इतना अर्थ और करके रूपमें, सम्मान स्वीकृतिके रूप में तो चार मृग चर्म भी समाम्राट पर्यास मानते हैं। तुम्हें शासन विस्तारका व्यसन नहीं है। संसारके समस्त शासकोंको मर्यादामें रखनेका अवकाश नहीं है। तब जो भी यह सुकार्य करे, तुम उसमें व्याघात क्यों बनो ? शोणितपुर अकारण संग्राम भूमि बने, यह तुम्हें इष्ट नहीं होना चाहिये।'

वाणने उसी दिन अपने उदार आराध्यका वह आदेश स्वीकार कर लिया था। अनेक बार अयोध्याके अश्वामेध यज्ञके अश्व आये उसकी। सीमामें। उसने उनकी ओर ध्यान देना पता नहीं कबसे बन्द कर दिया है। कोई अश्व अश्वमेधका शोणितपुरकी सीमामें आया है, यह उसे पता भी नहीं होता। वह अश्व किसका है, क्या प्रयोजन ? सेवक अपने शासनकी ओरसे कुछ उपहार दे देते हैं। उन्हें यही कहा गया है। स्वर्णरत्न ऐसा ही कुछ, इनका अभाव कहाँ है वाणकी पुरीमें और उपहार लेकर अश्व सीमासे बाहर चला जाता है।

'श्रीरामके भी अश्वमेध यज्ञके अश्व आवेंगे ही।' बाण जानता है, यज्ञ तो कोई अल्पप्राण नहीं करता है। इन अश्वोंपर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं है, किन्तु वाणका चित्त कुछ चंचल हो रहा है—'यदि प्रथम अश्व ही रोक लिया जा ?'

'भगवान चन्द्रमौलि अनुमति देंगे ? मेरे पूजनीय पिता क्षमा कर सकेंगे अपने उद्धत पुत्रका यह अपराध ?' कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। संकल्प जैसे आया था, वैसे ही चला गया। कोई चक्रवर्ती बने, वाणकी पुरीमें कोई व्यक्तिक्रम नहीं होगा।

—*—

तृतीय खण्ड

७३. श्रीभरतलाल—

'सीता अनुज सहित प्रभु आवत ।'

श्रीभरतलालके श्रवणोंमें पवनकुमारकी वाणी पड़ी, प्राणोंने जैसे नवजीवन पाया ।

'सत्य कहते हो आञ्जनेय ! प्रभु आ रहे हैं ? मेरे वे कृपासिन्धु स्वामी पधार रहे हैं ?' शब्द नहीं व्यक्त हो सके । कण्ठ गद्गद्, शरीर पुलकित, नेत्रोंसे वारि धारा; किन्तु रोम-रोम यही कह रहा है, यह समझना नहीं था पवनकुमारको, 'अवश्य वे दयामय आ रहे हैं । अपनोंको विस्मृत करना उन्हें आता नहीं । अपने दर्शनोंके पिपासु प्राणोंको उन्होंने कभी निराश नहीं किया है ।'

'कहाँ हैं वे ? कितनी दूर हैं अयोध्यासे ?' श्रीभरत पूछ सकते तो अवश्य यही पूछते, किन्तु उनका शरीर तो सहसा हिलनेकी स्थितिमें भी नहीं रह गया । उनके अधर हिल नहीं पाते थे । नेत्र पलक निस्पन्द हो गये थे । वे देख रहे थे पवनकुमारकी ओर और सुन रहे थे उनकी दिव्य वाणी । प्राण श्रवणोंमें आगये थे । श्रवण, केवल श्रवणेन्द्रिय रह गये थे भरतलाल उस क्षण ।

पूछनेकी आवश्यकता भी कहाँ थी । श्रीमारुति—वे 'ज्ञानिनामग्रगण्य' उन्होंने स्वयं वह सब सुनाया जो अयोध्याका कोई जन पूछना या जानना चाहे । श्रीराम कहाँ हैं, कैसे हैं, कब पहुंच सकते हैं, किसी प्रकारकी त्वरा है उनके स्वयंके चित्तमें, लङ्काका संग्राम कैसे समाप्त हुआ, श्रीरामचरितके ऐसे रसज्ञ श्रोता वक्ता मिलजायें, किन्तु श्रीमारुतिको अपने प्रभुकी शीघ्र लौटनेकी आज्ञा थी । वे संक्षिप्त ही सुना सकते थे । थोड़े शब्दोंमें उन्होंने सब कुछ सुना दिया है ।

'प्रभु आ रहे हैं ।' भरतलालने सिंहासनस्थ पादुका पर मस्तक रख दिया । वे भाव-विह्वल हो उठे जब मारुतिने आज्ञा चाही थी लौटनेकी ।

'भरतके दोष नहीं देखे उन्होंने । अपनोंके दोष उन्होंने । कभी देखे नहीं हैं । देख पाते ही नहीं है ।' भावोंका अपार प्रवाह उमड़ रहा है—'धन्य होगया भरत ! इसका अपराध भी आज सेवाके रूपमें स्वीकार होगया । सेवा—अब उनकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त होगा ।'

भरत क्या कहें, क्या करें वे समझ नहीं पाते। बार-बार चरणपादुका पर मस्तक रखते हैं और उसे अश्रु जलसे क्षालित करते हैं।

सबके प्राण प्यासे हैं। अयोध्याका जन-जन आतुर है इस सुसम्वादके लिए।' सहसा चेतना सावधान हुई 'प्रभु प्रातः पधार रहे हैं। समय रहा ही कितना है अब।'

'कुमार!' अपने सम्मुख करबद्ध, आनन्द-विह्वल अनुजकी ओर भरतने देखा, 'तुम माताओंको यह सुम्वाद श्रवण करानेका सौभाग्य प्राप्त करो। महामन्त्री नगरमें घोषणा करा देंगे।'

'आर्य आज भी अयोध्या नहीं पधारेंगे?' कुमार शत्रुघ्नका स्वर काँप रहा था।

'भरत अपने अग्रजके श्रीचरणोंका अनुसरण करता अयोध्या आवेगा।' जहाँसे श्रीरामको निर्वासित किया गया, वहाँ भरत जायँगे तो अवधके सिंहासनके अधीश्वर श्रीरामके साथ ही जायँगे, अपना यह सङ्कल्प उन्होंने भले व्यक्त न किया हो किसी पर, उनका नन्दिग्रामका निवास क्या कुछ नहीं कहता?

'अपने अग्रजको अधिक सौभाग्य भाजन बननेका अवसर तुमने अब तक दिया है कुमार।' अपार स्नेह था स्वरमें 'आज भी भरत तुमसे ऐसी आशा करे, अस्वाभाविक तो नहीं है। कुलगुरुको सम्वाद स्वयं देना चाहता है भरत।'

'रथ प्रस्तुत है आर्य।' कुमारने प्रसन्न मनसे स्वीकार किया अपने तपस्वी अग्रजका आदेश। 'शत्रुघ्न राजसदन होकर महर्षिके आश्रम शीघ्र आरहा है।'

'भरत पदोंसे जा पाता, किन्तु समय अल्प है और उसका आज मूल्य नहीं किया जा सकता।' अनुजका आग्रह स्वीकार हो गया 'महर्षि सम्भवतः स्वयं राजसदन पधारेंगे प्रातःकालसे पूर्व।'

कुमार शत्रुघ्नका अश्व दो क्षण बीतते बीतते अयोध्याकी ओर उड़ा जारहा था। महामन्त्री सुमन्त्र आज रथमें अकेले जारहे थे नगरकी ओर और एक दूसरा रथ भी नन्दिग्रामकी पर्णकुटीके द्वारसे प्रस्थान करनेवाला था।

नन्दिग्रामका वह महातापस, कृशकाय, जटाधारी वल्कल-वसन, वह नवदूर्वादल श्याम तेजोमूर्ति, उसने मस्तक पर धारण कर रखी हैं श्रीरघुनाथकी चरण पादुकाएँ और रथमें बैठते वह इतना संकुचित होरहा है, इस रथको जाना है महर्षि वशिष्ठके आश्रमकी ओर।

—×—

७४. कुमार शत्रुघ्न—

'आज सफल हुआ शत्रुघ्नका श्रम ।' कुमार शत्रुघ्नका अश्व नन्दिग्रामसे अयोध्याकी ओर उड़ा जा रहा था । लेकिन मनका वेग, कोई अश्व उसे कैसे पासकता है ।' चौदह वर्ष जिस स्मितका, प्रसन्न वदन अपनेको दिखालानेका अभिनय किया मैंने आज वह सत्य बना । आज माँके सम्मुख सचमुच प्रसन्न जा सकूँगा ।'

'पूरे चतुर्दश वर्षका अभिनय, मातायें समझती थीं, भाभियाँ समझती थीं, वे' सब समझती थीं और फिर भी मैं अभिनय किए जारहा था । आज वह अभिनय···· लेकिन गतकी वेदना आगतके हर्षमें डूबकर आज हर्ष बन गयी है ।

'प्रभु आरहे हैं ।' माँका, वात्सल्यमयी माँका आनन्द देख पावेगा यह सम्वाद देकर शत्रुघ्न । वे महिमामयी, निश्चय वे गोदमें खींच लेंगी और इस प्रकार स्नेह करने लगेंगी जैसे कुमार ही उनके राम हैं ।' अन्तरमें अद्भुत चित्र आरहे हैं ।

'मेरी जननी, सम्भवतः वे कुछ न कह सकें । वे तो अपना कोमल कर मस्तक पर रख दें तो बहुत है । 'सम्वाद दे चुका सबको ? स्वागतकी प्रस्तुति कर वत्स ।' उनके गद्‌गद् स्वरोंसे इसके अतिरिक्त कुछ सुन पानेकी आशा कम ही है ।' किन्तु माता कैकेयीकी क्या अवस्था होगी ?' श्रीभरत-जननीका व्यक्तित्व अद्भुत है और उनकी जो परिस्थिति बन गयी है, कुमार शत्रुघ्न उनके सम्बन्धमें कोई अनुमान नहीं लगा पाते ।

'भाभी, लेकिन दोनों ही भाभियाँ तो अत्यन्त गम्भीर हैं । वे तपोमूर्तियाँ, मझली भाभीकी स्नेहाशीष प्राप्त होगी ।' सदाका कुमारका वह स्वत्व और छोटी भाभी, आज यदि वे अनुरोध स्वीकार करलें । उनका तापस वेश क्या शोभा देगा आज ? किन्तु····।' कुछ ठीक समझमें नहीं आता कि उचित क्या होगा ।

'वह सरला ?' एक सुकुमार मूर्ति और मानसमें आयी—'पूरे चतुर्दश वर्ष अन्तरके अनलको अन्तर्हित किये सुप्रसन्न सुसज्ज बनी रहनेवाली वह सहयोगिनी, आज उसके अधरों पर वास्तविक स्मित दीख सकेगा ।' केवल स्मित दर्शन ही, अग्रजोंके साथ ही जिनका सुखमें स्वत्व है, आज अवकाश ही कहाँ है । आजके उल्लासके दिन किसे दो क्षण स्थिर होनेको समय मिल सकता है ।

आज कुमारके अश्वका वेग, नगर जन इस वेग और आरोहीके श्रीमुखकी कांतिसे ही चिर प्रतीक्षित सम्वाद पा जायें सहज सम्भव है । कुमारको किसी नगरजनने

कभी साश्रु नेत्र, म्लान वदन तो कभी नहीं देखा, किन्तु जो आनन्द आज फूटा पड़ता है उनके श्रीमुख पर····।

'कुमार नन्दिग्रामसे आगये। अश्रु त-पूर्व वेगसे आया है आज उनका अश्व। कुमारने आज अश्व राजसदनके महाद्वार पर नहीं छोड़ा है। वे सीधे महालयमें गए हैं।' सम्वादके प्रसारित होनेमें विलम्ब कहाँ होना था—'सम्भवतः श्रीरघुनाथके आनेका सम्वाद प्राप्त होगया। कुमार राज माताके समीप सीधे गये हैं।'

पुरजनोंका उत्सुक समुदाय राज-महालयके सम्मुख एकत्र होने लगा है, बढ़ता जारहा है। उसके प्राण कबसे जिस सम्वादकी प्रतीक्षा कर रहे हैं····।

'माँ!' अश्वसे कूदकर कुमार दौड़ पड़े थे और उनका प्रफुल्ल बदन—'प्रभु आरहे हैं।' जैसे हर्षने उनके शरीरमें शैशवका आविर्माव कर दिया है। वे सम्वाद सुनाने शिशुकी भाँति दौड़ गए हैं। दौड़ रहे हैं आज कुमार शत्रुघ्न।

'जननी! प्रभु आरहे हैं।' कुमारने दो क्षण तो दिया होता किसी सदनमें—'कब आरहे हैं? कैसे आ रहे हैं?' पता नहीं कितना पूछना है, क्या पूछना है, किन्तु कुमार तो आज आनन्दके उद्रेकमें शिशु बन गए हैं।

'मातः! प्रभु आरहे हैं।' वे तो सुनाते हैं यह सुसम्वाद, और दूसरे सदनमें दौड़ जाते हैं। 'अरे! सुन तो कुमार!' किन्तु कुमारका जागृत शैशव आज उन्हें सुनने दें तब तो।

'प्रभु आरहे हैं! प्रभु आरहे हैं भाभी!' कुमारको पूरे अन्तःपुरमें आज दौड़ लगा लेनी है 'प्रभु आ रहे हैं।' अपने अन्तःपुरमें भी उनके पद कहाँ टिके। कहाँ देखा उन्होंने कि उनकी सहचरी कितने अद्भुत भावसे अपने आराध्यका यह शैशव देखती देखती रह गयी हैं।

'प्रभु आरहे हैं।' पूरा सम्वादतो सबको श्रीराम माताके सदनमें ही प्राप्त होना है। सब जानते हैं आज कुमारके चंचल पद उनकी क्रोड़ीमें पहुँचकर ही कुछ स्थिर होंगे।

७५. महामन्त्री सुमन्त्र

'कुमार शत्रुघ्नके अश्वका अनुसरण तो आज क्षीराब्धिसम्भव उच्चैःश्रवाके लिये भी सम्भव नहीं हैं।' महामन्त्रीके मुख पर आज युगोंके पश्चात् स्मित आया। उनका रथ भी नन्दिग्रामसे अयोध्याकी ओर कुमारके अश्वके साथ ही आगे बढ़ा था और उनके रथके अश्व भी उड़े ही जारहे थे, किन्तु एकाकी अश्वका अनुसरण रथ कैसे कर सकता है ?

'आज पुनः सुमन्त्र राजरथका सूत है। एकाकी रथ ले जारहा है अयोध्या और वही रात्रिका प्रवेश काल है। आज भी नागरिकोंके प्राण इस रथकी प्रतीक्षा कररहे हैं।' महामन्त्रीके नेत्र भर आये। उन्होंने वाम हस्त अपने रजतश्मश्रु पर फेरा। पूरे चतुर्दश वर्ष, चतुर्दश कल्प भी कम थे उनके सामने और इस समय लगता है, कलकी घटना है। श्रीरामको शृङ्गबेरपुर लेगए थे महामन्त्री इसी रथमें और जब वहाँसे लौटे थे····।

'आज ये अश्व उड़े जारहे हैं।' लेकिन उस दिनकी बात आज क्यों सोची जाय। उस दिन स्वयं महामन्त्री ही क्या अपनी चेतनामें थे ? और जब वे रघुकुलके नीति-द्रष्टा महाप्राज्ञ चेतनामें नहीं थे, अश्व तो बेचारे पशु ठहरे। अपने स्वामीका स्नेह ही तो पहचानते हैं वे।

'श्री रामभद्र, अरे नहीं, मर्यादा पुरुषोत्तम' सुमन्त्रने अकारण ही गगनकी ओर दृष्टि उठायी, 'इस वृद्धका स्वभाव कहीं उनके सम्मुख भी यही रहा, पर वे इसका सम्मान करते हैं। पितृव्य कहा है इसे उन्होंने। इसका यह स्वभाव उन स्नेहशीलको प्रिय लगेगा।'

'सुमन्त्र उन्हें छोड़ आया वनमें।' महामन्त्रीके हृदयसे यह कसक अभी नहीं गयी थी ! श्रीराम वन गये, यह सन्देश लेकर अयोध्या लौट आना जैसे उन्होंने अपना महापराध माना था। पूरे चौदह वर्ष उनका मस्तक झुका रहा। किसीके सम्मुख नेत्र उठाकर देखते उन्हें देखा नहीं गया। अपने निज सेवकोंकी ओर तक उन्होंने नहीं देखा।

'सुमन्त्रको ही आज सौभाग्य मिला उनके लौटनेका संदेश सुनानेका।' महामन्त्रीने आज मस्तक उठाकर सीधे देखा है 'सुमन्त्र ही कल उन्हें नगरमें ले आयेगा।'

'वे तो पुष्पकसे आरहे हैं ?' दूसरे क्षण ही महामन्त्री चौंके, किन्तु पुनः स्थिर होगये 'पुष्पक आ सकता होगा अवश्य राज सदनमें। वह दिव्ययान है; किन्तु उसे

नगर महाद्वारमें प्रवेश कल नहीं प्राप्त होसकता। सुमन्त्र वनमें छोड़ आया था रघुकुल शिरोमणिको तो सुमन्त्र ही रथमें उन्हें नगरमें भी ले आयेगा।' आप जानते हैं कि श्रीरघुनाथ संकोचीनाथ हैं। अपने जनोंका आग्रह टालना उनके बस-बूतेका काम नहीं और उस पर भी महामन्त्री सुमन्त्रका आग्रह, श्रीरामके मनमें महामन्त्री पितृतुल्य हैं और आज्ञा देनेके अधिकारी हैं। उनका आग्रह, वह तो आज्ञासे अधिक सम्मान्य है।

'श्रीराघवेन्द्र आरहे हैं। महारानी श्रीजनकनन्दिनी एवं अनुजके साथ वे राक्षसेन्द्र विजयी कल प्रातः पुष्पकसे अयोध्या पहुंच रहे हैं।' महामन्त्रीको अधिक चिन्तनका अवकाश नहीं मिलता था। पुरजन पर्याप्त आगे तक आगये थे मार्गमें और उनमेंसे जो प्रथम मिले, उन्हें पूरे उल्लाससे महामन्त्रीने सुना दिया। साथ ही अपना शङ्ख अधरोंसे लगाया उन्होंने और विजयके मङ्गल घोषके सङ्केतके साथ उसका स्वर गूँजने लगा।

'कौन हैं राज सेवक यहाँ ?' महामन्त्रीके रथके अश्वोंकी गति सीधे राजसभाके महाद्वार पर अवरुद्ध हुई और आज पूरे चतुर्दश वर्ष पश्चात् अवधजनोंने अपने महामन्त्रीका गम्भीर, शासनके ओजसे गूँजता स्वर सुना।

'आज्ञा श्रीमान् ?' एक समवेत स्वर सुनायी पड़ा 'हम सभी तो राजसेवक ही हैं।' सचमुच अयोध्यामें तो कोई ऐसा भाग्यहीन नहीं जो अपनेको आज राजसेवक समझनेमें गौरवानुभव न करे।

'महाराज श्रीकौशलेन्द्र कल प्रातः पधाररहे हैं।' महामन्त्रीका स्वर घोषणा कररहा था और आज्ञा भी दे रहा था, 'दुन्दुभी अब तक मूक क्यों है ? स्वागत वाद्य ....।' आदेशके शब्द पूरे होनेसे पूर्व महाद्वारके ऊपर स्वागत वाद्य अपने सम्पूर्ण साजसे गूँजने लगे थे।

महामन्त्री रथसे कूद पड़े थे। आज उन वृद्धके शरीरमें युवकोंकी स्फूर्ति आगयी थी। उन्होंने देखा नहीं कि कब किन सेवकोंने रथको सम्हाल लिया। उन्होंने केवल आदेश दिया 'कल श्रीराघवेन्द्र इसी रथसे नगर प्रवेश करेंगे, यह समझकर रथको सज्जित करना है।' और अब महामन्त्रीको आदेश देनेसे अवकाश कहाँ है। उनकी प्रज्ञा आज पूर्ण जागृत है और वे आदेश, अनेक विधि आदेश देनेमें व्यस्त हैं।

---

७६. महर्षि वशिष्ठ—

'दाशरथि भरत श्रीचरणोंमें प्रणिपात करता है।' आश्रम-भूमिसे बाहर ही रथ रुक गया था और महर्षिको दूरसे देखकर ही कुमार भरतलाल भूमिमें दण्डकी भाँति पड़ गये थे। प्रभुकी पादुकाएँ रथासीन थीं इस समय।

'भरत !" महर्षि अस्त-व्यस्त दौड़े और उन्होंने उठाकर हृदयसे लगा लिया भरतलालको। उनके दृगोंके परम मङ्गल विन्दुओंसे भरतजीकी अलकें सिञ्चित हो गयीं। 'वत्स भरत ! मैं स्वयं आ रहा था नन्दिग्राम। तुम आये, तुम्हारे आजके आगमनसे यह आश्रम भी तपः पूत होगया।' महर्षि आवेगमें कह गये—किन्तु क्षण भरमें उन्होंने अपनेको स्थिर कर लिया। कुमार भरत संकोचमें पड़ें, ऐसा कोई कार्य उन्हें नहीं करना चाहिए।

'प्रभु आरहे हैं' भरतलाल इस समय दूसरे भावमें मग्न हैं। उनका गद्‌गद् स्वर कह रहा है—'इस अपराधी जनके अपराध उन्होंने दृष्टिमें नहीं लिये। अनुज एवं श्रीधरानन्दिनीके साथ आज वे प्रयाग महर्षि भरद्वाजके आश्रममें रात्रि-विश्राम कर रहे हैं। उन्हें लेकर पुष्पक यान कल प्रातः अयोध्या पहुंचेगा।'

महर्षि वशिष्ठका आश्रम इधर अतिथियोंके आगमनसे जनाकीर्ण होता जा रहा है। दूरस्थ काननोंके तपस्वी अतिमानव महर्षि वृन्द, जन सम्पर्कसे अतिशय अपरिचित मुनि, पता नहीं कितने सुरासुर वन्दनीय लोकोत्तर तपोमूर्ति आये हैं यहाँ और सहसा समाचार जो पहुंचा, एक पूरे समुदायने कुछ क्षणोंमें भरतलाल एवं महर्षिको घेर लिया है चारों ओरसे। वृद्ध, अतिवृद्ध, तरुण-युवा, सभी प्रकारके लोग हैं। सब प्रायः वल्कल वसन, जटाधारी, तेजोदीप्त भाल, किन्तु उनके मध्य अभी जो उन जैसा ही वल्कल वसनी जटा मुकुटी, दूर्वादल श्याम रघुकुल कुमार आगया है, सब अनुभव करते हैं वह अतिशय विनम्र अपने तेजमें, अपने तपः प्रभावमें अद्वितीय है। उसकी समता त्रिभुवनमें सम्भव नहीं। उसके प्रति सहज श्रद्धा उमड़ी पड़ती है अन्तरमें।

'हनुमानसे श्रीचरण परिचित हैं। वे पूरा द्रोणाचल उठाये अभी पिछले दिनों ही अयोध्याके आकाशपर आये थे और इस अधम भरतके प्रमाद वश.........' श्रीभरतलाल सम्वाद सुना रहे थे—'उन अमित पराक्रम परमोदारने मेरा अपराध मनमें भी नहीं माना। आज सायं वे आये थे और अभी लौट गये। उन्होंने ही यह

सम्वाद दिया। दशग्रीव श्रीराम शरानलमें दग्ध होगया और लङ्काके नवीन अधिपति विभीषण अयोध्याके अतिथि होकर प्रभुके साथ पधार रहे हैं।'

'वत्स ! इस सुसम्वादके लिए वशिष्ठ तुम्हें क्या दे सकता है ?' महर्षिने स्नेह पूर्वक देखा और अपने पदोंकी ओर झुकते भरतलालके मस्तकपर उनका दक्षिण कर पहुंच गया। वहाँ उपस्थित सामान्य अन्तेवासी तक भी जानता था, शाप और वरदानकी वाणी वैखरी वाणी नहीं हुआ करती। महर्षिके मुखसे इस समय वह गम्भीर परावाणी प्रकट हुई—'श्रीरामका स्नेह तुम्हें सदा प्राप्त रहेगा और तुम्हारा स्मरण मनुष्यको रामभक्ति दे दिया करेगा।'

'प्रभु !' कुमार भरतलाल प्रेम विह्वल पदोंमें पहुंचनेको झुके और बल पूर्वक उन्हें वक्षसे लगाये महर्षि। अकस्मात्, अनायास, संकल्प निरपेक्ष उपस्थित समस्त तपोधनोंके मुखसे भी वही परावाणी गूंजी—'एवमस्तु !'

'श्रीराम कल आरहे हैं।' दो क्षण रुककर महर्षि भरतलालको लिये आश्रम प्राङ्गणमें आगये और जब वे वेदिकापर आसीन होगये, उनके चरणोंके समीप नीचे ही भरतलाल संकोच पूर्णक बैठ गये। अन्तेवासियोंके अतिशय आग्रह पर भी उन्होंने कुशासन स्वीकार नहीं किया।

'श्रीराम कल ठीक उस समय अयोध्या पहुँचेंगे, जिस समय अयोध्यासे उन्होंने प्रस्थान किया था।' महर्षिने सबके आसन ग्रहण कर लेनेके अनन्तर कहा—'वे मर्यादा पुरुषोत्तम, उनका स्वभाव मैं समझ सकता हू। वत्स भरत ! अब इस समयका करणीय ?'

'श्रीचरण जिसे जो आदेश दें।' अत्यन्त नम्रता पूर्णक भरतलाल कह रहे थे—'सदा ही सबका वही परम कर्त्तव्य है।'

'मुझे एक बार राजसदन हो आना चाहिए।' कुमार शत्रुघ्न वहाँ पहुँच गये हैं। महामन्त्री सुमन्त्रके प्रबन्धमें आज किसी प्रकारका प्रमाद संभव नहीं ; किन्तु महर्षिका स्नेह आज मानता नहीं। उन्हें स्वयं एक बार सब ओर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। 'तुम राजसदन चलोगे ?'

'श्रीचरणोंका आदेश अनुलंघनीय है।' परम संकोची भरतलाल अस्वीकार नहीं कर सके। महर्षिके साथ राजसदन जानेमें उन्हें क्या संकोच, वे नित्य अरण्यवासी तपोधन जब स्वयं राजसदन पधार रहे हैं, भरतलालने उसी रथसे महर्षिसे पधारनेकी प्रार्थनाकी जिससे वे अभी आये थे।

———

७७. माता कौसल्या—

'राम आरहा है ?' माताने सुना शत्रुघ्न कुमारके मुखसे और जैसे विश्वास ही न हुआ हो। दूसरे ही क्षण उनके मुखसे निकला 'भरत कहाँ है ?'

'भरत, तपस्वी भरत कहाँ है ?' लेकिन उत्तर देनेवाला तो वहाँ कोई नहीं है। शत्रुघ्नकुमारमें तो आज शैशव आगया है। वे तो दौड़ गये हैं किसी अन्यके सदनमें समाचार देने और माता कौसल्या आतुर हो उठी हैं 'भरत कहाँ है ? उसे किसीने सुनाया या नहीं है ? उसकी जटाएँ, उसका वल्कल और वह आज चौदह वर्षसे भूखा है।'

पूरे चतुर्दश वर्षसे माताको भरतकी वेदना व्याकुल किये हैं। उनके राम तो वनमें हैं। वहाँ अपार कष्ट होंगे, सुनी सुनायी बात है यह ; किन्तु समस्त वनचर रामके नित्य सेवक हैं, यह तो चित्रकूटमें माता स्वयं देख आयी हैं। वहाँके क्लेश, लेकिन आँखोंके सामने ही यह जो उनका दूसरा राम नन्दिग्राममें तपस्वी बन गया है। दूसरा राम ही तो, माताके मनने राम और भरतमें तो कभी भेद नहीं जाना।

राम कन्दमूल फलका आहार करते हैं ; किन्तु भरत तो भूखा है। पूरे चौदह वर्षसे भरतने क्या खाया है ? गोमूत्रयावक भी कोई भोजन है और उसमें भी आये दिन एकादशी, प्रदोष आदिके व्रत, चान्द्रायण, कृच्छ चान्द्रायणादि महाव्रत चलते रहते हैं ऊपरसे। अतः माताके मनको इस समय भरतकी चिन्ताने झकझोर दिया है। कहाँ है उनका भरत ? आज इस सुसम्वादको सुनाकर वे उसके मुखमें दो मीठा ग्रास दे सकें..........'

'और माण्डवी, उर्मिला ? हाँ—ये बहुएँ कहाँ हैं उनकी ? भरत तो नन्दिग्राम है, किन्तु उनकी ये स्नेह सिक्ता सौकुमार्यकी साकार प्रतिमाएँ........ ?

'ये सब कम हठी कहाँ हैं।' माताका उत्साह स्वयं शिथिल होगया। वे जानती हैं—उनसे अधिक भला इस बातको और कौन जान सकता है कि आर्यनारीकी मर्यादा क्या है। भरत तपस्वी बने हैं तो माण्डवीको खिलाया जा नहीं सकता और ऐसा आग्रह अपने आपमें अनुचित है। मातासे चाहकर भी ऐसा कोई आग्रह कभी हुआ नहीं। वे सब अपने आराध्योंकी अनुगता—माताका हृदय वात्सल्य एवं गौरवसे उमड़-उमड़ पड़ता है।

'माण्डवी ! उर्मिला ! कोई है ? इन्हें बुला तो लाओ ।' शोक अकेलेमें काट दिया जा सकता है ; किन्तु आनन्द तो अपनी पूर्णता वितरणमें मानता है । आज जो माताके अन्तरमें अपार आनन्द उमड़ पड़ा है 'राम कल आरहे हैं ! अयोध्याके दुःखके दिन चले गये ।'

'मां !' माताका सर्वाङ्ग आज अतिशय शिथिल होगया है । वे अपने आसनसे उठ नहीं पाती हैं । उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है और यह कुमार शत्रुघ्न पुनः दौड़ते आरहे हैं उनके समीप ।

'कुमार ! लाल !' अङ्कमें समेट लिया माताने और अलकोंपर उनके कर घूमने लगे ।

माता सुमित्रा आयी हैं । बहुएँ आयी हैं । राजसदनकी सेविकाएँ आयी हैं और आज, आज चौदह वर्ष पीछे माता कैकयी आयी हैं उनके सदनमें, किन्तु माताकी दृष्टि तो कुमारके मुख पर स्थिर है और आज कुमारमें जो शैशव आगया है, वे ही कहाँ किसीको बोलनेका अवकाश देरहे हैं ।

'राम रोषानलमें रावण स्वाहा होचुका । प्रभु कल प्रातः मेरे अग्रज एवं अवधकी नवीन साम्राज्ञीके साथ पुष्पक विमानसे यहाँ पहुँच रहे हैं ।' शत्रुघ्न कुमारको पूरा समाचार सुनाना है । वह सब समाचार जो सायं नन्दिग्राममें कपि श्रेष्ठ सुना गये हैं और पुनः कपिवरका परिचय भी देना है । इस समय कुमार किसीकी कुछ सुनना तो दूर, किसी ओर देखने तककी इच्छा नहीं करते । वे मातासे-माताकी गोदमें में बैठे सब सुनाये चले जा रहे हैं शिशुकी सरलता एवं शीघ्रतासे ।

माताकी दृष्टि कुमारके हर्षोत्फुल्ल मुख पर स्थिर है । स्थित हैं वहीं इस समय सदनमें आये सबकी ही दृष्टियाँ । किसीको कुछ कहना नहीं है । किसीको यह अपेक्षा नहीं है कि कोई उसे बैठनेको कहे । जो जैसे आया है, जहाँ आगया है, स्थिर है । सबके श्रवण इस समय कुमारके एक एक शब्द पी लेना चाहते हैं । सबके शरीर शिथिल है, आनन्दसे रोमाञ्चित हैं और सबके नेत्र आनन्द निर्झर बन गये हैं । कोई कुछ बोलना भी चाहे इस समय तो कण्ठ असमर्थ होरहे हैं । कुमार—केवल कुमार बोल रहे हैं शिशुकी त्वरामें ।

—*—

७८. माता सुमित्रा–

'श्रीराम आरहे है ' माता सुमित्राको तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हुआ था। भरत नन्दिग्राममें तपस्वी होकर बैठे हैं और उनका निश्चय, उनका निश्चय किसीको भी अविदित कहाँ है और तब राम आवेंगे ही कल। उनको कल यहाँ अयोध्या पहुंचनेसे कोई रोक नहीं सकता।

'अभी तक कोई समाचार नहीं' दिनमें कई बार कइयोंने यह बात कही किन्तु माताने उसे सुनकर भी सुना नहीं। उन्होंने एक बार एक सेविकाको अभी दिनान्तमें झिड़क दिया 'समाचार नहीं आया तो हो क्या गया ? मेरा राम कल आवेगा। उसके आनेके साधन सहस्र हैं। वह कपि–पूरा पर्वत जो कपि हिमालयसे लंका उठाले गया कुछ घटिकाओंमें, वह रामका पायक है और वह अकेला ही पायक तो ऐसा नहीं होगा। समाचार भला कैसे आ सकता है ?'

माता आज अत्यन्त व्यस्त हैं। उनके राम अकेले तो नहीं आ रहे हैं। आ रहे हैं, यह वे असन्दिग्ध रूपसे जानती हैं। लेकिन श्रीरामके साथ वैदेही, लक्ष्मण और उनको तो लगता है कि भरत तथा यह कुमार शत्रुघ्न एवं इन सब पुत्रोंकी वधुएँ अभी अयोध्या आ रही हैं। अब तक तो अयोध्या रहकर भी ये सब यहाँ नहीं थे। सबके अन्तःपुर, सबके क्रीडोद्यान अस्त-व्यस्त पड़े हैं। अस्त-व्यस्त पड़ा है पूरा राजसदन और श्रीराम आरहे हैं।

माता पूरे सप्ताहसे व्यस्त हैं; किन्तु उनका उत्साह औरोंमें आ जो नहीं पाता है। उनके आदेश अपालित नहीं रहते; किन्तु शिथिल कर सेविकाओंका कार्य उन्हें कहाँ सन्तुष्ट कर पाता है। वे बार-बार श्रीरामके अन्तःपुरकी सज्जाको व्यवथित करके भी सन्तुष्ट कहां हो पाती हैं।

'श्री जानकी—अवधकी वह साम्राज्ञी होंगी वे, यह भिन्न बात; किन्तु माताकी सर्वाधिक स्नेह भाजना, हृदय पुत्तलिका और वह शैशव तपस्विनी, अब तो उसे तनिक विश्राम मिले।' माता अपनी व्यस्ततामें भी थकित हो, जाती हैं बार-बार।

'प्रभु आरहे हैं मातः !' कुमार शत्रुघ्नने पुकार कर हर्ष विह्वल हो कहा था और तत्काल दौड़ गये थे।

'शिशु है अभी शत्रुघ्न !' माता हँस पड़ी—'राम आ तो रहे ही हैं, पर यह कहाँ गया दौड़ा ?' कहीं जाय उनके कुमार, पर माता जानती हैं कि किसकी क्रोड़ी स्थिर कर सकती है। श्रीरामका समाचार पाने, संग्राम विजयका समाचार पानेकी उत्कण्ठा उनके मनमें अल्प नहीं है, किन्तु शत्रुघ्नको अब पुकारा तो नहीं जा सकता। वे श्रीराम-माताके सदनकी ओर तत्काल चल पड़ी थीं।

'मेरा पुत्र, मेरा राम कल आरहा है। अब तो सब लोग तनिक त्वरा करें।' पूरा समाचार सुननेके अनन्तर माता सुमित्रा ही सबसे पहिले बोली थीं—'राम आवेंगे तो वे अपने अन्तःपुरमें जानेसे पूर्व अनुजोंके सदनमें और सखाओंके गृहोंमें जायँगे, यह सब जानते हैं। मेरा वह किशोर तपस्वी, उसे अपने किसी स्वजनका असज्जित, अस्त व्यस्त सदन दृष्टि पड़ गया तो अपने अन्तःपुरकी सज्जा सुखी कर सकेगी उसे ?'

शत्रुघ्न !' माताका स्वर स्वस्थ था 'तुम एक बार नगरके अपने सुहृदोंके सदन देख आओ और कहीं किसी सदनमें किञ्चित भी अभाव असज्जाका चिन्ह नहीं रहेगा, यह सावधानी रखो।' माताके आदेशने कुमारको कर्तव्यका स्मरण करा दिया और उनका आनन्द विह्वल भाव गाम्भीर्यमें परिणित हो गया।

'अब किसीके करमें शिथिलता नहीं रहेगी।' माताने एक ओरसे उपस्थित सेविकाओंकी ओर देखा 'यह रजनी विश्रामके लिए बनी नहीं है। हम राजमाताके इसी सदनसे श्रीगणेश करें तो ?'

'यह तो आपके श्रमसे कबका सुसज्ज है।' माता कौशिल्याने किञ्जित बाधा दी।

'मैं आपसे अधिक राजमाता हूं और बहिन कैकेयीसे भी अधिक।' स्निग्ध स्मित आया माताके अधरों पर—'मेरा राम आरहा है। अयोध्याका वह सम्राट और मैं अभीसे सम्पूर्ण राजसदनकी सञ्चालिका हूं। मेरी व्यवस्थामें आप किसीकी कोई अस्वीकृति नहीं सुनी जा सकती।'

'अस्वीकृतिका अधिकार भी कहाँ रहा किसीका।' माता कैकेयीने इस बार कहा।

'सो तो कभी नहीं था, और अब भी नहीं है।' माता सुमित्रा उसी उत्साहमें कह रही थीं 'मैं कुछ क्षणोमें आपके सदन आ रही हूँ। आपको वहां उपस्थित मिलना चाहिए।' और वे सेविकाओंके साथ तुरन्त व्यस्त हो गयीं।

७६. माता कैकेयी—

'मेरा राम आरहा है !' आज माता कैकेयीके मुख पर उल्लास आया—'अरे कुमार !' किन्तु कुमारके चरणतो आज रुकते नहीं। उनके श्रवण आज कुछ सुन नहीं पाते। वे तो समाचार देते दौड़ रहे हैं।

'यह जहाँ जायगा, जानती हूं।' माता आज सहज भावसे उठीं 'बहिन कौशल्या का सदन मेरेलिए कब पराया था। अपनी क्षुद्रतासे कैकेयीने कुछ समझ लिया हो, वे महनीया तो इसे सदा छोटी बहिनका स्नेह देतीरहीं हैं।'

जबतक कुमार सम्वाद सुनाते रहे, माता कौशल्याके सदनमें किसीको कहाँ स्मरण था कि वह स्वयं कहाँ खड़ा है और जब कुमार जननीका आदेश पाकर सावधान हुए....।

'कैकेयी राजमाता हैं ! आपको उससे इस सम्मानका ध्यान रखकर बोलना पड़ेगा।' आज माताकी आत्म ग्लानि निर्मूल होगयी है। वे अपने सहज स्वस्थ परिहास प्रसन्न स्वरमें माता सुमित्रासे कह रही थीं 'मेरे सदनको आप सज्जित करने आ रही हैं, यह अनुग्रह तो नहीं है। मेरा पुत्र आ रहा है। अयोध्याका सम्राट मेरा पुत्र, राजमाताका सदन आपको सज्जित कर ही देना चाहिए।'

'जीजी बधायी !' सहसा मुड़ीं वे माता कौशल्याकी ओर, 'मेरा राम आरहा है। तुमने मेरे तीन पुत्र बल पूर्वक अपने बना लिए, किन्तु राम मेरा है। राजमाता बननेका बड़ा भारी लोभ है कैकेयीको और इसके लिए वह कितना अनर्थ कर सकती है, तुम जानती हो। राम मेरा रहेगा। राजमाताका स्वत्व मैं छोड़ नहीं सकती।'

'राम कब तुम्हारे नहीं थे बहिन ?' माता कौशल्याने उठ कर हृदयसे लगा लिया कैकेयीको 'तुम तो शैशवसे उनकी माता हो और अवधकी राजमाता तुम नहीं हो, यह कहनेवाला रामके राज्यमें स्थान पानेकी तो आशा कर नहीं सकता।'

'तुम दोनों अपना स्वत्व हार चुकी हो' उन्मुक्त हास्य सुन पड़ा माता सुमित्राका 'मैं दुगुनी राजमाता हूं और मेरा आदेश....'

'सो हम सबके सिर पर' माता कैकेयीके नेत्र उठे—'आपके ओज एवं त्यागकी समताका साहस कैकेयीमें नहीं है। कैकेयी राजमाता भी है तो आपके अनुग्रहसे जिसे मैंने हार दिया, आपका अनुग्रह ही उसे सुरक्षित ले आरहा है। चारों कुमार आपके, किन्तु राम आप इस....'

'आज तुम जो माँगोगी वह सब मिलेगा।' हँस गयीं माता सुमित्रा 'राम तुम्हारे रहे। और कुछ ?'

माता कैकेयीने चरण पकड़ लिए होते यदि उठाकर शीघ्रता पूर्वक माता सुमित्राने उन्हें अपने हृदयसे न लगा लिया होता।

'तुम्हें वरदान देनेमें कोई भय नहीं है, यदि अपनी कूबरी दासीसे तुम पहिले ही कोई मन्त्रणा न कर आयी हो।' सहसा संकुचित होगयीं माता। यह प्रसङ्ग आज नहीं ही उठना चाहिए।

'वह दीना भी आज आप सबकी अनुग्रह भाजना है।' माता कैकेयीके मनमें जो उल्लास आगया है इस समय, वह इतना अतल गम्भीर है कि उसमें कोई स्मृति कोई कटु व्यङ्ग भी करे तो वह भी क्षोभ उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं। आज उन्हें जैसे कुछ स्पर्श नहीं करता। ऊपर—बहुत ऊपर उठ गयीं हैं वे उस धरातलसे जहाँ क्षोभ पहुँच सकता था।

'कहाँ है वह ?' माता सुमित्राने देखा इधर उधर 'उसे सदन सज्जामें मेरा साथ देना चाहिए।'

'वह उन्मादिनी हो गयी है।' हँसी माता कैकेयी—'मेरे सदनमें आप उसे पा लेंगी, किन्तु आज उसकी सेवा तथा सम्मति पर भरोसा नहीं किया जा सकता।'

'मन्त्रणा देनेसे तो उसे अवकाश मिल ही गया है।' माता सुमित्रने हँसकर कहा—'लेकिन अब उसे सेवामें प्रमाद करने नहीं दिया जा सकता।'

'बहिन, तुम बैठोगी नहीं।' माता कौशल्याने स्वयं आसन देनेका उपक्रम किया, 'आज तो…'

'इस सदनमें भी मुझे आप आसन देंगी और कुछ लेनेका आग्रह करेंगी ? यह सदन मेरा अपना नहीं है जीजी ?' कैकेयीने दोनों भुजाओंमें भर लिया माँ को—'किन्तु बहिन सुमित्राका आदेश है कि उनके पहुँचनेसेपूर्वमैं अपने सदनमें पहुंच जाऊँ और उनकी यह सेना अभियान करने ही वाली है।' सचमुच सेविकाओंका समूह पूरी त्वरासे भवन सज्जामें लगा था।

—卐—

८०. मन्थरा—

'प्रभु आ रहे हैं।' कुमारने तो इतना ही कहा था। वे तो तत्काल सदनसे दौड़ते चले गए थे। माता कैकेयीका पुकारना भी उनके श्रवणोंमें नहीं पड़ा था।

'प्रभु आरहे हैं। प्रभु आरहे हैं।' मन्थरा पुकारती जा रही थी। वह कुब्जा उन्मादिनी हो उठी थी आज और सदनमें इधरसे उधर भागती, लुढ़कती पुकारती जारही थी 'प्रभु आ रहे हैं।'

किसे सुना रही थी मन्थरा यह सम्वाद ? उसे आज यह पता नहीं है। सदनके प्रत्येक कोनेको, प्रत्येक भित्तिको, प्रत्येक पदार्थको, आज जैसे सब चेतन हैं उसके लिए और फिर दौड़ गयी वह सदनके उद्यानमें। वहाँ प्रत्येक वीरुधको, लताको, पुष्पको, पक्षी और भृङ्गको···। कितनी देर तक वह सुनाती पुकारती, दौड़ती रही, उसे पता नहीं; किन्तु बहुत देर नहीं। सहसा स्मरण आया, जिसे सर्व प्रथम यह सम्वाद देना उसका कर्तव्य था, उसे तो सुनाया ही नहीं। भागी वह सदनकी ओर।

'महारानी !' पूरे उच्च स्वरसे पुकारा उसने। आज पूरे चौदह वर्ष पीछे यह सम्बोधन उसके कण्ठसे फूटा। इन दिनों केवल 'स्वामिनी' कहनेकी उसे अनुमति थी, किन्तु आज···।

लेकिन मन्थरा स्वयं अपने सम्बोधनसे चौंक पड़ी। 'महारानी ?' उसकी स्वामिनी अबतो महारानी नहीं हैं। कितनी अनुचित बात कही है उसने। उसका दग्धमुख क्या कभी कुछ उचित बात नहीं कह सकेगा ? महारानी, अयोध्याकी महारानी तो कल आरही हैं।'

'राज मा····' फिर स्वर रुक गया मन्थराका। उसकी स्वामिनी, उन्हें राजमाता बनानेका स्वप्न देखकर जो अनर्थ किया उसने, आज कोई उसकी छाया भी सहन नहीं कर सकेगा। आज अनर्थ हो जायगा यदि उसने फिर यह सम्बोधन करनेकी इच्छा की। तब ?

'राजमाता ! राजमाता ठीक तो कह रही थी तू।' सुप्रसन्न स्वर तब तक सदनमें आती माता कैकेयीका उसके श्रवणोंमें पड़ा 'अभागी, पूरे उत्साहसे राजमाता क्यों नहीं कहती ? कैकेयी सचमुच राजमाता है अब। तूने उसे एक दुःस्वप्न दिखाया था और वह राजमाता हो नहीं सकी थीं। कल राम आ रहे हैं, अयोध्याके सम्राट राम और वे कैकेयीके पुत्र हैं। राजमाता है कैकेयी ! तू संकोच क्यों करती है ?'

'राजमाता !' डरते डरते बड़े संकोच पूर्वक स्वर निकाला मन्थराके कण्ठसे ।

'हाँ राजमाता' कैकेयीजीने एक स्नेह भरी धौल दी मन्थराके कूबर पर— 'उत्साहसे क्यों नहीं बोलती ? अबसे तू मुझे दूसरा कोई सम्बोधन करेगी तो शत्रुघ्न तेरा कूबर तोड़ देगा ।'

'राजमाता !' जैसे हृदयसे फूटा सम्बोधन, किन्तु उसके उल्लासमें मन्थरा भूलगयी कि वह क्या कहना चाहती है । उसके नेत्र झरने लगे ।

'सुन ! मेरा पुत्र, मेरा राम कल आरहा है । मेरा अयोध्या नरेश राम ।' गद्‌गद् स्वर माता बोल रही थीं 'बहिन सुमित्रा सेविकाओंकी पूरी सेनाके साथ यहाँ अभी पहुँचने ही वाली हैं । यह सदन, इसका उद्यान राजमाताको शोभा दे सके, मेरे रामको उसे देख प्रसन्नता हो, इस प्रकार रात्रिमें ही सज्जित हो जाना है ।'

'मैं, राजमाता मैं' मन्थरा कुछ कह नहीं पा रही थी । कुछ सोच नहीं पा रही थी ।

'तू बकरीकी भाँति 'में में' नहीं करती रहेगी ।' माता आज खुलकर हँसीं 'भवनकी सज्जामें सहायता कर और अपने इस कूबरको पहिले सजा ले । तेरा पुरस्कार तुझे अभी मिला जाता है और कल रामका नीराजन मैं कर लूँ तो तू जो माँगेगी....'

लेकिन मन्थराकी पूरी बात सुननेका अवकाश नहीं था । उसे आज पुरस्कार, उपहारकी चिन्ता नहीं थी । सचमुच वह अपना शृंगार करने दौड़ गयी थी ।

'मन्थराका शृंगार, उसका वस्त्र और रत्नाभरणोंका प्रदर्शनाधार बना उसका कुब्ज देह, माता सुमित्रा इस सदनमें आयीं तो उस दासीको देखकर हँसते हँसते विह्वल हो गयीं । उन्होंने माता कैकेयीसे कहा 'अपने नवीन नरेशको पहिले इस कुब्जाके विवाहकी व्यवस्था करनी होगी ।'

—★—

८१. माण्डवी-

'बेटी, आज भी तू..........' माता सुमित्रा पहुंचीं थीं दासियोंका समूह लिये श्रीभरतलालके सदनमें और वहाँ उस भवनकी अधिष्ठात्रीको देखकर सबके पद शिथिल होगये थे। यहाँ इस तेजोमयी सौम्यशीला तपस्विनीके समीप तो वायुके पद भी गम्भीर धन जाते हैं।

भास्करकी किरणोंने जैसे पुञ्जीभूत होकर एक क्षीणकाय पीताम्बर परिधान मूर्ति ग्रहण कर ली हो, वे शान्ततेजा भी, परम विनम्रा भी इतनी महनीया कि दृष्टि चरणोंसे ऊपर उठ न पावे किसीकी। एक वेणीभूत शिरोरुहा, अनलंकृता स्वर्ण देहयष्टि, केवल सौमङ्गल्य-चिन्हावशेषा, तपोधिदेवता भी कदाचित ही इतनी तेजोरूपा हों।

वेदिका पर बैठी थीं वे महातापसी। केवल कुशासन आस्तरण बना था उनका और उनका सदन, वह अयोध्याके राजसदनका अन्तःपुर, वह मणि भवन भी आज ऐसा लगता है जैसे किसी देवाङ्गनाने अपने अमरावतीके निकेतको ही तपोबन बना दिया हो। अगुर धूम्र नहीं देखे गवाक्षोंने वर्षोंसे और पुष्प-माल्य-सज्जा भी सदनको प्राप्त नहीं हुई। वह निर्माताकी कलाका निकष सदन आज अमार्जित, अनलंकृत, जैसे मणि अपने आकरसे अभी अभिव्यक्त हुई हो।

'माँ!' उठकर उन शीलमयीने माताके पदोंमें मस्तक रख दिया और अङ्कमें समेट लिया माताने उन्हें। दासियोंका साहस नहीं अनुमतिके बिना यहाँ अंगुलि तक हिला सकें और साहस तो यहाँ रवि-शशि किरणें भी यथेच्छ क्रीड़ा की कर नहीं पातीं। यहां उन्हें भी शान्त पादक्षेप करना पड़ता है।

'आप मुझे आज्ञा करें! आप मुझे मार्ग दिखावें!' उन शीलमयीने स्वयं मौन भङ्ग किया—'मैं बहुत सोचकर भी कर्तव्य निश्चय नहीं कर पाती हूं। आपके पुत्र अब भी तपस्वी हैं। अब भी उटज है उनका आवास और यह किंकरी उनकी प्रसाद भोगिनी है, किन्तु आज..........आज क्या करना चाहिए, समझ नहीं पाती हूं। आप आदेश करें। आपकी आज्ञा ही मेरा कर्तव्य........'

'मैं तेरा उद्यान स्वच्छ करा दूँ।' माता सुमित्राको भी मार्ग नहीं दीखा। आपको दीखता है ? जो पतिव्रता चौदह वर्षसे सम्पूर्ण भोगोंको त्याग कर अवध सम्राटके राजप्रासादमें भी तपस्विनी बनी रही है, अपने आराध्यसे पूर्व वह वस्त्राभरण धारण करें ?

पूरे चौदह वर्ष महातापसोंको भी अपने तपमें पश्चाद्गामी करने वाला अयोध्याका युवक राजकुमार कल अपने सदनमें आवेगा, यहाँ उसके तापस वेशका समावर्तन होगा। उसका सदन उसे अनलंकृत मिले, उसकी सहचरी अनाभरण तपस्विनी बनी द्वारपर उपस्थित हो, इतना निष्ठुर मत कोई कैसे दे सकेगा ?

'उद्यान सुसज्ज है मातः !' वे शालीना उपवनकी ओर नहीं मुड़ीं। केवल उस ओर उन्होंने श्रीमुख उठाया—'आपके तनय जन्म जात आराधक हैं। उद्यानके सुमन उनकी अर्चाके उपकरण बनते हैं। उद्यानकी सेवामें उनकी इस किंकरीने कोई प्रमाद नहीं किया है।'

अब उपवनमें जानेका प्रश्न ही नहीं उठता। कुमार भरतलालकी रुचि उनकी इस साकार भावनासे अधिक भला कौन जान सकता है और जब उद्यान इन करोंसे सज्जित हुआ, वहाँ किञ्चित परिवर्तन भी उसे अस्त व्यस्त ही तो करेगा।

'तुम्हारे सदनको मार्जित होना चाहिए।' माताने दासियोंको संकेत किया और उनका समुदाय तो इस संकेतकी आतुर प्रतीक्षा कररहा था। पूरा सदन उनके करोंकी विविध क्रियाओंसे सम्पूर्ण सक्रिय हो उठा।

'मैं स्वयं आ रही थी श्रीचरणोंमें।' अत्यन्त संकोच पूर्वक कहा जा रहा था—'मुझे कोई नहीं दीखता जो आज मुझे मेरा कर्तव्य निर्देश कर सके।'

'मैं कर सकती हूँ जीजी।' सहसा सदन द्वारकी ओर दृष्टि उठी, एक साथ सबकी, जहाँसे शब्द आया था।

सम्पूर्ण शृङ्गारमें आज वर्षों पश्चात देवि उर्मिलाका वह भव्य रूप। सौन्दर्य एवं तेजकी अधिदेवता जैसे स्वयं प्रगट हो गयी हों महातापसीके समाधानके लिए, शब्दोंकी कहाँ आवश्यकता है।

—✻—

८२. उर्मिला—

'प्रभु आरहे हैं। मेरे प्रभु भी आरहे हैं।' कुमार शत्रुघ्नके सन्देशने देवि उर्मिलाको चकित नहीं किया था। वे भी निश्चिन्त थीं माता सुमित्राके समान कि कल श्रीरघुनाथ अवश्य, अवश्य आरहे हैं। उन्होंने आजसे नहीं, सात दिन पूर्वसे सब सोच लिया है। उनका उपवन उनके करोंकी निपुण सेवा पाकर आज एक पुष्प गुच्छ बनगया है और उनका सदन, वह मणि सदन आज अमरावतीके शची-सदनसे कहीं सुसज्ज है।

'तुम सब मुझे भी सुसज्ज कर दो।' माता कौशल्याके भवनसे आते ही उन्होंने अपनी समस्त सेविकाओंको एक साथ आज्ञा दी 'कुछ क्षणोंसे अधिकका अवसर नहीं है इस समय।'

'प्रभु कल आरहे हैं स्वामिनी।' वेणी शृङ्गारिकाने उसमें पुष्प माल्य लगाते कहा।

'तब तक ये सुमन मलिन हो जायंगे?' तनिक ग्रीवा भङ्ग पूर्वक उसकी ओर देखा उर्मिलाजीने 'मेरे प्रभु, उर्मिलाके आराध्य भी आरहे हैं। पूरे चतुर्दश वर्षसे उनका स्नेहाधार यह शरीर शृङ्गारका अनभ्यस्त रहा है। सर्वथा तात्कालिक शृङ्गार क्या अपरिचित सा नहीं लगेगा? उन्हें कितना क्लेश होगा, यदि वे पहिचान लें कि मेरे बाहुओंमें आज ही वलय एवं कंकण आये हैं।'

'देवि रात्रि विश्राम भी तो करेंगी।' चरणोंमें आलक्तक लगाती किंकरीकी दृष्टि अपने कार्य स्थल पर स्थिर रही। बिना मुख उठाये ही उसने कहा था।

'विश्रामकी रात्रियाँ अब आरही है सुकले' मन्द स्मित आया अधरों पर 'अविश्रामकी रात्रियोंमें यह अन्तिम है और इसका भी तो समुचित सत्कार होना चाहिए। मैं शयन न भी करूँ, तुझे प्रातः श्रम तो करना ही है। आज ही तेरे कर श्रान्त होना चाहेंगे तो............।'

'सेवाका सौभाग्य मिला है अब इन्हें। श्रान्ति कैसी देवि! किन्तु....' कुछ कहते रुक गयी सेविका।

'कह जा तू अपनी।' उसे अनुमति दे दी गयी।

'स्वामिनीने इस समय जो त्वराका आदेश दिया हैं' उसने केवल दृष्टि उठायी अपनी आराध्याकी ओर।

'यह त्वरा तुम सब समझ नहीं पाती हो।' सदा ही उर्मिलाजीके ओज, तेज तथा अद्भुत प्रत्युत्पन्न मति स्वभावने सबको चकित किया है। आज भी वह चकित कर दे, आश्चर्यकी बात क्या हो सकती है। वे कह रही थीं 'मुझे अपनी आराध्या जननीकी सहायता करनी है। तुम सब जानती हो कि मेरी सम्मान्य बहिनका, नन्दिग्रामके महातापसका निज-सदन असज्ज पड़ा है और जीजी माण्डवी अपने बाल्यकालसे केवल उर्मिलाके चाञ्चल्यसे पराजित होती हैं। उनका जो मुझ पर अपार स्नेह है, आज उनकी सेवाका सौभाग्य भी तो मिलना चाहिये मुझे।'

× × × ×

'मैं कर सकती हूं जीजी!' देवि उर्मिलाने सुन लिया था माण्डवीजीके शब्द और उसका उत्तर देते ही वे उनके सदनमें प्रविष्ट हुई थीं।

'मेरी उर्मि, मेरी बच्ची।' पदोंमें प्रणत बधूको माताने उठाकर हृदयसे लगा लिया, 'तेरी समस्त कामनायें सदा सफल हों, सफल हों तेरे चरणों तक पहुँचने वाली कामनाएँ।

'तू क्या कर सकती है?' दो क्षण रुक कर माताने दुलारे भरे करोंसे मुख उठाया अपने अंकमें लगी उर्मिलाजीका।

'तुम स्वयं समाधान हो, सदासे मेरी समाधान रही हो।' माण्डवीजीने अङ्कमाल दी उठकर—तुम आगयीं, अब समाधान कहाँ आवश्यक रहा।'

'लेकिन मैं वह सब कर सकती हूं जो आज आपके लिए आवश्यक है।' उर्मिलाजी बालिकाके सहज सारल्यसे कह रही थीं 'किसी जटाधारी, वल्कल वसनी तापसकी सेवामें समुपस्थित होने योग्य वेश मैं बना सकती हूं आपका। आप केवल चुपचाप उस रत्नासन पर आसीन होजायँ।'

'आप अब यहाँसे निश्चिन्त रह सकती हैं माँ।' माता सुमित्राकी ओर देखा उन्होंने 'आज इन केशोंमें नवमल्लिका तथा चरणोंमें आलता सजानेका सौभाग्य मुझे मिलना चाहिए। युग बीत गये, अनभ्यस्त पड़ी है मेरी कला।'

'माँ, आप पधारें।' माण्डवजीने भी अनुरोध किया। 'उर्मिलाको शैशवसे समझती हूं मैं। आज इसे कोई रोक नहीं सकता। इस उल्लासके दिन इसे अपने मनकी करने देना होगा।'

'मेरी अच्छी जीजी।' हाथ पकड़कर रत्नासन पर बैठा दिया उर्मिलाजीने और उनके कर व्यस्त बन गये।

—:०:—

८३. श्रुतिकीर्ति—

'जीजी, सेवा मेरा स्वत्व है।' स्वरमें कभी किसीने शैथिल्य और क्षोभ जिनके नहीं सुना, विपत्तिके बीते वर्षोंमें जो संतप्त मरु-भूमिमें क्षीणकाय स्रोतस्विनीके समान सबके लिए ही एकमात्र साकार सान्त्वना रहीं, जिनके मुख पर म्लानता कमसे कम औरकी दृष्टिने नहीं देखी, आज उनका स्वर, आज जो आह्लाद है 'आपके सदनसे आ रही हूं मैं।'

'तुम्हें वह पूरे चतुर्दश वर्ष मिला है बहिन' उर्मिलाजीने अङ्कमें भर लिया, 'तुम्हें नहीं मिला स्नेह। किसीका भी स्नेह तो नहीं मिला जो वास्तविक स्वत्व है तुम्हारा। तुमने भी देना ही देना सीखा है।'

'इस कुलमें कोई लेने वाला नहीं दीखता मुझे।' माण्डवीजीका स्वर तनिक सहज गम्भीर है। वैसे वह उतना ही गम्भीर है, जितनी वीणाकी झंकृतिके लिये सम्भव है। हम विदेहकुलकी कन्यायें, सम्भवतः तात चरणने सोचा होगा कि दानमें ही नारीका गौरव है, तुष्टि हैं, श्री है और उनकी पुत्रियोंको अवधमें पर्याप्त अवसर मिलेगा सेवाका, स्वसुख दानका, किन्तु यह तो कुल ही दाताओंका कुल है। गृहीता कोई तो नहीं दीखता मुझे।'

'श्रुतिकीर्तिने शैशवसे सबका स्नेह लिया है।' स्वर माधुर्य बहुत सुना गया है; किन्तु वीणाके तारों पर यदि कोकिलशावकका कूजन आ बैठे? साथ ही आज तो स्वरमें उल्लास, श्रद्धा, आनन्द, पता नहीं कितनी मधुरिमा आ बैठी है 'अपना स्वत्व मैं समझती हूं और अब तो उसकी वर्षाका सुअवसर आरहा है मेरे लिए।'

'ग्रीष्ममें मरालीने मानसरोवरमें भी तप किया।' उर्मिलाजीने सस्नेह अलकें हिला दीं 'अब उसका पावस प्रारम्भ होने वाला है।'

'मैं तो तपस्वियोंके तपका प्रसाद प्राप्त करने आयी हूं।' श्रुतिकीर्तिजीने अपनी प्रार्थनाके लिए उपयुक्त अवसर चुन लिया—'अवधके राज सदनमें कमसे कम एक मिथिला कुमारी है जिसे भली प्रकार लेना आता है। आप दोनों वचन देंगी न अपनी छोटी बहिनको।'

'सच! कीर्ति, तुम्हें कुछ चाहिए?' कितना उत्साह, कितना आग्रह था स्वरमें माण्डवीजीके, कैसे कहा जा सकता है—'आज किसीके लिए भी कुछ अदेय नहीं है बहिन।'

'कीर्ति कम चपल कबसे रही है ।' उर्मिलाजीने कपोलों पर हल्की चपत दी—'राजसदनका कोई कक्ष नहीं दीखता मुझे जहाँ की कोई वस्तु इसकी न हो । बता तो भला, क्या लेगी तू ?'

'राजसदन तो सम्पूर्ण ही मेरा है ।' मन्द हास्य अधरों पर आया—'मुझे अवधके तपस्वियोंका प्रसाद चाहिए और उसमें मैं कोई विभाग नहीं करना चाहती ।'

'वह प्रसाद जैसे तुम्हारा स्वत्व नहीं ।' माण्डवीजी भी हँस गयीं—अब वचन लेकर तो स्पष्ट कर दो ।'

'मुझे अरण्यसे आये और नन्दिग्रामके भी समस्त वल्कल, मृगचर्म, जीजीके वस्त्र, कुशासन, अक्षसूत्र, जलपात्र एवं अन्य सभी उपकरण चाहिए ।' श्रुतिकीर्तिजीने अपना प्रस्ताव स्पष्ट किया ।

'तुम अपने सदनको अब तपोवन बनाना चाहती हो, सो नहीं चलेगा ।' उर्मिला जीखोलकर हँसी—'तुम दोनों ने अब तपस्वी बनना निश्चित किया हो तो मैं पहिले कह दूँ कि इसकी अनुमति कोई नहीं देगा ।'

'इतना त्याग तो हममें इन गत विषम वर्षोंमें भी नहीं आ सका ।' स्वर भाव भरा हो गया—'अपने सदनकी रंगशालाका एक कक्ष इस सामग्रीसे सज्जित करनेकी अभिलाषा है । आप दोनोंके सदनकी इन वर्षोंकी उपयोगमें आई सामग्री तो सेविकायें अभी ले गयी हैं मेरे यहाँ । मेरा अनुरोध कभी अस्वीकृत होजायगा, ऐसी सम्भावना स्वप्नमें भी मैंने नहीं की है ।'

माण्डवजीने अपने कक्षमें देखा । सचमुच उनका बल्कल, चर्माम्बर, जलपात्रादि कुछ भी तो वहाँ नहीं है । इन वर्षोंमें जिन वस्तुओंका उपयोग वे करती रही हैं, कोई वस्तु नहीं उनके पास ।

'राजसदन सम्पूर्ण ही मेरा है जीजी ।' सहास्य कह रही थीं श्रुतिकीर्तिजी—'मुझे यहाँ तो अनुमति आवश्यक है नहीं । मैंने आप दोनोंकी चित्रशाला अछूती छोड़ दी है और आराधना पीठ भी । वैसे उनके लिए भी मेरे मनमें कम लोभ नहीं आया ।'

'इस सबका क्या होगा ?'

'कभी-कभी उसे देख लिया करूँगी ।' संक्षिप्त उत्तर मिला ।

'अच्छी बात' स्वीकृतिमें भी उल्लास था—'हम सब एकत्र ही इन वर्षोंकी स्मृति उस कक्षमें पा लिया करेंगे ।'

—०—

८४. सेविकायें—

'प्रभु आरहे हैं।' समाचार समस्त राज सदनमें ही नहीं, सम्पूर्ण नगरमें प्रसारित होगया रात्रिके प्रारम्भमें ही।

'प्रभु, महाराजाधिराज मर्यादापुरुषोत्तम ! हमारे स्वामी और वे कल आरहे हैं महारानीके साथ। 'दासियोंके हृदय भावसे भर उठे हैं और उनकी स्फूर्ति, आज वह अतिमानव स्फूर्ति है।

'हमारे स्वामी श्रीरघुनाथ और स्वामिनी श्रीजनकनन्दिनी।' उन सेविकाओंका गर्व धन्य है। उनके सौभाग्यकी समता नहीं है। उन्हें कहाँ पता है कि उतके नित्य सौभाग्यका किञ्चित लाभ प्राप्त करनेकी लालसा लिये वीणापाणि शारदा, उमा और शची तक आज उनके पीछे दौड़ी फिररही हैं।

'पराधीनतामें कितना दुःख है सखि।' एकने दूसरीसे कहा।

'अच्छा !' चौंक गयी सुननेवाली 'तेरी स्वाधीनतामें बाधा क्या है ? मैं अभी राजमातासे कह देती हूं।'

'और तब मैं तेरे सम्पूर्ण केश नोच डालूँगी।' पहिली हँसी—'स्वामिनीको आने दे, मैं कहूंगी कि इनके दीर्घ वियोगने तुझे सर्व बुद्धिहीना बनाया है। अब तुझे चिकित्साका अवकाश अपेक्षित है।'

'मैं बुद्धिहीना होगयी और तू ?' कलह नहीं, स्नेह कलह थी यह।

'तू इतना भी नहीं जानती कि स्वामिनकी सेवा-प्राप्ति सच्ची स्वाधीनता है।' पहिलीने बताया—'कितनी विवशता भरे थे ये चौदह वर्ष। उत्तम भोजन, श्रेष्ठ वस्त्राभरण और बस। कारागारमें बन्दीको भी भोजन वस्त्र मिलनेकी बात सुनीगयी है असुरोंके यहाँ। कर्तव्यके लिए क्षेत्र नहीं, अवकाश नहीं, इससे अधिक विवशता क्या होगी और विवशताका ही नाम तो पराधीनता है।'

'ठीक कहती है सखि ! इन वर्षोंकी वेदना; हम सब जैसे केवल भोजन करने और विश्रामके लिए बनी हैं।' दूसरीके स्वरमें भी वेदना आयी 'किसीको हमारी कोई सेवा अपेक्षित नहीं थी और आग्रह पूर्वक कुछ करो…………।

'राजामाता तक कातर हो उठती थीं यदि कोई तुच्छ सेवा उनके सम्मुख उनकी करने लगूँ।' पहिलीने सोल्लास कहा 'गये ये दुर्दिन। अब कल स्वामिनी आरही हैं। अब उनके श्रीचरणोंकी सेवाका सौभाग्य हमारा स्वत्व है।'

'हम सेविकाएँ हैं। हम स्वाधीन तो तब भी नहीं रहेंगी।' सस्मित कही गयी यह बात—'रघुकुलके सब कुमारों, सब राजमाताओं और महारानी तथा उनकी सभी बहिनोंका एक ही स्वभाव है। तनिक भालपर स्वेद सीकर दृष्टि पड़े तो आदेश मिल जायगा 'सुकले, श्रान्त होगयी तू। विश्राम कर तत्काल' स्वामिनी अपने शयनसे पूर्व शयनार्थ न भेंज दें, यह कभी हुआ है ?'

'स्नेहमयी जननी अपनी बालिकाको भी इतना वात्सल्य कहाँ दे पाती हैं।' नेत्र भर आये पहिलीके।

'हमें पहिले जलपान, भोजन, अङ्गराग, आभूषण, वस्त्र, माल्यादि मिल ही जाना चाहिए। अस्वीकार करना सेविकाके लिए धृष्टता है। स्वामिनीका प्रसाद उनसे छिपा कर भले प्राप्त कर लिया..........' दूसरी कहती जा रही थीं— केवल उनके वस्त्र एवं आभरण यदाकदा उनके श्रीकरोंसे प्राप्त होंगे। सेवाके समय तो हम उनसे अधिक सुकुमार हैं, श्रान्त होजाती हैं और सुखपभोग हमें उनसे प्रथम स्वीकार करने ही पड़ते हैं, कम पराधीनता है सखि ! हम सेविकायेँ न होतीं, उनकी सेवाके लिए कुछ तो अधिक आग्रहका अधिकार होता हमारा।'

'किसी आग्रहको अस्वीकार करना उन्होंने कब सीखा है।' पहिली अब कठिनाईसे बोल पारही थी। 'उनके स्नेहकी कोई सीमा नहीं और चाहे जितनी धृष्टता, चाहे जितना दुराग्रह तू उनसे कर सकती है।'

'यही तो नहीं हो पाता। 'दूसरीका स्वर भी गद्गद् था 'उनका स्नेह भरा आदेश और साथ उनके अपार वात्सल्यका आग्रह, उनकी सेवाके लिए भी वह आग्रह कहाँ पूरा अवसर देता है।'

'आजकी रात्रि ही सम्पूर्ण सुअवसरकी रात्रि है।' पहिलीने सावधान किया और साथ ही अपने नेत्र पोंछ लिये 'आज हमारी सेवामें कोई आग्रह व्याघात नहीं बनेगा और उनके सदनकी पूरी सज्जा अपना स्वत्व है इस समय।'

'जितना समय मिल सके।' दूसरीने कार्यमें हाथ लगाया 'राजमाता स्वयं आजायेंगी अभी और क्या आश्वासन कि उनके नेत्रोंको तुम्हारे या मेरे कर श्रान्त नहीं प्रतीत होंगे।'

है कोई आश्वासन आपके समीप ? अवसर तो आज ही है।

—०—

८५ विप्र वर्ग—

'श्रीरघुनाथ कल आ रहे हैं।' कहीं कोई सन्देह नहीं था तपोधन श्रुति पारङ्गत विप्रों एवं उनके अन्तेवासी ब्रह्मचारियोंके मनमें, किन्तु समाचारने अद्भुत उमङ्ग दी।

'सुरोंका शत्रु समाप्त होगया। सुरक्षित होगयी श्रुतिपरम्परा आसमुद्रान्त। निर्विघ्न होगये वैदिक यज्ञ। अनवरुद्ध हुये समस्त अरण्योंमें अरण्यानी तापसोंके पवित्र पद। धर्म त्रेतामें भी चतुष्पाद हुआ आज और अब वह शारङ्गधन्वा श्रीरामकी बाहु-छायामें नित्य निर्भय है।' हव्यवाहने पुनः आहुतियाँ प्राप्त होनेसे पूर्व सायंकालीन हवन समाप्त होचुके थे।

'इतनी उद्दीप्त, इतनी निर्धूम लपटें हमारे हवन कुण्डसे उठती हैं, यह आज हमने देखा।' एक ब्रह्मचारी आनन्द विभोर हवनीय कुण्डकी निर्मल लाल अग्नि जिह्वा एकटक देखता जारहा था।

पवनमें आज प्रमादका नाम नहीं।' सचमुच आज यज्ञ वेदीके समीप वायुकी अपनी कोई गति दिशा नहीं थी। यदि यक्षपतिके नामकी आहुति पड़ी तो उसकी सुरभि सीधे उत्तर गगनमें गयी और प्रचेताकी आहुति पश्चिम। सुरभि आज धरा पर भ्रान्त भटकती नहीं थी और यज्ञीय धूमने किन्हीं नेत्रोंको भी कष्ट देनेका साहस नहीं किया।

'श्रीराघवेन्द्रका अभिषेक तो अभी होगा।' एक वृद्ध आचार्यने छात्रोंको समझाया, 'किन्तु पवन, प्रचेता, यज्ञपति, अग्नि आदिने उनकी मर्यादा अभीसे शिरशः स्वीकार करली है।

'दशग्रीवके असीम आतङ्कसे जिन्होंने परित्राण दिया, उनका सम्मान करके सुर कोई उपकार तो नहीं करेंगे।' कोई युवक मस्तक ऊपर उठा था-'अवधके सम्राट-का अनुगमन किसीका भी अहोभाग्य। उनकी सेवाका सुअवसर सदा ही सुरोंको भी स्पृहणीय ही रहेगा।'

'दक्षिणवल्ली, श्वेत कण्ठकी, द्विपुष्प पद्म, अपने सम्राटको ब्राह्मण केवल आशीर्वाद दे सकते हैं और ये कुछ दिव्यौषधियाँ।' एक प्रहर चलता रहा हवन, स्वतिपाठ और उसके अनन्तर जब किञ्चित शान्ति हुई, एक किशोर विप्र कुमारने अपने सहाध्यायियोंसे प्रस्ताव किया। उसने अपने अध्ययन कालमें कुछ अमित प्रभाव

औषधियोंके वर्णन पढ़े हैं और वह चाहता है कि वे सबकी-सब सम्राटको उनके अभिषेकके दिन ही निवेदित कर दी जायँ।

'समित सञ्चयनके समय मेरे मित्रने ध्यान नहीं दिया' दूसरे छात्रने सस्मित सूचित किया 'अवधके उपकण्ठके अरण्यमें जितनी वल्लियाँ हैं, सब दक्षिणवल्ली हैं। वामवल्ली कहीं आवश्यक हो तो वह अब अवश्य अन्वेषणीय है।'
'नगरोद्यानोंकी पुष्पवल्लियाँ भी दक्षिणवल्ली ही हैं।' दूसरेने सूचित किया 'सरोवरोंमें प्राय: द्विपुष्प पद्म अब विकसित होते हैं। अवश्य कण्टकी के क्षुप नगरसे दूर अरण्यमें ही हैं, किन्तु उनमें भी धवल पुष्पोंकी ही बहुलाता है।

'कोई दिव्यौषधि नहीं, जिसके अधिदेवतामें आज अयोध्याकी भूमिमें आकर परिपूत होनेकी उत्कण्ठा न हो।' ब्रह्मचारियोंमें सबसे वयस्क छात्रने समझाया 'अपने नवीन सम्राटके श्रीचरण जहाँ पहुँचेंगे, अमित प्रभाह औषधियाँ, दिव्यमणियाँ एवं दिव्य शक्ति प्राणी वहाँ आविर्भूत होकर अपनेको सार्थक करेंगे।

'हम ब्राह्मणोंके श्रुति-पाठ और आशीर्वाद कल सार्थक होंगे।' रजत केश, वलीपलित काय, गौरवर्ण, तेजोदीप्त भाल, कुशपाणि वृद्ध ब्राह्मण का कण्ठस्वर पाठमें सदाका अभ्यस्त है। 'हमारा संयम, हमारा तप, हमारा शास्त्राध्ययन सब कृतार्थ हुये। श्रीरामके राज्याभिषेकमें मन्त्र पाठका सुसमय मिलेगा, साक्षात् श्रुतिके लिए भी यही परम सफलता है।'

निद्रा तमसकी परिणति है और अयोध्यामें सत्त्व साकार नृत्य कररहा था। निद्राके अलसपद आज अवधकी सीमामें पहुँच नहीं सकते थे। रात्रिके चतुर्थ प्रहरने कितनी शीघ्र पदार्पण किया, श्रीरामकी चर्चामें पता ही नहीं चला और चतुर्थ प्रहरका प्रारम्भ विप्रवर्गके नित्यकर्मके प्रारम्भका यह शुभ समय। स्नान, तर्पण, सन्ध्या, हवन, देवार्चन और आज कुछ त्वरा है, श्रीरघुनाथ आज अयोध्या आरहे हैं।

——

८६-सेवक-

'हम आपकी कोई सहायता कर सकते हैं ?' आज नगरनिवासी और आगतका भेद नहीं रहा है। प्रत्येक चाहता है कि उसे कोई सेवा प्राप्त हो। कल श्रीराघवेन्द्र आरहे हैं। नित्य सज्जित अवधपुरी जैसे युगों पश्चात् आज सजायी जारही है।

राजसभा नवीन सज्जामें सज्जित होनी है। कल श्रीरघुनाथ आरहे हैं। उनके साथ लङ्काके नवीन नरेश हैं, किष्किंधाके वानरपति हैं अपने मुख्य नायकोंके साथ, यह समाचार आगया है। कुछ अतिथि पहिले से आगये हैं और अब तो राज्याभिषेकके समय तक सम्मान्य अतिथियोंका आगमन चलता ही रहेगा। सप्तद्वीपवती पृथ्वीके सम्राटके अभिषेकके समय प्रायः सभी नरेशोंका आगमन होगा। विद्वद्वर्ग, मुनिगण लब्धख्याति कलाविद्, पता नहीं कब कौन आजाय। सबके निवासकी समुचित व्यवस्था सदा प्रस्तुत रहनी है।

कल मर्यादा-पुरुषोत्तम आरहे हैं। उनके स्वागतकी प्रस्तुति, रथ, गज, अश्वादिको प्रातःसे पूर्व सज्जित होजाना चाहिए। मार्ग-सज्जा होजानी चाहिए और जो समर-श्रान्त साथ आ रहे हैं, श्रीरघुनाथके राजसदन जैसी व्यवस्था उनके लिए नहीं होगी, मर्यादा पुरुषोत्तमको सन्तोष होगा ?

सेवकों के लिए दो क्षण रुकना कठिन है कहीं। उनकी दौड़धूप, उनकी व्यस्तता, उनकी कार्य-निपुणता और उनका उत्साह आज सीमाके बन्धनसे परे हैं। आज कोई क्षुद्र सेवक भी अपने कार्यका कोई अंश दे दे, सेवाका छोटासा भी सुअवसर प्राप्त होजाय, किस सुरका हृदय समुत्सुक नहीं होता ? फिर अयोध्याके जन तो श्रीरघुनाथके स्वजन हैं। जो भी राजसेवक सम्मुख आजाता है, जैसे प्रत्येक प्राण पूरी अभीप्सासे अनुरोध करना चाहता है 'कोई सहायता, कोई सामान्यतम सहायता कर सकते हैं हम आपकी ?'

'आपके स्नेहका आभार।' सानन्द, सस्मित एक उत्तर है समस्त सेवकोंका। आज उनके सौभाग्यकी सीमा नहीं है। उनसे स्पृहा नहीं की जा सकती। विश्वके महानतम वरदाता भी उनकी कृपाकी कामना ही कर सकते हैं।

'पूरे चौदह वर्ष हमारे असह्य आलस्यमें कटे।' सेवक मुखसे नहीं कहते, किन्तु उनके नेत्र, उनकी भंगिमा कहती है 'आज बीते हैं विपत्तिके वे दिन। दीर्घकुण्ठित कायाको आज किञ्चित अवसर प्राप्त हुआ है क्रियाशील होनेका। शरीरकी सार्थकता-

का क्षण आज आया है। हम जितना कर सकते हैं, उतना कार्य, उतनी सेवा हमें आज भी कहाँ प्राप्त होरही है।'

'हम जानते हैं अपने स्वामीका प्रभाव, स्वभाव।' किसी वृद्ध सेवकने बहुत आग्रह करने पर एक नागरिकसे कहा था 'किंचित सेवाका सुआवसर आज आया है, मात्र आज। जो सम्मान्य अभ्यागत महाराजके साथ आरहे हैं, वे यों ही अपना सर्वस्व त्यागकर दशग्रीव जैसे दुर्दान्तके सम्मुख समर करने नहीं गये थे। अयोध्यानाथके सान्निध्य एवं सेवाका सुख ब्रह्मानन्दसे तुलनीय नहीं, अवश्य वे जानते हैं। वे महाराजके समर-सहायक हैं और अवधके आदरणीय अतिथि, उनका अतिक्रमण किया नहीं जा सकता। कल आते ही प्रधान सेवाएँ उनका स्वत्व होजायँगी, यह हम निश्चित जानते हैं। अन्य जो अतिथि आरहे हैं, आप देखते ही हैं कि सुप्रसिद्ध शूर, सम्मान्य नरेश ही नहीं, सुरनायक तक अयोध्या आते ही कोई न कोई सेवा महाराजकी ले लेना चाहते हैं और उन्हें वारित कैसे किया जा सकता है। हमारे सौभाग्यका दिन तो केवल आजका दिन है।'

'अतिथि तो आराध्य ही हैं, किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तमने अपने गुरुजनोंको अनुजोंसे कम नहीं माना, आप जानते हैं।' अत्यधिक आग्रह जब एक पुरवासीने किया तो उन्हें राज सेवकका विनम्र उत्तर प्राप्त हुआ 'हमारे लिए आप श्रीशत्रुघनकुमारके समान सम्मान्य हैं। मैं अपनेको भाग्यवान मानूँ यदि आप अपनी कोई सेवाका आदेश करने योग्य इस जनको जानें।'

'आप यदि कष्ट न करें।' सेवकोंमें परस्पर जो उत्साह समन्वित स्पर्धा है आज, कोई नहीं चाहता कि उसके सम्मुख जो कार्य है, उसका कोई अंश पूर्ण करने दूसरा भी आजाय, जब आ ही जाय, उसे वारित तो नहीं किया जा सकता।

'आप अब तक श्रान्त होचुके होंगे, किंचित विश्राम करलें।' सम्मित उत्तर आता है सहयोगीका। अथवा वह कहता है 'आपके योग्य यह क्षुद्र कर्म नहीं। इसे तो आप इस जन पर छोड़ दें तो अपार अनुग्रह।

आदेश देनेका कार्य आज केवल महामन्त्रीने ले लिया है। सेवकोंके करोंमें विश्वकर्माका कौशल और उनकी सूझमें भगवती वीणा पाणिकी प्रतिभा आज स्वतः प्रबुद्ध है। वे आज उत्फुल्लकारी व्यस्तता अनुभव करते हैं।

---

८७. सैनिक—

'श्रीराघवेन्द्र आरहे हैं, अयोध्याके महाराज ! सप्त द्वीपवती पृथ्वीके सम्राट ।' अयोध्याके सैनिक तो श्रीरघुनाथके स्वजन हैं । उनका आनन्द आज कितना है, कैसा है, कैसे वर्णन किया जा सकता है ।

अयोध्या, किसी भी आर्य नरेशके सैनिक उसके स्वजन ही तो होते हैं । वैतनिक सैनिक तो कलियुगकी कुत्साका कुपरिणाम है । स्वयं नरेश प्रधान सेनापति और उसके सैनिक, उसके स्वजन, सम्बन्धी, आत्मीय क्षत्रिय-तरुण । यदा कदा कोई सम्मान्य शूर कहीं सेनामें स्थान पाजाय, अपवाद ही रहा यह सदा ।

'अयोध्या नरेश सदा सम्राट रहे हैं ।' अवधके सैनिकोंका शौर्य सुर-असुर सबके सम्मानकी वस्तु है । महर्षि वशिष्ठका तप: तेज जहाँ अपना वरद हस्त मस्तक पर फैलाये हो, वहाँ शस्त्र शौर्यको पराभव देनेका स्वप्न देखनेवाला स्वयं अपनी सत्ता खो बैठेगा ।

'दशग्रीव था जो सदा दुर्दम रहा ।' सैनिकोंको—अवधके सैनिकोंकी परम्पराको यह असह्य रहा है, किन्तु दशग्रीवको महाराज मान्धाताने जो वचन दे दिया, उसका भङ्ग तो सम्भव नहीं था । उस नैकषेयने भी वचनकी सीमा भङ्ग करनेका साहस नहीं किया कभी । अयोध्या पर आक्रमण उसका साहस भी नहीं सोच सका ।

'रघुकुलका वह चिर-शत्रु समाप्त हो गया और हम अपने अधीश्वरके चरणोंके पीछे भी उससे संग्रामके समय खड़े होनेका अवसर नहीं पा सके ।' सैनिकोंके मनका यह क्षोभ मिटाया नहीं जा सकता—'वानर-भालुओंने प्राप्त कर लिया वह सुयश । अयोध्याके अधिपतिके वे सहायक बने ।'

'लङ्का अब श्रीरघुनाथकी चरणाश्रिता है । वन्य जातियाँ अवधके सिंहासनके साथ हैं और अब वानर-भालु हमारी सेनाके मुख्यांश बननेका स्वत्व सम्मान पूर्वक प्राप्त कर चुके हैं ।'

'दिवङ्गत चक्रवर्ती महाराजको महेन्द्र अपने सिंहासन पर साथ बैठाते थे ।' सैनिकका गौरवपूर्ण स्वर उचित—'श्रीरघुनाथके सम्मुख अब वे वज्रपाणि उनके पाद-पीठपर बैठनेका साहस भी नहीं कर सकते । भू-सीमाओंकी चर्चा क्यों की जाय ।

अवधके अधीश्वरको अमरावतीके स्वामी सम्राट स्वीकार करके अपनेको ही गौरवान्वित करेंगे और दैत्य-दानव कुलोंमें भी कोई हमारा प्रतिस्पर्धी नहीं है।'

'हमारे लिए अब कोई अवसर नहीं है।' एक शैथिल्य था स्वरमें—'हमारे धनुष एवं तूणीर शोभाकी वस्तु हैं और हमारी शौर्य-गाथा केवल कवि मानसका उत्स आनन्द।'

'हम एक अवसर, एक महत्तम अवसर अपने शस्त्रोपयोगका नहीं पा सके; किन्तु निराश होने जैसी तो कोई बात नहीं है।' युवक सदा ही स्वप्नदर्शी होता है और अयोध्याके शूरका स्वप्न साकार करनेमें बाधा बनकर तो विधाता भी अपने आसन पर अवस्थित नहीं रह सकता—'कल महाराज पधार रहे हैं। राज्याभिषेक और फिर अश्वमेध यज्ञ तो सुनिश्चित है।'

'त्रिभुवनजयी दशग्रीव जिनके शरानलमें आहुति बन गया, उनके यज्ञीय अश्वके अवरोधकी सम्भावना दीखती है आपको?' बात सर्वथा आधारहीन तो कही नहीं गयी है। 'अश्व रक्षाका सम्मान अवश्य प्राप्त होजायगा हमें और अजीर्ण हो जायगा नर-पतियोंका सत्कार स्वीकार करते करते। अभ्यर्थना ही अश्वको मिलनी है, जहाँ वह जाय।'

'हम सावधान रहेंगे। सन्नद्ध रहेंगे हमारे शस्त्र और हम प्रस्तुत रहेंगे सदा सेवाके लिए।' एक तरुणने गम्भीरतासे कहा—'हमारा कर्तव्य तो आदेशकी प्रतिक्षा और पालन है।'

'अपने अधिपतिके आदेश पर उत्सर्ग होजाय, धन्य है वह क्षत्रिय शूरका वन्दनीय सिर।' कोई कहे, बात सबकी और सच्ची—प्राण प्रस्तुत होकर भी काम नहीं आपाते अपने अधीश्वरके, खेद तो यही है।'

'अभी तो हमें केवल कलके स्वागतकी सज्जा करनी है।' कल श्रीरघुनाथके पधारने पर अवधकी अपार वाहिनी अपने सैनिक ढंगसे उनकी अभ्यर्थना करनेके लिए सज्ज होरही है इस समय।

८८. सखा—

अयोध्यामें बाल-सखा हैं श्रीरघुनाथके। विपत्तिके ये चौदह वर्ष, श्रीराम जिनके प्राण हैं, उन्होंने यह चौदह वर्ष कैसे व्यतीत किये, आप अनुमान कर सकते हैं ? और कल वे प्राणप्रिय आरहे हैं।

'श्रीराम सदासे त्रिभुवनके स्वामी हैं। अयोध्याके अधीश्वर तो वे हैं ही। कैकेयीका व्याघात, किसीके मनका मिथ्या व्यामोह सत्यको परिवर्तित तो नहीं कर सकता। राम अवधमें रहें या वनमें, अयोध्याका सिंहासन और किसीका हो नहीं सकता। कैकेयीके लोभने उसे वञ्चित किया और वे भरतसे भी गयीं।' मित्र मण्डलकी प्रारम्भसे भरतलाल पर सम्पूर्ण श्रद्धा है, असन्दिग्ध अनुराग।

'श्रीरामको छोड़कर अयोध्याका, अरे नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंका भी अन्य कोई स्वामी हो तो फिर उसे जै राम जी। उसकी कोई आवश्यकता नहीं। उसकी कृपा वह अपने पास रखे, किन्तु श्रीराम, वे अधीश्वर कहाँ हैं ? वे सिंहासन पर भले बैठ लें; किन्तु उनमें ऐश्वर्य, उनमें शासन, अरे वे संकोचशील अपने—सदाके अपने। श्रीराम सिंहासन पर होंगे, प्रत्येक मित्रको लगता था, सिंहासन पर उसीका हाथ है और हाथ है उसके अपने हाथसे अधिक सबल, अधिक स्नेह-पूर्ण, अधिक अपनत्व भरा।

'कल आरहे हैं श्रीरघुनाथ' सबने राजसदनसे निकलते ही घेर लिया है कुमार शत्रुघ्नको—'आप जा कहाँ रहे हैं ? श्रीरामके निज सदनकी सज्जा पूर्ण होचुकी ? आप उसे स्वयं उपस्थित रहकर सजावें और हम सब भी।'

'सब मित्रोंके गृह पूर्ण सज्जित रहेंगे कल।' कुमारकी बात—'सम्भव है मर्यादा पुरुषोत्तम अपने सदन जानेसे पूर्व मित्रोंके यहाँ पधारें।'

'यह कैसे हो सकता है ? कौन करने देगा यह राम को ? हम सभी उत्सुक हैं, हमारे गृह वे आवें और हमारे साथ वहाँ भोजन करें; किन्तु उसके लिए अब समयका अभाव कहाँ है ? कल ? कल तो यह उन्हें करने नहीं दिया जासकता।' सखाओंके स्नेहको आप न समझते हों तो मेरे पास कोई उपाय नहीं है।

श्रीराम और श्रीजनक-नन्दिनी चौदह वर्ष वनमें रहकर आये हैं। वनके क्लेशसे क्लांत उनके सुमन सुकुमार शरीर और अभी ही त्रिभुवन दुर्दान्त दशग्रीवसे भयानक

सग्राम हुआ है। सबसे प्रथम आवश्यकता लगती है सखाओंको कि उनके वनसे आये प्राणोपम सखा कुछ काल विश्राम करें। अपने निज-सदनसे उन्हें कहीं जाना न पड़े। कुछ समय उनकी भली प्रकार सेवा की जाय। स्वागत सत्कार, राजकार्य, दौड़, धूप, यह सब तो चलना ही है, चलेगा, कुछ काल यदि यह सब रोक दिया जा सकता।

'श्रीरघुनाथको रोका तो नहीं जा सकता।' कुमारने नम्रतापूर्वक अपनी बात कही।

'सचमुच रोका तो नहीं जा सकता।' सखा भी चौंके। अपने मित्रके मनको वे शैशवसे जानते हैं। श्रीरामको अपने सुख, अपने सुयश, अपने सम्मानका कभी ध्यान रहा है, जो आज रहेगा। वे तो सदासे मित्रोंके सुख सम्मानके लिए चिन्तित रहे हैं। यदि अयोध्यामें आते ही वे आग्रह पकड़ लें, ऐसा आग्रह उनके लिए असम्भव तो नहीं—'आप सबके सदन गये बिना मैं राजसदन नहीं जाता।' रामने जब भी किसी मित्रके सुख या सम्मानके लिए आग्रह किया, उनके उस आग्रहको कोई किंचित भी कहाँ शिथिल कर सका कभी ?

'कुमार, गृह हमारे सज्जित होने चाहिए और अभी हुए जाते हैं। श्रीराम आ सकते हैं वहाँ, सम्भावना पूरी ही है और आवेंगे तो उनके कमल दल दृग क्षण भरमें सूक्ष्म निरीक्षण पटु हैं, यह हम जानते हैं। उन्हें हमारी व्यवस्था लेकर किंचित भी चिन्ता हो, कोई नहीं चाहता।' सखाओंने तत्काल निश्चय किया ; किन्तु आप या कोई उन्हें संकेत भी नहीं करेंगे कि उन्हें हमारे सदन स्मरण आवें।

'उनके साथ हम कल राजसदन आवेंगे और वहाँ राजमाताके करोंका प्रसाद साथ ग्रहण करेंगे।' प्रस्ताव न भी आता तो यह बात बिना कहे भी सुनिश्चित थी। इस समय तो सबको अपने-अपने भवन सुसज्जित कर देने हैं। श्रीराम यदि आवें ही वहाँ ····समय अल्प है अब और सबको शीघ्रता है।

———

८६. सहेलियाँ—

अयोध्यामें श्रीजानकीजीकी सहेलियाँ भी हैं ही। कुछ हैं अवधकी कुल वधुएँ और कुछ कन्यायें हैं जो विदेह कुमारियोंको भाभी कहती हैं। इनका स्वत्व सबसे अधिक है। मर्यादा पुरुषोत्तमको जो भाई मानती हैं, अत्यधिक सम्मान एवं स्नेह है उनके प्रति श्रीरघुनाथका। वे तो मर्यादाके संस्थापक हैं, सामान्य सद्‌गुणी आर्यपुरुष भी जिसे एक बार बहिन कह देते हैं, उसके मानकी रक्षाके लिए प्राणका सौदा उनके गौरवकी बात बनजाती है।

वियोगके चौदह वर्ष जिनका आधार था इन सबको, आज श्रीरघुनाथके लौटनेके समाचारने उनको जैसे स्वतः आतुरता पूर्वक उनके सदनमें पहुँचा दिया!

'कुमार भैया कहाँ हैं?' अवधकी कन्याओंके इस समूहका राजसदनमें अबाध प्रवेश है। आज माण्डवी तथा उर्मिलाजीके सदन भर उठे हैं इनके आगमनसे। एक प्रश्न है सबके मुख पर और बिना उत्तरकी अपेक्षा किये स्वतः उत्तर आ जाता है ओष्ठों पर—'आज भैयाको क्षणभरका भी अवकाश कैसे हो सकता है। वे नगर सज्जाका निरीक्षण करते होंगे।'

'मैं अयोध्याके महाराजकी बहिन हूं, भला भाभी!' उर्मिलाजीको हँसा देना विगत दिनोंमें चाहे जितना कठिन रहा हो, आज तो अत्यन्त सरल है—'मेरे वनवासी छोटे भैयाको मेरी आज्ञा माननी पड़ेगी। अब वे मेरी भाभीको छोड़कर वनमें नहीं भाग सकते।'

'आपकी आज्ञा उन्होंने कब नहीं मानी?' उर्मिलाजीका सहास्य उत्फुल्ल उत्तर—'आपने ही उन्हें उस समय आज्ञा देनेमें कृपणताकी, जब वे वन जारहे थे।'

'माँ आदेश दें तो बहिनकी बात कौन सुनेगा?' गम्भीर हो गया मुख, किन्तु आज यह गम्भीरता टिक कहाँ सकती है।

'आपका सदन सुसज्ज नहीं होगा अभी?' माण्डवीजी यह कैसे कह सकती हैं, चाहती भी कहाँ हैं कि अवधकी कुल वधुएँ उनके समीपसे जावें; किन्तु कलकी प्रस्तुतिको तो सर्वत्र ही प्रमुखता देनी चाहिए—'जीजी कल ही यदि आपमेंसे किसीके घर पधारनेकी इच्छा करें, आप उनका स्वभाव तो जानती हैं।'

'अयोध्याकी महारानी, अपनी वनवासिनी सखी अचानक घर आ जायँ?' चौंकी सबकी सब। उन्होंने कहाँ किसीको अपनी अनुजासे कम माना। वे आते ही किसीके घर भी आ सकती हैं और उनके श्रीचरण सदनमें आवें, स्रष्टाकी अर्धाङ्गिनी

भी इस सौभाग्यसे ईर्षा कर सकती हैं, किन्तु उनके स्वागतकी तो कोई प्रस्तुति नहीं अभी ।

कल वनसे लौट रहे हैं श्रीरघुनाथ । वे जन-मानसके महासम्राट और श्रीजानकी, वे महारानी होंगी, जेमे अपनी मबसे महान साध पूरी होगी, किन्तु वे, माता, बहिन, सखी, उनके स्नेहकी समता कोई भी लौकिक सम्बन्ध या शब्द तो व्यक्त नहीं करता । उनके स्वागतकी प्रस्तुति…………।

जैसे आया था श्रीजानकीकी सहेलियोंका यह समुदाय राजसदन, ठीक वैसी ही त्वरासे अपने भवनोंको लौट गया । उन्हें द्वार पर सप्रदीप मङ्गल कलश सज्जित करने हैं । पुष्पसार सुवासित मलय चन्दन, हरिद्रा, सौधोंके ऊपर एकत्र करनी है इतनी कि कल श्रीरघुनाथ आयें तो उनके साथके पूरे समूहकी सीकर-वृष्टिसे स्वागत किया जा सके और दूर्वांकुर, लाजा, अक्षत, सुमन—राशि-राशि सुमन प्रातः सौध शिखर पर होने ही चाहिए । उनकी वर्षा पाँवड़े बन सके, इतनी पर्याप्त तो अवश्य होनी चाहिए और अपना पूरा सदन, यह कौन कह सकता है कि महारानीके श्रीचरण कल ही सदनको धन्य करने नहीं आजायँगे ।

'मेरा नीराजनका रत्न थाल ?' बहिनोंने सबसे पहले यह चिन्ता व्यक्तकी—'एक साथ चारों भाइयोंके नीराजनका सुअवसर इतने दिनों पर कल आया है । भाभीके साथ भैया श्रीरामका नीराजन करूँगी मैं कल पथ पर अपने द्वारके सम्मुख ।'

'एक बार मेरी ओरसे भी ।' कुल वधुएँ अपनी ननदोंसे अनुरोध कर सकती हैं । वे पथ पर तो नहीं आ सकतीं—'हम ऊपरसे सुमन वृष्टि करके आपके नीराजनको सांगता दे देंगी ।' अपूर्व उल्लास, अद्भुत व्यस्तता है आज, सभी अवधके आगारोंमें ।

—०—

६०. पुरजन--

'श्रीरघुनाथ कल पधार रहे हैं।' समाचार शीघ्रता पूर्वक प्रसारित होगया था। जहाँ सभीके प्राण स्वयं समुत्सुक थे, वहाँ समाचारको सब तक पहुंचनेमें क्या बिलम्ब होना था। राजसदनसे शीघ्र ही घोषणा हुई—'प्रभु पुष्पकसे आरहे हैं। आज प्रयागमें महर्षि भरद्वाजके आश्रमका आतिथ्य स्वीकार किया उन्होंने रात्रिमें। कल सानुज श्रीधरानन्दिनीके साथ वे किसी क्षण अवधकी भूमि पर उतर सकते हैं। श्रीरघुनाथके--अवधके अधीश्वरके युद्धके सहायक नवीन लङ्काधिप एवं वानरपति अपने प्रमुख नायकोंके साथ विमानमें सङ्ग आरहे हैं। हमारे परम सम्मान्य अथिति हैं वे लोग।'

'श्रीरघुनाथ कल किसी क्षण आसकते हैं।' पुरवासियोंका समुदाय इस समाचारसे जैसे सप्राण हो उठा है। जिनके वियोगमें प्राण पूरे चौदह वर्ष तड़पते रहे हैं, जिनके दर्शनोंकी पिपासा नेत्रोंको तृषित किये है, वे श्रीरघुनाथ कल आ रहे हैं।

श्रीरघुनाथ—वे तो सदासे अधीश्वर हैं अवधजनोंके। मन पर, प्राण पर, हृदय पर जिन्होंने शासन स्थापित कर लिया अपने शैशवमे ही, वे सिंहासन पर होते; अपने सर्वप्रियको सर्वाधिक सम्मानित करनेकी अभिलाषा किसे नहीं होती? वे सिंहासन पर नहीं थे तब भी अवधमें और किसीका शासन कहाँ था? सिंहासनका स्वत्व त्यागकर वे वन चले गये विमाताके दुराग्रहसे। कैकेयीको सद्बुद्धि न आगयी होती, भरतके अस्वीकार करने पर स्वयं उसने शासन सम्हालनेका साहस किया होता, किस पर शासन करती वह? अवधका तो प्रत्येक नागरिक श्रीरामकी सहज प्रजा है शाश्वतकालके लिए। उस पर दूसरेका शासन, शासनकी विडम्बना ही रहेगी वह।

अब आ रहे हैं श्रीरघुनाथ। सिंहासन तो उनके आनेसे सनाथ होगा ही; किन्तु वे चौदह वर्ष वनमें रहकर आरहे हैं, सुरासुर जयी रावणको संग्राम-शय्या देकर आरहे हैं, उनका स्वागत..........।

नगर वीथियाँ भी, केवल राजपथ ही नहीं, जहाँसे महाराजाधिराजके पधारनेकी सम्भावना है, सम्पूर्ण नगर पथ सींचे जा रहे है स्वच्छ करके पुष्पसारसे। मङ्गल तोरण-द्वार पूरे नगरमें चाहे जिस पथसे कोई जाय, प्रत्येक पन्द्रदश पद पर

निर्मित हो रहे हैं। रत्न खचित वे तोरण द्वार-मणि-प्रदीपोंकी पक्तियाँ जैसे शतशः कर उठाये उन प्राणोंके पाहुनेका नीराजन करनेको समुत्सुक हैं।

कलश सुसज्ज होगये हैं द्वार-द्वार पर और चतुरष्कों पर उनकी शोभा अद्भुत है। पूरे मार्ग बहु मूल्यास्तरणोंसे आच्छादित कर दिये गये हैं और ऊपर उनके मौक्तिक झालर झूमते चँदोवे लहरा रहे हैं।

'अखण्ड अगुरु धूम उठेगा प्रत्येक गवाक्षसे।' अबसे ही सम्पूर्ण व्यवस्थामें अवधका तरुण रक्त व्यस्त होगया है। कुछ वृद्धोंका अनुभव उसे पथ-पदर्शनके लिए सदा ही प्राप्त है।

सौध प्रशस्तिकाओं पर पर्याप्त सुमन राशि, दूर्वांकुर कल प्रातः पहुँच जाने चाहिए। हरिद्रा, चन्दन, दधि लाजा अभीसे एकत्र हो चुका है वहाँ। प्रत्येक चतुरष्क पर जब श्रीरघुनाथका विमान पहुँचेगा, सम्मुखीन पथोंके प्रत्येक गृहोंके नागरिक सम्मिलित नीराजनका सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे। धन्य हैं वे गृह जो प्रमुख राज पथ पर अवस्थित हैं। अपने द्वार पर स्वागतका सौभाग्य स्वत्व है उनका।

रत्न, वस्त्र, फल, पुष्पमाल्य—प्रत्येक चयनमें लग गया है 'क्या-क्या लेकर वह कल श्रीरघुनाथके सम्मुख उपस्थित होगा ?

कोई राजपुरुष वारित करेगा, कोई वाधा देगा, अवधमें इसकी कोई सम्भावना नहीं है। राजपुरुष या राजसेवक अपेक्षित सहायतामात्र करसकते हैं। श्रीराम एवं उनकी प्रजाके मध्य व्यवधान बननेका साहस तो किसीमें नहीं हो सकता। श्रीराम— वे तो सबके अपने हैं, स्वजन है। उनका अपने ढङ्गसे स्वागत करनेको प्रत्येक आज भी स्वतन्त्र है और ऐसी कोई श्रद्धापूत अर्चा नहीं जो सीधे उनके श्रीचरणों तक पहुँच न सके। वे कल आरहे हैं अवध और व्यस्त हैं अवध नागरिक उनके सत्कार सम्भारमें। उस सत्कारमें आज भी आप सम्मिलित हो सकते हैं।

—०—

६१. पुरनारियाँ---

श्रीरघुनाथ कल आरहे हैं और उनके साथ आरही हैं श्रीजनकनन्दिनी। श्रीसीता, अयोध्याकी महारानी, किन्तु उनका शील, उनका सारल्य, उनकी विनम्रता, उनमें उच्चताका भाव जैसे लेशको भी नहीं। वे परम विनम्रा।

महारानी थीं आजकी राजमाता कौशल्या, किन्तु महारानीका प्रभुत्व तो कैकेयीजीमें निखरा था। कौशल्याजी तो सेवा, वात्सल्यकी मूर्ति थीं प्रारम्भसे। सदा सबको सम्मान देनेके अतिरिक्त उन्हें कभी कुछ आया ही नहीं और जिस दिन नव-वधू होकर श्रीजानकी अयोध्या आयीं—सहसा उन्हें देखते ही हृदयने कहा–'महारानी अयोध्याकी।'

अद्भुत हैं श्रीधरानन्दिनी। उन्हें देखकर श्रद्धा और वात्सल्य एक साथ उमड़ते हैं। वे अपनी ओरसे इतनी सरला, इतनी विनम्रा। 'कितनी सेवा करें, कितना सम्मान किसे कैसे दें, इसको नित्य आतुरा, किन्तु उनके सम्मुख दृष्टि भी उनके पदोंसे श्रीमुखकी ओर उठते जैसे झिझकती है। वाणीमें चाहे जितनी मर्यादा रखो, मस्तक स्वतः झुका रहना चाहता है उनके पदोंमें। हृदय कहता है, वे स्नेहके लिए ही हैं। वात्सल्यमयी वे, किन्तु उनका अद्भुत गौरव जैसे अप्रतिम है। महारानी, त्रिभुवनकी महासाम्राज्ञी वें स्वतः सिद्ध हैं और अब अयोध्याके सिंहासन पर वे अपने आराध्यके साथ आसीन होंगी.........।'

पुरनारियोंकी परम लालसा अब पूर्ण होने जारही है। वे अपने आराध्य मनाती हैं, अञ्ज फैलाकर आशीर्वाद देती हैं और परस्पर आज उनमें एक ही चर्चा है—'महारानी जानकी..........।'

'श्रीधरानन्दिनीकी अनुजाएँ, अवध राजसदनकी वधुएँ, अन्ततः वे बहिनें ही तो हैं महारानीकी। माण्डवीजीकी सरलता, वे नित्य तपोमयी, साधनामयी, मुनि पत्नियाँ भी जिनके सम्मुख श्रद्धासे झुक जायँ....उनके व्रत, दान एवं नियमोंकी कहीं समता है। श्रीभरतलालके नियमोंका, तपका गान करते हैं कुलगुरु तक, किन्तु उनकी अर्धाङ्गिनी उनसे कहाँ कम तपस्विनी हैं।'

'उर्मिलाकी तेजस्विता' दूसरा स्वर उठा—'जब श्रीरघुनाथके दशग्रीवके साथ समरका समाचार लेकर कपि आया था, उस दिनका उर्मिलाका रूप, लगता

था महाशक्ति भगवती दुर्गा साक्षात् उतर आयी हैं अयोध्याके राजसदनमें। अपने सहज रूपमें भी वह अदम्य, मानधनी, कलामयी और अद्भुत हैं। उर्मिला जैसे परम कोमल, परम मनोहर, अत्यन्त प्रिय, किन्तु स्पर्शमें नहीं आतीं। वह समीप होकर भी जैसे छुई नहीं जा सकतीं। ठीक समझमें नहीं आतीं। अत्यन्त आकर्षणमयी, किन्तु जैसे नित्य अज्ञात रहेंगी।'

'वियोगके कल्पके समान दिवस जिनकी तत्परतासे सबके प्राणोंको निगल नहीं सके' एक अन्य स्वर 'वे सेवामयी श्रुतिकीर्ति।'

'श्रुतिकीर्ति तो जैसे सदाके लिए बालिका रहनेको ही आयी हैं। बालिका ही रहेंगी वह। बालिकाका भोलापन, वही सरल शैशव और वही प्रफुल्ल सेवा-तत्परता।' उन्हें तो प्यार ही प्यार पाना है और सेवा ही करनी है सबकी। श्रीश्रुतिकीर्तिके सम्मुख वात्सल्य जाग जाता है उनकी सखियों तक में।

श्रुतिकीर्तिमें अद्भुत भोलापन, नित्य शैशव। उर्मिलाजी वास्तविक मानधनी राजकुल-वधू, माण्डवीजी परम साध्वी प्रतिप्राणा आदर्श आर्यकन्या, किन्तु चौदह वर्ष वनमें रहकर जो अपनी नवीन महारानी आ रही हैं, वाणी उनके वर्णनको शब्द ही नहीं पाती। प्रत्येक ओरसे प्रत्येक दृष्टिसे जैसे वे असीम हैं, अतुलनीय हैं।

'महारानी श्रीजानकी' पुरनारियोंकी चर्चा घूमकर उन तक पहुँचती है। वैसे आजकी रात्रि अत्यन्त व्यस्त रात्रि है उनकी। अपने सौधों पर वे राशि-राशि सुमन, लाजा, दूर्वांकुर, दधि आदि रखनेकी व्यवस्था कररही हैं। उन्हें कल स्वागत करना है, नीराजन करना है श्रीसीतारामका।

जो सदन राजपथके पार्श्वमें हैं, उनका सौभाग्य, उनकी गृह-स्वामिनियोंको बहुत अधिक व्यवस्था करनी है। उनके सदनमें ही बैठेंगी नगरके अन्य भागोंकी कुल वधुएँ और वहींसे वे भी श्रीरघुनाथका दर्शन करके उन पर सुमन वर्षा करेंगी। उनके अनुरोध, किन्तु आज अनुरोध तो पथ-पार्श्वके गृहोंका है 'आप यहीं पधारेंगी। यह गृह आपका............' आजके उल्लासमें स्व-परको स्थान कहाँ रहा है?

—:०:—

९२. बालक—

'महाराजधिराज आ रहे हैं कल । महारानीके साथ वे पुष्पक विमानसे आ रहे हैं। दस मस्तक वाले देवद्रोही राक्षस रावणको उन्होंने संग्राममें मार दिया है। लङ्काजयी अपने महाराजा कल आ रहे हैं।' जो कुछ बालकोंने सुना है माता-पिता आदिसे, वही वे अपने ढङ्गसे सोचते हैं।

अयोध्यामें इस समय शिशु नहीं हैं । श्रीरामके वन गमनके पश्चात् पूरी प्रजा नियमस्थ रही है। सम्पूर्ण जन-जीवन ही संयम, साधन एवं तपस्याका जीवन रहा है। इन चौदह वर्षोंमें सन्तानोत्पादन, विवाह तो हुए ही नहीं, महाराज दशरथके अतिरिक्त और कोई परलोक गामी भी नहीं हुआ । श्रीरघुनाथकी अनुपस्थितिमें प्रजाके प्राण अटके रहे उनके दर्शनार्थ अथवा मृत्युके भी चरण कम्पित हुए अवधकी ओर आते।

श्रीराम जब वन पधारे, कुछ शिशु थे अयोध्यामें और कुछ गर्भस्थ शिशु भी थे। बालक भी, बालिकाएँ भी, किन्तु इस समय तेरह वर्षसे कम अवस्थाका कोई बालक अयोध्यामें नहीं है।

जो वर्ष दो वर्ष या महीने दो महीनेके थे और जो महीने दो महीने पीछे आये, स्मृतिमें दोनों समान हैं। पाँच वर्षसे कम अवस्थाके शिशुके समीप स्मरण शक्ति कहाँ होती है। 'कैसे होंगे अपने महाराजधिराज ? 'बालकोंके मनमें अद्भुत उत्कण्ठा है।

'श्रीभरतजीके समान श्याम शरीर, आजान बाहु, कमलदलायत लोचन, किन्तु नित्य सुप्रसन्न श्रीमुख।' जो सुना है, उसीकी चर्चा है और उसीका चिन्तन— 'वल्कल वसन, जटामुकुट, तापस वेश।'

'श्रीशत्रुघ्नकुमारके सहोदर अग्रज हैं उनके साथ । वैसे ही स्वर्ण गौर। माताजी कहती हैं, दोनों भाइयोंमें अन्तर करना कठिन हो जाता है।' चर्चा चल रही है—'किन्तु वे भी तापस वेशमें हैं। कल हम सरलतासे उन्हें पहिचान लेंगे।'

'महारानी' बालकोंके मनमें कम कुतूहल नहीं है महारानीके लिए। बालिकाओंके मनमें तो महारानीके दर्शनोंकी ही अत्यधिक उत्कण्ठा है—'वे असीम वात्सल्यमयी, स्नेह मूर्ति हैं।'

महारानीकी तीनों बहिनोंको देखा है । उनका अपार वात्सल्य पाया है । राजसदन पहुंचने पर उनके स्नेहमें अपनी जननीका स्मरण नहीं रह जाता और सब कहते हैं, महारानीकी बहिनें भी कहती हैं—'अवधकी नवीन महारानी जो आवेंगी, उनके वात्सल्यकी तुलना कहीं नहीं है ।' और उनका दिव्यत्व, सुना है, सुरांगनाएँ भी उनके श्रीचरणोंसे ऊपर दृष्टि नहीं ले जा पातीं ।

'दुष्ट दशग्रीव' बालकोंका बड़ा रोष था उस नैकषेय पर । वह उनकी अमित प्रभाव महारानीको उठा लेजानेका साहस कर सका । 'श्रीरघुनाथने मार दिया उसे' और अपने महाराजके प्रति उनकी श्रद्धा इस समाचारने असीम करदी ।

'महाराज मुझे स्नेह करेंगे । मेरे मस्तक पर अपने अभय कर रखेंगे ।' प्रत्येक हृदय आज लालसासे मचल रहा है ।

'महारानीकी अङ्क मेरे लिए भला दुर्लभ क्यों होंगी ।' अद्भुत भाव हैं बालकों-बालिकाओंके—'वे राजसिंहासन पर भले बैठें, अपनी गोदमें हमें बैठाये बिना उनके कर कहीं रुक सकते हैं ।'

'महाराजको मैं कल दूँगा............' किन्तु इतना सरल कहाँ है उपहारका निश्चय कर लेना ।

'महारानीकी वेणीमें मेरा सुमन गुच्छ............' बालिकाओंको भी कोई सुमन गुच्छ आज पर्याप्त शोभाशाली नहीं लग रहा है । उनकी महारानीके उपयुक्त हो ऐसा सुमन............।

माता-पिता अनेक बार आग्रह कर चुके विश्राम करनेका किन्तु आज श्रान्ति एवं निद्राका अवधमें प्रवेश कहाँ है । बालक-बालिकाएँ दौड़ा-दौड़ मचाये हैं । वे गृहसज्जामें सौधोंके उपयुक्त स्थलों पर सुमन आदि संग्रह करनेमें तथा दूसरे सब कार्योंमें पूरे उत्साहसे लगे हैं । उनका योग आज सर्वत्र सबसे अधिक है ।

'महाराजाधिराज और महारानीको कल पधारना है ।' उनका अन्तर आनन्द मग्न है और उनके शरीर जैसे उस उमड़ते उत्साहकी लहरियों पर थिरक रहे हैं ।

—:o:—

९३. वृद्धजन—

'श्रीरामभद्र......' श्रीरघुनाथका शैशवसे जो नाम जिह्वाने सदा पुकारा है, वही अकस्मात उच्चरित हो जाता है। मर्यादा संकुचित करती है—श्री'राघवेन्द्र महाराजाधिराज' लेकिन स्नेह, स्नेह तो मानता नहीं। श्रीरघुनाथको क्या यह सिंहासनकी आडम्बर पूर्ण मर्यादा प्रिय होगी? वे मर्यादापुरुषोत्तम, सत्य क्या यह नहीं है कि मर्यादाकी अपेक्षा वे सदा स्नेह क्षुधार्त रहे हैं।

श्रीरामभद्र, लगता है कल जो विमानसे आरहे हैं, वे वही नील सुन्दर, पीताम्बर परिधान शिशु हैं जो चरणोंके नूपुरोंके मन्दरवके साथ बड़े संकुचित पदोंसे समीप आवेंगे और विनम्र प्रणिपात करके कहेंगे—'आर्य! किसी सेवासे यह शिशु सनाथ हो सकता है?'

अङ्कमें खींच लेनेपर अत्यन्त संकुचित और सेवककी सेवा भी नित्य करनेको समुत्सुक। सिंहासन श्रीरामको कहीं परिवर्तित कर सकता है? वे दशग्रीव दलन करके आरहे हैं, त्रिभुवनविजयी रावण पर विजय पायी है उन्होंने और अयोध्याका सिंहासन तो उनकी कबसे प्रतीक्षा कर रहा है, किन्तु जिनकी हुंकारसे त्रिभुवन कम्पित होता है, उन भगवान परशुरामको श्रीरामने अपने कैशोरमें ही पराभव दिया और विजय श्रीरामको अत्यधिक विनम्र बना देती है, यह क्या देखी जानी बात नहीं है।

श्रीरघुनाथ कल आरहे हैं। प्रत्येकको लगता है कि उसका अपना पुत्र-पौत्र भी इतने वर्ष पर लौटता तो इतना उत्साह, इतनी उमङ्ग अन्तरमें नहीं आती।

आशीर्वाद—अयोध्याके अधीश्वरको कुछ दे सकने जैसा वैभव तो अलकाके अधिपतिके पास भी नहीं है। उन्हें तो आशीर्वाद ही दिया जा सकता है। वृद्ध आशीर्वाद ही तो देंगे, किन्तु वह तो मुखसे भले समय पर दिया जाय, अन्तरसे तो प्रतिक्षण अहर्निशि धाराबद्ध प्रकट होरहा है। श्रीरामकी शुभ कामना, तन-मनमें इसको छोड़कर अब कुछ अवशिष्ट कहाँ है।

वृद्धाओंको अत्यधिक स्मृति आरही है श्रीजनकनन्दिनीकी। वह सुमन-सुकुमार उनकी अपनी पुत्र-वधू, वह—जिसकी पद-बन्दना करके सुरांगनाएँ भी सौभाग्यवती हों, वन-वन भटकती रही। कदर्य निशाचर बल पूर्वक उठा लेगया उसे, वैदेहीने क्या विपत्ति नहीं भोगी।

नेत्र निर्झर बन गए हैं आज। जो सर्वाधिक लालन योग्य थी, जो प्राणोंमें छिपाकर पोषितकी जानी चाहिए, उस पर विपत्ति! अब कहीं लौट रही है वह अयोध्याकी महारानी। महारानी—त्रिभुवनकी साम्राज्ञी होने योग्य उसे छोड़कर और कौन है?

वह धराकुमारी जब हाथमें अञ्चल लेकर पदोंमें प्रणत होती है सौकुमार्य, शील, सौन्दर्य और सौभाग्यके अधिदेव भी धन्य हो जाते हैं और कल वह पुनः प्रणाम करेगी, धन्य होंगे दृग धन्य होगा जीवन और धन्य होगी वाणी उसे आशीर्वाद देकर।

वानप्रस्थ स्वीकार अत्यन्त सहज था। आयुकी मर्यादाने अधिकार दे दिया था, किन्तु जब गृह ही तपोवन होगये, वन जानेकी आवश्यकता? वानप्रस्थाश्रमकी दीर्घतम सीमा द्वादश है और यहाँ चतुर्दश वर्षसे अवधके किशोर भी महातापस बने हैं, कौन-सी तपस्या वनमें जाकर होती?

तप एवं त्याग, वानप्रस्थ एवं प्रव्रज्या, किन्तु उनका परम परिपाक तो अवधमें साकार उतरा था। दैवने उसे दूर कर दिया, प्रतीक्षा ही तो की जाती है सदा, प्रतीक्षा कल पूर्ण होनेवाली है। समस्त साधनोंका सार्थक्य कल सशरीर उतरेगा पुष्पकसे अवधकी धरा पर, उसे आशीर्वाद देनेसे भी महान कोई और तप हो सकता है?

श्रीराम जानकी कल आवेंगे। विमानसे उतरते ही वे अभिवादन करेंगे, वन्दन करेंगे वे मर्यादापुरुषोत्तम। लगता है वे साक्षात् वन्दन कर रहे हैं इसी क्षण और आशीर्वाद तो वाणीसे विरमित होना जानता ही नहीं है।

———

६४. पुर-रक्षक—

आप चाहें तो उन्हें पुरपाल भी कह सकते हैं। आजकी भाषामें कहना हो तो उन्हें पुलिस कहना पड़ेगा, किन्तु अयोध्यामें उनके कार्य और कर्तव्य ? जिस नगरमें चोरी या अपराधकी गन्ध भी किसीके मनमें प्रवेश नहीं पाती, जहाँका बालक तक नहीं जानता कि भय कहते किसे हैं, जहाँ अनुनय पूर्वक अर्पित करने पर भी कोई किसीकी वस्तु कदाचित आवेदक पर असीम अनुकम्पा हो तभी स्वीकार करेगा, वहाँ पुर रक्षक क्यों ?

सतर्कता, सावधानी ? भटक गये आप। किससे सावधानी ? किसी सामग्रीकी रक्षाके लिए ? सुर भी जिनकी स्पृहा करें वे दिव्य मणियाँ जहाँ शिशुओंके क्रीडनक हों, वहाँ कैसी सुरक्षाकी सावधानी और कोई आततायी अकस्मात आ जाय, ब्रह्मर्षि वशिष्ठका प्रचण्ड प्रताप उसे त्रिभुवनमें पलायनको स्थान नहीं रहने देगा। फिर यम, काल और स्वयं देवन्द्र क्या अपने महान मित्र महाराज दशरथकी पुरीकी ओर दृष्टि उठाने वालेको क्षमा कर देंगे ? और अब तो अयोध्या त्रिभुवनके स्वामीकी पुरी है। उसके पथोंमें स्वयं मुण्डमाली वेश बदले घूमते-फिरते हैं और त्रिपुर सुन्दरीको ही कहाँ अब अन्यत्र रहना प्रिय लगता है। भगवान गङ्गाधरको सेवाका कोई अवसर मिल जाय, उनका त्रिशूल प्रमाद करेगा ?

अयोध्यामें यातायात नियन्त्रित नहीं करना पड़ता। वहाँ अश्व वायु-वेगसे चलते हुए भी स्वतः सावधान रहते हैं। वहाँके सूत या हस्तिपोंको निर्दोष बने रहनेकी अपेक्षा नहीं होती। इतने पर भी पुर-रक्षक तो हैं अवधमें !

बालकोंको सहायता आवश्यक होती है यदाकदा पथ-पार करनेमें। आगत अतिथियोंको अभीष्ट पथ सूचित करना पड़ता है और प्रायः उन्हें पहुँचा देना पड़ता है गन्तव्य तक। नागरिकों पर दृष्टि रखनी पड़ती है, क्योंकि वे स्वयं कभी सूचित नहीं करेंगे कि उन्हें क्या कष्ट है, क्या असुविधा है, शासन उनकी क्या सेवा कर सकता है। इसका अत्यन्त सावधानीसे पता लगाते रहना पड़ता है।

कल प्रातः महाराजाधिराज पधार रहे हैं। सभी उनका दर्शन सर्वप्रथम करना चाहेंगे। नागरिक और अतिथि अभ्यागत, भीड़के बाहुल्यका अनुमान सहज किया जा सकता है। नियन्त्रणका प्रश्न नहीं है, सहायताका प्रश्न है। बालक, वृद्ध,

वृद्धाएँ और अतिथिगण, किनको कहाँ सहायता अपेक्षित हो सकती है। किन्हें कहाँ किस प्रकार पहुँचा देनेसे अन्य किसीको कष्ट नहीं होगा और उसे प्रसन्नता होगी, यह पूरी व्यवस्था आज, आज रात्रिमें ही हो जानी है।

महाराजाधिराजका विमान भूमि पर कहाँ उतरेगा, अज्ञात नहीं है यह। श्रीभरतलाल जहाँ उपस्थित होंगे, उनके सम्मुख, और वहाँ तो कोई व्यवस्था आवश्यक नहीं है। महर्षि उपस्थित हों जहाँ विप्रवृन्दके साथ, सुव्यवस्था सहज सबके अन्तरमें आजाती है। किञ्चित सेवाका सुयोग मिल सकता है राजपथमें महाराज जब पदार्पण करें और आगतोंकी सेवा तो आरम्भ हो चुकी है कबसे।

पूरे चौदह वर्ष जैसे निष्क्रिय रहना पड़ा, अतिथि जैसे अयोध्याका मार्ग भूल गये थे और जहाँ बालक तक व्रत, संयम, आराधना अपना लें, किसीकी सेवाका क्या प्रश्न रह जाता है। कितनी विषादमयी निष्क्रियता।

समाप्त तो होगयी वह निष्क्रियता सप्ताहों पूर्व। महाराजाधिराजके लौटनेकी तिथि समीप आयी और नगरमें जीवन आगया। धराके ही नहीं दिव्य लोकोंके अतिथियोंका भी गन्तव्य अयोध्या होगयी और अब कल प्रातः ही वे सर्वाधार लोकनाथ आरहे हैं।

पुर-रक्षकोंकी एक ही कठिनाई है। नागरिक तो समझते हैं उनकी स्थिति और कर्तव्य; किन्तु अतिथि जो नहीं समझते। अधिकांश आगत पहुंचते ही आग्रह करते हैं—'महाराजकी सेवाके हम अधिकारी नहीं हैं, यह हम जानते हैं; किन्तु आप उनके परिकर हैं। उनके समान ही उदार, आपकी सेवाका किञ्चित सौभाग्य……' अतिथियोंके उपहार, आशीर्वाद ही नहीं, जब वे कुछ करनेको उद्यत हों, बड़ी कठिनाई होती है उस समय।

कल महाराजाधिराज आरहे हैं। कलकी प्रस्तुति—कितनी उत्साह वर्धक, आनन्दपूर्ण, उल्लासमयी है यह प्रस्तुति।

——

६५. पुर-सेवक—

आजके शब्दोंमें कहना हो तो कहना पड़ेगा महापालिका (क्योंकि अयोध्या तब इतना छोटा नगर नहीं था कि नगरपालिका वहाँके पुर-सेवक संगठनको कहा जा सके।)

स्वभावतः पुर-सेवकोंके अनेक वर्ग थे कार्य - विभागके अनुसार और उन विभागोंके अध्यक्ष भी थे। मार्गोंकी स्वच्छता, जब सम्पूर्ण यातायात रथ, अश्व, गजादि पशु-शक्तिके माध्यम पर निर्भर हो, जब नगरके प्रत्येक सदनमें अपना भरा-पूरा गोष्ठ भी हो और प्रत्येक प्राङ्गण प्रातः सवत्सा गौ एवं वृषभ-पूजनसे पवित्र होता हो, मार्गोंकी स्वच्छताका कार्य कितना आवश्यक-त्वरित आवश्यक है यह समझा जासकता है। अयोध्याके पथ किञ्चित म्लान किसीने कभी नहीं देखे। स्वच्छताका जिन पर दायित्व है, प्रमाद तो जैसे पूरे अवधजनोंकी छायासे दूर भागता है।

जल सुव्यवस्थित रूपमें प्रत्येक सदनमें एवं पथोंके निश्चित जलागारोंमें पहुंचना चाहिए, स्वच्छ रहना चाहिए। पथ ही नहीं, उद्यान एवं उपवन भी स्वच्छ रहने चाहिए। नागरिकोंके वस्त्रोंकी स्वच्छता, उनके वस्त्र प्रस्तुत करनेवाला बुनकर एवं वायक वर्ग, और क्षौर कर्मका जिनपर दायित्व है, सब वर्गोंको कहाँ तक गिनायेगा कोई।

यह स्मरण रखने योग्य बात है, हमारी पुरानी संस्कृतिमें, प्राचीन भारतमें शौचालय नहीं होते थे। भङ्गीका नाम किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता। नित्य शुद्धिके लिए सबको नगरसे दूर वनमें जाना था और वहाँकी शुद्धिके लिए वाराह पर्याप्त थे। दूसरी बात स्मणीय और है, अवधमें चिकित्सक थे, राज्यको रखने चाहिए, इसलिए थे, किन्तु पूरे जीवन वे शोभाकी वस्तु रहे नगरके लिए। जहाँ प्रवेश करनेका स्वप्न देखनेका साहस रोगोंके देवता न पा सकें, वहाँ चिकित्सक क्या करते?

अवधके सेवकवर्ग एक ही आपत्ति करते हैं 'सुर उनके कार्यमें प्रायः हस्तक्षेप करते हैं। वे उनके सेवाके स्वत्वको प्रायः उनसे छीन लेते हैं।' पवन, अग्नि, वरुण, किस किसका नाम लें वे? स्वयं सुरेन्द्र भी, कोई बात है यह कि दिवङ्गत चक्रवर्ती महाराजके मित्र होकर भी महेन्द्र अयोध्याके पथ अपने मेघोंके माध्यमसे प्रायः नित्य धो देते हैं। जब मेघ केवल पथोंमें जल डालें, इसे वर्षा तो नहीं कह सकते? और मरुत, वरुण आदि, सेवाका कदाचित ही कोई विभाग हो जिसके अध्यक्षको सुरोंके इन अटपटे कार्यों पर आपत्ति न हो।

कल महाराजाधिराज पधाररहे हैं । सम्पूर्ण अयोध्याकी सज्जा, नित्य सुसज्ज अयोध्या और आजकी सज्जाका तो पूछिये मत । महाराजाधिराजके पधारने पर सभीकी व्यस्तता बढ़ती है । अपार जन समूह एकत्र होगया है पहलेसे नगरमें ।

'साक्षात् स्वयं वरुणको जलागार पूरित करते मैंने देखा है' वह असन्तुष्ट है । कि वरुण उसकी कलकी महान सेवाके स्वत्वमें भी भाग बटाने आ कूदे ।

'मरुत अनधिकार मार्ग-तृणोंको उड़ा ले जाता है ।' स्वच्छता-विभागके प्रत्येकको यही आपत्ति है, वह गज एवं अश्वोंके मल तक उड़ा देता है । अन्ततः हम निष्क्रिय रहनेके लिए तो नहीं हैं ।'

'आप आज्ञा दें मुझे कुमार (शत्रुघ्न कुमार) तक जाने की ।' अत्यन्त क्षुब्ध हैं वायक, बुनकर एवं स्वर्णकार भी 'विश्वकर्मा गृह एवं गृहोपकरणोंके निर्माणका अवसर पाकर अत्यधिक धृष्ट होगये हैं । वे अब हमारे कार्योंमें भी आने लगे है । वस्त्र पता नहीं कब बुन जाते हैं, सी जाते हैं और आभरण·········यह अन्याय नहीं चलना चाहिए ।'

विभागोंके अध्यक्ष क्या करें ? कुमारसे उन्होंने वह देखा है । वे कहते हैं 'सुर हमारे सम्मान्य हैं, पूज्य हैं । वे कुछ करते हैं, वात्सल्य उनका ।' लेकिन सेवक कहते हैं 'महाराजाधिराज एवं उनकी प्रजाकी सेवाका सौभाग्य पता नहीं कितने जन्मोंके पुण्यसे प्राप्त हुआ, हमारा स्वत्व है वह ।'

सुरोंसे विवाद भी नहीं किया जासकता । पहले तो वे सम्मुख नहीं आते । अदृश्य रहते हैं और साक्षात् मिल भी गये तो·······मर्यादापुरुषोत्तमके जन उनकी वन्दना न करें, कैसे सम्भव है ? दूसरे जो पूज्य हैं, जब वे विनम्र बोलें—'आपकी अनुकम्पा ही हमें आपके अधीश्वरकी किञ्चित सेवाका अवसर दे सकती है ।' को उनसे विवाद कर भी कैसे सकता है ?

इतने पर भी कलकी सेवा, कल महाराजाधिराज पधार रहे हैं । कलकी सेवा सुरोंको नहीं दी जासकती । पुर सेवक व्यस्त हैं और सावधान हैं । उनकी सम्पूर्ण असहमति हो, सुर साहस कैसे कर सकते हैं ?

—:o:—

९६: कलाजीवी--

अन्तरका उत्स आनन्द अभिव्यक्ति पाता है कलाके रूपमें और अयोध्याके गत चौदह वर्ष, प्राणोंको ही जहाँ पीड़ाने शोषित कर लिया हो, निष्प्राण थे कलाजीवी। उनकी कलाने यदि कभी मूर्त होनेका मन भी किया—

चित्रकार तूलिका उठाते थे तो अनिच्छा पूर्वक भी उनके कर जो अङ्कित करते थे, जैसे पुष्पित उपवन दावाग्नि दग्ध हो। जैसे ज्वालामुखी फूट पड़ा है किसी नगरमें। जैसे सुमन सुन्दर शरीरमें-से काल सर्पने जीवनको चूमलिया है।

मूर्तिकारके कर जब कंकाल निर्मित करने लगें, पता नहीं क्यों, जिनके करोंकी कृति कुसुमधन्वाको मूर्त करती थी, उनके कर अब चामुण्डा, कङ्काली, मृत्युदेवी जरा आदिको रूप देने लगे थे।

कवि, सचमुच अवधके कविके लिए जैसे 'एकोरसः करुण एव' ही रह गया। अश्रु, निःश्वास, मूर्छा, मृत्यु, विफलाशा, व्यर्थ पौरुष भग्न हृदय, इनको छोड़कर जैसे उसके लिए प्रेरणाके सब स्रोत शुष्क होगये।

सहसा स्थिति परिवर्तन हुआ। पतझड़ शुष्क महावनमें जैसे वसन्तके अलक्ष्य कर अकस्मात कुछ कर देते हैं और एक दिन प्रातः उठकर नेत्र देखते हैं, रसहीन शुष्क शाखा पर कुछ नन्हें, अरुणिम, सुकुमार किसलय शिशु झूम रहे हैं, सिर उठा रहे हैं अथवा नन्हीं कलिका अंकुरित हो आयी है, श्रीरघुनाथके आगमनका समय आगया। वे शीघ्र आनेवाले हैं, सहसा एक दिन यह आशा पता नहीं कैसे मन में उठी और जैसे कलामें रसराजके पद प्रविष्ट होगये।

करुण महान रस है। अवधके कलाकारोंकी गत वर्षोंकी कृतियाँ, महान हैं वे कृतियाँ। हृदयको हिला देनेवाले वे चित्र, वे मूर्तियाँ, वे काव्य, किन्तु अब जो नवीन रस धारा फूटी पड़ी हृदयमें।

मरुस्थलमें अपनी हरीतिमामें हँसता कोई नवांकुर देखा है आपने? दावाग्नि दग्ध महावनमें किसी शुष्क महातरुकी शाखा पर दो किसलय फूटे अथवा एक सुमन हँसता, लहराता देखा है? किसी भूकम्प भग्न महानगरमें किसी कुण्ठित सौधके खण्डहरमें एकाकी हँसते, किलकते विश्वके सम्राटसे शिशुको? अथवा महान नील-

नभमें जब ऊषाकी प्रथम किरण फूटती है, वह शोभा आपके नेत्रोंने देखी है? अयोध्याके कला प्राणांमें इधर जो जीवनका नवांकुर फूटा है, अद्भुत अङ्कन हैं उनके। अप्रतिम अभिव्यक्तियाँ उपस्थित की हैं उनकी लेखनी, तूलिका या छेनीने।

'श्रीरघुनाथ आरहे हैं, कल प्रातः आरहें हैं।' यह समाचार आया। वसन्तकी बातबीत गयी ग्रीष्म दग्ध धरा पर जब सन्ध्याको पावस पदार्पण करता है, मेघ रात्रिमें ही धरित्रीको रसार्द्र कर जाते हैं। प्रातः देखा है आपने धरिणीको सहसा हरित परिधान पहिने? कभी उन पर्वतीय प्रदेशोंमें रहे हैं आप जब ऐसी रात्रिके पश्चात् उठकर आपके नेत्र देखते हों, आपकी शय्याके नीचे ढेरों पुष्प भूमिसे निकल आए हैं और हँस रहे हैं, खिलखिला रहे हैं। दिशाएँ गूंज रही हैं मंडूकोंके सङ्गीतसे और झूम रही हैं सहसा पुष्प एवं हरित द्विदलराशि पाकर। पावस जगतमें राशि-राशि जीवन उँडेल चुका, केवल रात्रिके अल्प क्षणोंमें। ठीक ऐसे ही अयोध्याके कला-प्राणोंमें जीवनका स्रोत सन्ध्याको फूटा पड़ा।

कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, धातु या काष्ठादि पर कला व्यक्त करने वाले, कुछ विह्वल रहे समाचार मिलने पर और फिर जो सहसा अन्तर उमड़ा, वे अपने उपकरणोंके मध्य पहुँच गये थे। उनके कर चलरहे हैं, अविराम चल रहे हैं और अखण्ड, अभग्न है उनकी समाधि।

सम्पूर्ण विश्व पुष्पभारसे झुका झूम रहा है। अपार सौन्दर्य फूटा पड़ता है अङ्ग-अङ्गसे, कण-कणसे। आज कलाकारके कर पुष्पधन्वाको पीछे छोड़ गये हैं। आज चित्रकार, मूर्तिकारको भविष्य दृष्टि मिल गयी है। उसे सिंहासनासीन श्रीसीतारामकी छवि मूर्त करनी है और आज कविकी लेखनी जो लिख रही है, जयगाथा, यशोगाथा श्रीरघुनाथकी ही तो लिखेगी वह। श्रीरघुनाथ कल आरहे हैं और अवधके कलाकारके कर आज अविराम हैं। स्वयं भगवती भारती धन्य हो रही हैं उन करोंकी अभिव्यक्तिसे।

---

९७. पुर-देवता–

नगर हो, पुर हो, ग्राम हो या उससे भी छोटा समूह हो झोपड़ियों का (खेट या खर्वट) किन्तु जहाँ भी मानव-निवास है, वहाँके अधिष्ठाता देवता होते हैं। जब तक वे सन्तुष्ट हैं, पुर में सुख, शान्ति एवं आरोग्य रहता है। उनके असन्तुष्ट होनेसे अशान्ति, कलह एवं रोग आते हैं पुरवासियोंमें और यदि देवताकी आयु समाप्त होजाय या किसी कारण वह पुरका त्याग करदे—खण्डहर होकर रहेगा वह पुर। उसे बसानेका कोई मानव-प्रयत्न सफल हो नहीं सकता।

ग्राम देवता, ग्राम कालिका एवं ग्राम नाग—ये तीन आधिदैविक शक्तियाँ प्रत्येक जन-निवासके साथ होती है।※ ग्राम देवता—ग्रामके निवासियोंका आधिदैविक आपत्तियोंसे संरक्षक। ग्राम कालिका-ग्राम निवासियोंकी शक्तिकी संरक्षिका। ग्राम नाग—प्राण शक्तिका शोधक एवं रक्षक।

अयोध्याके अधिदेवता तो स्वयं श्रीरघुनाथ हैं, किन्तु वे ठहरे मर्यादा पुरुषोत्तम। अपने मानव-लीला कालमें उन्हें पुरदेवताकी प्रतिष्ठा भी बनाये ही रखनी है। अतः अवधके भी ये पुर-देवता हैं, भूमिके सामान्य पुर-देवता, अमरावतीके अधीश्वर भी उनके भाग्य पर ईर्षा ही कर सकते हैं।

श्रीराम वन चले गये। अवध वियोग--वह्निमें चौदह वर्ष दग्ध होता रहा। पुरवासियोंमें किसीने प्रमाद नहीं किया कभी पुर देवताके पूजनमें। ग्राम कालिकाको यथावसर अर्चा प्राप्त होती रही। ग्राम नाग तर्पित होते रहे मधु-मिश्रित क्षीरसे—कितनी वेदना मिली उन्हें उस अर्चाको स्वीकार करनेमें।

'मर्यादा पुरुषोत्तम, उनकी मर्यादा माननेको तो सृष्टिकर्ता भी विवश हैं।' पुर देवता परस्पर चर्चा करते ही हैं—'अवधके निवासी, उन सर्वेश्वरके ये स्वजन तो आराध्य हैं अपने; किन्तु इनके द्वारा यह अर्चना, इसकी स्वीकृति मर्यादा है और यह विडम्बना हमारी, कोई सेवा करनेमें हम समर्थ नहीं।'

'इनकी रक्षा—किसी ओरसे भी वे किसीके रक्ष्य कहाँ हैं ? त्रिभुवन इनके आशीर्वादसे रक्षा पासकता है। अरिष्ट अनिष्टकी आशङ्का करें यदि इनके भालपर आकुञ्चन आवे।' पुरदेवता परस्पर और क्या चर्चा करते। उनकी चर्चाका एक ही विषय है—'श्रीरामका असीम प्रेम, उनके वियोगकी वेदना भी कितनी पावन है।

※'पूजीग्रामदेबि सुर नागा।' (श्रीरा. च. मा. अयोध्या ७-६) श्रीकौशिल्याजीके द्वारा इनका पूजन होनेका वर्णन इस प्रकार 'मानस' में है।

हम उसे कम करेंगे ? जो स्वयं दावाग्नि दग्ध हो रहा है, दूसरेके लिये शैत्य कहाँसे आवे उसके पास ?'

'सकुशल आवें श्रीरघुनाथ सानुज सपत्नीक ।' पुरका जन-जन एक ही आकांक्षा करता है प्रतिदिन सायं प्रातः प्रत्येक अर्चनके उपरान्त प्रत्येक देवतासे । 'वे आकर सिंहासनासीन हों और उनकी संरक्षामें ही हमारा जीवन पूण हो । निरापद रहें वे वन में ।'

'आशीर्वाद, अपनी ही परम कामनाकी जब कोई आकांक्षा करे, अशीर्वाद देनेका प्रश्न क्या शेष रह जाता है ? वह तो वही मांगता है जो अपना हृदय भी पुकार रहा है ।' विह्वल हो उठते हैं पुर देवता 'किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सर्वेश्वर श्रीरघुनाथ उनके लिए तो उनकी इच्छा ही विधान है । किसीका आशीर्वाद या शाप कहाँ समर्थ है उनका स्पर्श करनेमें ।'

'कल आरहे हैं श्रीराम ! वे सानुज सपत्नीक आरहे हैं ।' जन-जन मनौतियोंमें मस्तक झुकारहा है । पूजनका विपुल प्रस्तार प्रारम्भ होजायगा कलसे । किसे अपेक्षा है इसकी ? पुर-देवता स्वयं अपार उल्लासमें हैं । उनकी प्रसन्नता, उनका आशीर्वाद, वे स्वयं अपनी समस्त शक्तिमे सक्रिय होउठे हैं ।

'वह उच्च ध्वज दण्ड ।' नहीं सोचता युवक कि अबतक कभी वह सामान्य दण्डपर भी चढ़ा नहीं है—'जा सकते हो, चढ़ो ! परिवर्तित कर दो प्राचीन पताका नूतनमें ! सुरक्षित हो तुम ।' जैसे कोई भीतर उसे दृढ़तासे कह रहा है और सचमुच उसके पद किञ्चित कम्पित नहीं होते ।

अपार शक्ति, असीम प्राण, अतुलनीय उत्साह जन-जनमें, सामान्य पशु-पक्षियों तकमें फूटा पड़रहा हैं । पुर-देवता आज पात्र नहीं पाते, कितनी शक्ति, कितना उत्साह, कितना ओज वे किसे दे दें । प्रभु आरहे हैं कल प्रातः—कुछ किञ्चित प्रिय कर पावें वे उन सर्वेशका ।

— o —

९८. सरयू—

मानस-नन्दिनी सरयूकी अद्भुत दशा होगयी थी। गत चौदह वर्षोंमें सरयूको देखकर विश्वास नहीं होता था, वह कोई सरिता भी है।

सरयूमें जैसे जल नहीं, अश्रु प्रवाहित होता हो। म्लान होगया उसका पुलिन, श्रीहीन पड़े थे मणिमय घाट, यद्यपि उनको स्वच्छ रखनेका प्रयत्न कभी शिथिल नहीं हुआ।

अमृत वारिधाराके लिए प्रख्यात सरयू, उसके जलमें पता नहीं कहाँसे स्वाद-हीनता आगयी। हरीतिमा, पीतिमा लिये अद्भुत मलिन नीर और धाराका कुछ पूछना नहीं। कहीं उथला जल, कहीं कुछ गड्ढे।

मुनिगण स्नान-तर्पण करते हैं, पुरजनोंकी स्नान-सन्ध्या भी सम्पन्न होती है। गायें, घोड़े आदि पशुओंको भी जल पीना है, लगता है कि सरयू यह सब सोचकर ही सूख नहीं गयी उसमें प्रवाह बना रहा, किन्तु वह प्रवाह? किसी प्रकार सबका काम अवश्य उससे चलता रहा।

सरयूका प्रवाह जैसे वह शिशुओंके स्नानके लिए ही बहती हो। उसमें अत्यधिक कच्छप बढ़ गये। मण्डूक मण्डलीने उसमें स्थान-स्थान पर अपने आवास बना लिये।

पावस भी आया, एक नहीं चौदह बार आया और सरयूका पानी पुलिनोंको अपने अन्तरमें डुबाकर उमड़ा भी, किंतु इतना आविल, इतना आवेगपूर्ण प्रवाह, सरयू इतनी आविला तो कभी नहीं थी। पावसमें तो लगता था कि हाहाकार करती है वारिधारा। उत्तुङ्ग लहरियाँ सिर पटकती हैं और भ्रमरोंके रूपमें उमड़ा-घुमड़ा पड़ता है सरिताका हृदय।

यदि सरयू अन्य ऋतुओंमें सिसकती है, शान्त अश्रु बहाती है तो पावसमें पछाड़ें लेती हैं। उसका क्रन्दन दिशाओंमें गूँजता है। उसका शोक सीमा नहीं पाता।

'प्रभु आरहे हैं' यह समाचार अयोध्यामें तो आज सायंकाल पहुँचा है, किन्तु सरयूका स्वरूप-परिवर्तन तो बहुत पहले हो चुका। उधर पुष्पकने लङ्काकी भूमिसे नभकी ओर प्रस्थान किया और इधर सरयूमें सहसा परिवर्तन आया।

वर्षाकी ऋतु नहीं है। जलमें पूर आनेका कोई कारण नहीं है, किन्तु सरयूमें पूर तो नहीं आया है। कहाँ है उसमेंकी अस्वच्छता, कहाँ है असंयत प्रवाह और

कहाँ है आवेग ? अत्यन्त सामान्य गतिसे, लेकिन त्वरा पूर्वक सरयू अपने तटों तक पूर्ण हो गयी है। पूरा प्रवाह आ गया है निर्मल, मणि स्वच्छ जलधाराका। यही तो है अमृत सलिला सरयू।

अतीव मंजु स्वाद, स्वच्छ वारिधारा और लहरियां, वे तो लगता है कि थिरक रही हैं आज। उल्लास उन्मद है उनका नृत्य, अविराम नृत्य और आप कान देकर सुनें, सरयूकेप्रवाहमें आज संगीत है। वह आज गारही है और इतना स्पष्ट है वह गान कि उसे समझा जा सकता है। 'श्री सीताराम सीताराम सीताराम' का मंजु संगीत उठ रहा है आज सरयूकी धारासे। उन्मद संगीत, चपल लोल लहरियोंका लास्य और·······

पता नहीं किन अज्ञात करोंने घाटोंमें सुषमा संचार कर दिया है। पुलिन दर्पण स्वच्छ एवं कान्तिमय होउठा है। साथ ही ये राशि-राशि पुष्प—इतने सुरङ्ग, सुरभित सुकुमार पुष्प कहाँसे ले आरही है आज सरयू? आज उसकी लहरियाँ अपने तटपर पहुंचनेवाले प्रत्येकके पदोंमें यह क्यों पुष्पाञ्जलि अर्पित करनेको आतुर हो उठी हैं? 'सीयराम मय सब जग' क्या सचमुच आज सरयूके लिए सम्यक अपरोक्ष होउठा है ?

'प्रभु आरहे हैं।' सबसे पहला सन्देश दिया अयोध्याको सरयूने। उसका अकस्मात पूर, उसकी सहसा स्वच्छ वारिधारा, उसका निसर्ग सुन्दर पुलिन, उसकी लहरियोंका लोल लास्य और मंजु सङ्गीत, सबसे बड़ी बात, ये प्रवाहमें आते राशि, राशि पुष्प दूसरा क्या सन्देश हो सकता था इसका और अवधके जनोंने इसे समझ लिया था। सन्ध्याको दुग्ध, चन्दन पुष्पसे पूजन हुआ सरयूका प्रायः सबके द्वारा, किन्तु आज मानस-पुत्रीको अर्चाकी कहाँ अपेक्षा है। वह तो स्वयं सबकी अर्चाको उल्लसित उमड़ी पड़ रही है।

———

९९. पुष्पक—

मञ्जु कूजित पुष्पक, जैसे कल हंसशावकोंका समूह मन्दगतिसे गगन-विहार करने निकल पड़ा हो। मन्द-मन्थ गति है इस समय पुष्पककी और वह पहुँच चुका है अब अयोध्याके गगन पर। जैसे बिमान पुरीकी प्रदक्षिणा कररहा हो, वह अलस गति से घूम रहा है और घूमता हुआ धीरे धीरे नीचे आ रहा है

ऊपर सुरयानों के समूह हैं नभ में। यद्यपि वे पर्याप्त दूर हैं और उन्होंने अपने को मेघों के पीछे अन्तर्हित कर लिया है, पुष्पक पर उन्हें लक्षित किया जा सकता, ये जो, नन्दन कानन के कल्प वृक्ष प्रसून राशि-राशि पुष्पकपर ऊपरसे आरहे हैं, किन करों की यह कृतज्ञता पूर्ण अर्चा है इसे समझना कठिन तो नहीं है। यह मेघावरण, यह तो मात्र मर्यादा, मर्याद-पुरुषोत्तम के यानसे ऊपर यान रखना स्पष्टमें उचित नहीं और इस समय साथ चलना या प्रत्यक्ष अवनिपर आना अनवसर होजायगा।

दिवसका उज्वल प्रकाश, धरासे पुष्पक भली प्रकार अत्र देखा जा सकता है। लक्ष लक्ष नेत्र लगे हैं नीचेसे ऊपर उसकी और और गगन गूँज रहा है जय-ध्वनिसे। हर्म्य शिखर,पुर-वीथियाँ, गृहोंके सभी आवासी-कक्षोंसे इस समय बाहर हैं। ऊपर उठे हैं उनके हर्षोत्फुल्ल वदन और ऊपर तो मुख उठाये हैं इस समय पशु तक।

अयोध्याका स्वागत पुष्पकके समीप पहुँच गया है अपने अग्रिम रूपमें। जय ध्वनि, गृहोंसे उठती सुरभि और नेत्रोंकी आतुरता, मैं इनकी बात नहीं कहता हूँ। मैं बात कहता हूँ पक्षियोंकी, उनके पङ्ख आज धन्य होगये हैं। वे क्यों धरा पर प्रतीक्षा करें, ? ऊपर ऊपर उठ आया है, उठता-उड़ता आ रहा है उनका समुदाय और वे पुष्पकके साथ उड़ने लगे हैं। उनके कण्ठोंसे आनन्द कलरव फूटा पड़ता है और उनकी गति, आज तो उनके उड्डयनमें नृत्यका सौन्दर्य आगया है।

पक्षियोंका कोलाहल, देवताओंके वाद्योंकी ध्वनि एवं पुष्प-वर्षाके साथ उनका जय घोष, नीचेसे आ रहे वाद्य-सङ्गीत एवं जयघोषसे द्विगुण हुआ जारहा है। इस सुमन-वर्षा, संगीत सत्कार, जय-घोषके मध्य पक्षि समूहसे घिरा पुष्पक मण्डल लेते उतररहा है मन्द गतिसे, जैसे वह भी एक विशाल पक्षी ही हो।

मन्द गति पुष्पक, अत्यन्त शिथिल गति है इस समय उसकी। यद्यपि वह आरोहीकी इच्छानुसार चलनेवाला यान है और इस समय उसके आरोही आतुर होउठे हैं नीचे उतर जानेके लिए, किन्तु वे करुणा-वरुणालय, अवसर दे दिया है उन्होंने पुष्पकको भी।

पुष्पक, जड़यानकी बात नहीं, यानके अधिदेवताकी बात, उस अधिदेवताके मनकी बात—'स्रष्टाने पता नहीं किस अशुभ मुहूर्तमें मेरे सृजनका आदेश दिया था विश्वकर्माको। मेरा जीवन असुरको वहन करते बीता। दशग्रीवके आतङ्कका प्रतीक बना मैं और आज जीवनके धन्य क्षण आये, कितने अल्प क्षण मिले ये मुझे।'

'मर्यादा पुरुषोत्तमका मन मैं इन अल्प क्षणोंमें समझ सकता हूं। उनके श्रीचरणोंमें रहने योग्य मैं हूं नहीं। पृथ्वी अब है कितनी दूर, वे धरापर श्रीचरण रखेंगे और मुझे आदेश मिल जायगा वैश्रवण-की सेवामें जानेका। धनाध्यक्ष लोकपाल वैश्रवण, अन्ततः यक्ष भी राक्षसोंके अग्रज ही हैं। मेरे भाग्यमें राक्षसाधिपका वाहन न सही यक्षराजका वाहन होना अङ्कित है। उनके लिए ही तो मेरा सृजन हुआ। श्रीराम कैसे स्वीकार कर लेंगे अन्य किसी-का भी स्वत्व।'

'ये अल्पक्षण, अयोध्याके जन, अयोध्याके सदन, अयोध्याकी दिव्य भूमि, मैं इन सबकी परिक्रमा किये लेता हूं। मेरा निर्माण सार्थक होगया प्रभुके पाद पद्मोंका स्पर्श पाकर और यदि उनके इन स्वजनोंका आशीर्वाद, इनकी अनुकम्पा-का कोई कण पासका, प्रभुको पुनः पुष्पकको अपने आरोहणसे सनाथ करना होगा। उनके जनोंकी अनुकम्पा जहाँ जाती है, वे स्वयं उसका अनुगमन न करें, ऐसा न हुआ है, न हो सकता है।

पुष्पक प्रदक्षिणा कररहा है अयोध्याकी। मन्द-मन्दतर गति उसकी, जैसे वह एक-एक जन, एक-एक सदनको देख लेना चाहता है और उसकी गतिके समय उठनेवाला कूजित स्वर, लेकिन विमानसे तो इस समय स्तुतिके स्वर उठने लगे हैं ऐसे। स्वर जैसे वाद्योंके समूह स्तवन कररहे हों परस्पर मिल कर और उतर रहा है, उतरता आरहा है विमान ऊपरसे क्रमशः अवनिकी ओर।

—:o:—

१००. कपिगण--

'यह अयोध्या है !' इस समय किसीके पास अवकाश नहीं किसीसे बोलनेका। सबके नेत्र नीचे लगे हैं और सबके प्राण जैसे नेत्रोंमें आगये हैं। 'सत्य ही तो नित्य नूतना है अयोध्या। अभी कल जो झाँकी इस पुरीकी प्राप्त हुई थी, क्या तुलना है आजकी इस शोभासे। आज यह अयोध्या, इतनी सुसज्ज भी कोई पुरी होती है? इतनी कलापूर्ण सज्जा भी सम्भव है, कदाचित ही कभी विश्वकर्माने भी अपनी कल्पनामें ऐसा स्वप्न देखनेकी शक्ति समझी हो।'

'यह अपार जन समुदाय, इतना सुसंयत, इतना अनुशासन पूर्ण, इतना समुत्सुक समुदाय विमानके प्रति।' नीचेसे उठता जयघोष, लोगोंकी आतुर भङ्गिमा, किन्तु दौड़-धूप, आपाधापी, कही कुछ नहों है। किसीकी अवस्थितिमें कोई बाधा नहीं है और कोई कहीं जाना चाहे, मार्ग मिलनेमें कोई कठिनाई नहीं है। जहाँ तक दृष्टि जाय, सदनोंकी प्रशस्तिकाओंपर, छतोंपर, पथोंपर, चतुरष्कोंपर, क्रीड़ास्थलोंपर, उद्यानोंमें, सर्वत्र अपार जनसमूह है, अत्यन्त उत्सुक जन समूह।

उत्तुङ्ग सचल मेघ खण्डों जैसे महागज, ऐरावत आज तो उनमें-से एकके भी समकक्ष खड़ा होने योग्य नहीं है। उनका साज-शृङ्गार, किन्तु कपियोंको इन मणि आभूषणमें कोई रुचि नहीं। उन्हें तो चकित करते हैं अश्व, रथोंमें जुड़े एव आरोहियोंको पीठ पर लिये सभी अश्व। इतने चपल, इतने सुन्दर अश्व, इनके साथ दौड़ना और कूदना कितना आनन्दप्रद होगा।

'अयोध्याके ये उपवन और वन।' कपियोंकी दृष्टि सर्वाधिक फल-वृक्षोंने आकर्षित किया, यह स्वाभाविक है। इतने वृक्ष ! इतने फल भी आ सकते हैं वृक्षोंमें? इतने सुरंग फल हुआ करते हैं ससारमें? जहाँदृष्टि जाती है, जैसे वहाँसे हटना नहीं चाहती। जो दृष्टिमें आता है, अकल्पनीय, अद्भुत, अतुलनीय और अपार आकर्षण लिये आता है।

'अयोध्याके ये नर-नारी ?' कपिगण जिसे देखते हैं, देखते रह जाते हैं। उनके लिये यह समझ पाना कठिन है कि उनमें कौन राजपरिवारके हैं और कौन सेवक हैं।

'ये रथोंके सारथि, ये नगर-रक्षक और ये विभिन्न सेवाओंमें लगे लोग ?' कार्योंको देखकर भी कुछ अनुमान कर पाना कठिन ही लगता है--'ये सुर-सुन्दर, तेजोमय लोग, ये सेवक हो सकते हैं ? कहीं आज अमरावतीके समस्त सुर अयोध्यामें सेवक तो नहीं बन गये हैं ? लेकिन इतना सौभाग्य सुरोंका है नहीं।

कोई सेवक उन्हें अपनी सेवाका अंश भी देना स्वीकार नहीं कर सकता और वह भी आज, आज तो कभी नहीं।

'यह विप्रवृन्द !' अनुमान किया सबने कि अवश्य इस मण्डलका अग्रिम रथ महर्षि वशिष्ठका होगा और सबके मस्तक विमानमें स्वतः झुक गये। वैसे दूसरोंने भी अभिवादन किया, यह किसीने देखा नहीं।

'ये श्रीभरतलाल सानुज।' परिचय अपेक्षित नहीं था। जटाधारी, वल्कलवसन, क्षीणदेह, दूर्वादल श्याम, कमल लोचन तेजोनिधान, पादुका मस्तकपर उठाये डगमग पग श्रीभरतलाल, उनका भी क्या परिचय अपेक्षित है ? प्रभुकी यह अयोध्यामें दूसरी मूर्ति, दृष्टिने स्वयं उनके श्रीचरणोंमें अपना स्थान देखा और मस्तक तो कबका झुका है।

'इन श्रीचरणोंमें प्रणतिका अवसर मिलेगा, अभी ही मिलेगा।' हृदय उत्सुक होरहा है। विमानसे कूद पड़नेको जी चाहता है, किन्तु यह कैसे सम्भव है ? मर्यादा-पुरुषोत्तमकी यह पुरी 'विमान क्यों इतनी मन्दगतिसे उतर रहा है ?'

सहज चपल, निसर्ग अस्थिर कपि समूह, किन्तु इस समय तो लगता है कि उनके शरीर मूर्ति हैं। निश्चल, निष्कम्प, सुस्थिर, केवल नेत्रोंमें गति है। पुतलियाँ इधरसे उधर घूमती हैं और वे देख रहे हैं, नीचेकी ओर अत्यन्त उत्सुकतासे, आश्चर्यसे, असीम श्रद्धासे देखरहे हैं। आतुर हैं हृदय 'कब नीचे इस समूहमें पहुंचना होगा ?'

—※—

१०१. नल-नील—

'यह अयोध्या ?' स्वभावतः जो जिस विद्याका पारङ्गत है, उसकी दृष्टि सर्व प्रथम वहीं आकर्षित हुआ करती है। कल जो एक झांकी विमानसे अयोध्याकी मिली थी, बहुत ऊपर था उस समय विमान। अत्यन्त अस्पष्ट थी वह झाँकी, किन्तु नल-नीलको उसीने कम नहीं चौंकाया था।

'एक रात्रिमें यह निर्माण ! इतनी अनुपम कलाकृति।' पहली ही दृष्टिने आज अद्भुत ढङ्गसे आश्चर्यमें डाल दिया। ये जो नवीन तोरण-द्वार बने हैं, आजका प्रभात उन्हें नवीन ही लाया है। कल सायं ये नहीं थे। इतनी त्वरा है जिनके करोंमें और इतनी पटुता, विश्वकर्मा स्वयं हो सकते हैं इस समय अयोध्यामें, यह अकल्पनीय नहीं है। वे अनुपस्थित हों, यह आश्चर्यकी बात होगी, किन्तु उनको तो कदाचित अयोध्याके निर्माता शिल्पियोंका अभी शिष्यत्व करना चाहिए।

'इतनी सूक्ष्म कला, इतना निपुण निर्माण ?' पुष्पक जैसे-जैसे पृथ्वीके पास आता जाता है, अवधके सदन स्पष्ट आते-जाते हैं दृष्टिमें। उनका आकार, उनकी सज्जा सुस्पष्ट सम्मुख बढ़ती जाती है। बढ़ता जाता है नल-नीलका आश्चर्य 'इतना कृतित्व है मानवके करोंमें'।

नल-नील, विश्वकर्माके अंश हैं वे। शिष्यत्व प्राप्त हुआ है उन्हें अपने अंशीका और सुना तो यह भी है कि वे अपने करोंकी निपुणता पुष्ट करने कभी पाताल पहुंच गये थे। त्रिपुर-निर्माता दानवेन्द्र मयका स्नेह मिला उन्हें और मयने अपने कृतित्वका रहस्य देनेमें अधिकारीके प्रति कृपणता तो कभी की नहीं है। नल-नीलकी कलामें विश्वकर्मा एवं मय दोनोंका नैपुण्य है। साथ ही यह कोई कैसे भूल सकता है कि सौ योजन सागर पर सेतु-निर्माण इन दोनों बंधुओंने अभी किया है। किया है वह निर्माण सर्वथा अनगढ़ पर्वत खण्डोंसे; त्वरा—उस त्वराकी चर्चा व्यर्थ है।

'कौन होंगे वे कृती ? कैसी होगी उनकी प्रतिभा ? कैसे होंगे उनके कुशल कर ?' नल-नीलको लगता है कि वे अयोध्यामें शिल्प कलाका श्रीगणेश सीखेंगे। यहाँ तो वे अपनेको सर्वथा अपटु शिल्पियोंमें पाते हैं। यह अद्भुत शिल्प, इसका तो सूत्र भी समझमें नहीं आता है।

'ये वास्तविक पक्षी हैं ? इतने उत्तुङ्ग शिखर पर इतना अल्पाधार आश्रय बनाकर ये मानवियाँ आ गयी हैं स्वागत करने ?' निपुणतम शिल्पियोंकी दृष्टि भ्रममें

पड़ जाती है। उन्हें भी निर्णय करना कठिन होजाता है कि कहाँ निर्माता शिल्पीकी कृति है और कहाँ सचमुच पशु-पक्षी या मनुष्य हैं।

उत्तुङ्ग शिखर पर बनी पुत्तलिकायें और पक्षी, उनका रूप, रंग, आकार, इतना ही साम्य होता तो कोई बात नहीं थी। विमान उनकी ओर आता है तो पुत्तलियाँ ऊपर कर उठाकर नृत्य कर उठती हैं। मयूर पङ्ख फैलाकर ठुमकने लगता है।' पक्षी कूजने लगते हैं। कैसे कोई समझ ले कि वे शिल्पियोंकेकरोंके कौशल हैं।

'मणि और पाषाणमें भी इतना सूक्ष्म तक्षण सम्भव है? इनमें भी लोच एवं कंपन लाया जा सकता है? ये भी केवल मद वायुके स्पर्शसे सुस्वर झंकृति दे सकते हैं?' अद्भुत है अयोध्या और अद्भुत हैं अयोध्याके शिल्पी। नल-नीलको लगता है कि उन्हें अपने शिक्षणकी सम्पूर्ण मान्यताओंको ही यहाँ नवीन ढङ्गसे सीखना पड़ेगा।

'अद्भुत सौन्दर्य।' पल-पल पर हृदयसे एक ही उद्गार उठता है—'धन्य वे कर।' विमान नीचे आता जारहा है। निर्माण स्पष्ट होते जारहे हैं और नल-नीलका आश्चर्य बढ़ता जारहा है। उनकी दृष्टि जहाँ पहुँचती है, वहीं उन्हें अकल्पनीय कृतित्व दीखता है।

अयोध्यामें इस समय जो आह्लाद है, जो अपार जन-समूह है पृथ्वीपर, जो क्षण-क्षण जयघोष उठ रहा है नीचेसे, जैसे यह सब कुछ नहीं है। नल-नीलके पास जैसे इस समय श्रवण नहीं हैं और नेत्र भी जैसे प्राणियोंको देखना भूल गये हैं। वे तो देख रहे हैं निर्माण, भवनोंका, पथोंका निर्माण। उन्हें आज एक वेदिकाका शिल्प भी चौंका देता है।

'हम यहाँ आ सके, धन्य होगये। श्रीरघुनाथकी अनुकम्पा असीम है।' उनके हृदय गद्गद हो उठे हैं 'यहाँ आये बिना व्यर्थ थी हमारी शिक्षा। नितान्त अपटु था हमारा कौशल। इस निर्माणके दर्शन मात्रका मूल्य हमारा पूरा जीवन नहीं हो सकता और हमें सौभाग्य मिला……।' बहुत कुछ सोच गया मन। आशाके पंख कभी अबल नहीं रहे और श्रीरघुनाथके चरणोंमें पहुंची आशा अपूर्ण भी तो नहीं रही कभी।

—०—

१०२. सुग्रीव—

'यहाँ सुरेन्द्रका भी सौभाग्य समझा जायगा यदि वे सम्राटके सिंहासनके पीछे स्थित हो सकें।' वानरेन्द्र सुग्रीव अयोध्याका वैभव देखकर विभोर हो रहे हैं—'क्या गणना हो सकती है इस भुवन-भूषण पुरीमें किसी अरण्यानी कपिकी।'

'श्रीरघुनाथकी उदारता, कोई सीमा है इस औदार्यकी।' एक बार नीचे और एक बार विमानमें अपने सम्मुख सिंहासनकी ओर सुग्रीवने देखा—'सुर भी जहाँ कुरूप और दरिद्र दीखें उस अवधमें, अपने इन अमित विभूति स्वजनोंके मध्य हम कपियोंको ससम्मान साथ लिये चलरहे हैं ये त्रिभुवन सम्राट। ये साथ न लाते, अयोध्याके बहिर्द्वारमें भी पद रखने योग्य था सुग्रीव ?'

'समर-सहायता ? कितनी विडम्बना है यह। जिनकी भृकुटियोंपर बंकिमा आते ही महासागर क्षुब्ध हो उठा था हमारे सम्मुख, उनकी क्षुद्रप्राण वानरोंने सहायता की संग्राममें ?' आज ही इतने समय पर--सच कहा जाय तो आज ही किष्किन्धाके स्वमीको अपनी ठीक अवस्था ज्ञात हुई है। अब उसका हृदय, अकस्मात् वह बहुत कुछ सोचने लगा है जिसे पहले नहीं सोच सकता था—'बालिने क्रीड़ामें क्षुद्रकीटकी भाँति दशग्रीवको कक्षमें दबा रखा था और वह बालि जिनका एक शराघात सहन नहीं कर सका, उन्हें हमारी सहायता अपेक्षित है ?'

'बालि...' सहसा दृष्टि नीचे श्रीभरतलाल पर गयी और हृदय भर आया—'बालि अग्रज था इसअधमका। एक अनुज ये सम्मुख हैं और एक अधम अनुज यह बैठा है। अग्रजका वध कराकर अपनेको कपीश कहलानेमें गर्वानुभव करनेवाला यह सुग्रीव.......।'

'कम स्नेह था मुझपर मेरे अग्रजका ?' आज क्षुब्ध हो उठा है अन्तर—'एक भूल, एक आवेश ! यदि उसके पश्चात् भी सुग्रीव अपने अग्रजके पदोंमें पड़ गया होता; मार डालता मेरा अग्रज मुझे ? इतना निष्ठुर था क्या सचमुच बालि ?'

'श्रीरघुनाथने अनुजके लिए राज्यका त्यागकर दिया। उनका स्वत्व ही तो था यह सम्राज्य !' विचारधारा अपना समाधान ढूँढ़ने लगी थी 'मर्यादा-पुरुषोत्तमने भी दोष नहीं देखा आहत, निर्वासित, सर्वस्वहृत आर्त सुग्रीवकी सहायता करनेमें।'

'सुग्रीव पर प्रभुने अनुकम्पा की, अनुकम्पा ही इनका स्वभाव है।' दृष्टि पुनः

सम्मुख उठी—'दीन -कहीं भी सम्मुख आया, श्रीरामने उसे अपनाना अस्वीकार तो करना सीखा ही नहीं ।'

'कितना गौरव, कितना सम्मान देते हैं ये सर्व समर्थ ।' सुग्रीव नीचे कम और सम्मुख अधिक देखते हैं 'मुझे मित्र कहते हैं । मुझसे सम्मति माँगते हैं । आज अयोध्या-में, इस अकल्पनीय वैभव पुरीमें वे साथ लेचल रहे हैं आदरके साथ तब जब कि उनका स्वागत करनेको सबके प्राण समुत्सुक हैं । जबकि वे सम्राटके रूपमें पधार रहे हैं ।

'सुग्रीव अयोध्याके राजसिंहासनके पृष्ठ भागमें राजवन्धुओंके साथ खड़ा होगा ।' कपीन्द्रकी कल्पना कुछ देखने लगी है—'श्रीरामकी कृपा, वे तृणको भी महेश्वर बना देनेमें समर्थ हैं । लोकपाल स्पृहा कर सकते हैं अब सुग्रीवके सौभाग्यपर ।'

'यह अयोध्या ! यहाँके ये देवोत्तम नागरिक ।' पुनः दृष्टि नीचे गयी—'हम असभ्य वन्यजन । इनके मध्य कुछ दिन भी रहना कठिन तो नहीं होगा ?'

'सुग्रीवको सम्मान मिलना है यहाँ ।' कोई आशङ्का नहीं उठी मनमें—'श्रीरघुनाथ जिसे इस प्रकार ले चलरहे हैं, किन्तु कितनी विडम्बना । जो सेवकोंकी सेवाके भी योग्य नहीं है वह वहाँ सम्मानित अतिथि........।'

'सेवा, श्रीरघुनाथकी सेवाका सुअवसर तो समाप्त हो गया ।' सुग्रीव आज सेवा-प्राप्तिको जितने समुत्सुक हो उठे हैं, इतनी उत्सुकता कभी उन्होंने अनुभव नहीं की थी—'अयोध्याके राज-समाजकी कोई सेवा मिल पाती ?'

आशा नहीं है । सम्मानित अतिथि हैं वहाँ किष्किन्धाके स्वामी । उनका सत्कार होगा, यह वे जानते हैं । उनको कोई सेवा मिल कैसे सकती है । वे इन लोगोंसे, अयोध्याके इन महत्तम लोगोंसे सत्कृत होंगे । श्रीरघुनाथ.........बार-बार नीचे और बार-बार सम्मुख विमानमें सिंहासनासीन श्रीसीतारामकी ओर वे देखते हैं ।

—:o:—

१०३. विभीषण–

'स्वर्णपुरी लङ्का—कितना सारहीन गर्व है हमारा।' कल दूरसे जब अयोध्याकी झाँकी हुई थी, तभी यह बात विभीषणके मनमें आयी—'अयोध्याके ऐश्वर्यके सम्मुख कितनी तुच्छ है रक्षो-राजधानी! यह मणिभूमि, रत्न यहाँ शिशुओंके आक्रीडन बन गये हैं।'

'लङ्का दुर्धर है। अवश्य ही सुरक्षा सहज प्राप्त है हमें: किन्तु दुर्बलको ही तो अपेक्षित है ऐसी सुरक्षा।' विभीषणके मनमें यह विचार भी कल ही आया था—'अपने तेजमें अयोध्याकी जो असीम शक्ति है, मेरा अग्रज बुद्धिमान था जो उसने इस पुरी पर आक्रमणका कभी साहस नहीं किया। अयोध्याका अभिभव सम्भव नहीं है किसीके द्वारा।'

'मैं अपने लोभके द्वारा वञ्चित हुआ।' आज निकटसे इस दिव्यपुरीको देखकर लङ्काके इस नवीन नरेशके मनमें दूसरी ही बात आने लगी है—'अग्रजके पदाघातने प्रतिशोधका भाव मुझमें जागृत किया। क्रोध पुरुषको अन्धाकर देता है। मेरे मनमें लोभ आया लङ्काके राज्यका और वह मुझे मिला। श्रीराम तो जन-काम-कल्पतरु हैं। इनके श्रीचरणोंमें पहुँची अभिलाषा अपूर्ण नहीं रहा करती। निर्वासित, गृहहीन, कङ्गाल विभीषण उनके समीप पहुंचा और इन सर्वज्ञने मेरा हृदय पढ़ लिया। उसी दिन सत्य संकल्पके श्रीमुखने सम्बोधन किया 'लंकेश!' विभीषण! तेरे लोभने ठग लिया तुझे। तू लंकेश ही रह गया।'

'यह दिव्यधाम अयोध्या! पुण्य भूमि भारतकी यह हृदय स्थली।' विभीषणका चिन्तन चलरहा है—'भारतसे सौ योजन दूर समुद्रमें त्रिकूट पर बसी लङ्का। स्वर्णपुरी सही लङ्का, राक्षस भूमि वह और उसका वैभव भी कितना नगण्य है। 'लंकेश विभीषण, विभीषण, तू अपने आपसे ही वञ्चित हुआ।'

'अब किस मुखसे कहेगा तू कि लङ्का नहीं लौटना है मुझे।' आज वह अभिषेक शूल बनगया है, जिसे हुए अभी पूरा सप्ताह भी नहीं बीता—'श्रीरघुनाथ मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। किसीका स्वत्व हरण उन्होंने कभी किया नहीं। कोई अपने उत्तरदायित्वका त्याग कर कैसे सकता है उनके सम्मुख और अब तो वे सम्राट होने जारहे हैं। उन्होंने स्वयं तुझे लङ्काका शासक बनाया, तेरे लोभको सार्थक किया। अब कहाँ अवसर है तेरे लिए?

'अयोध्याका सेवक—अयोध्याके सदनोंके सेवकोंमेंसे भी कोई तेरी सेवा स्वीकार कर लेता, लङ्काका राज्य किस गणनामें आता था ?' विभीषणके नेत्र आर्द्र हो उठे हैं —'लङ्का अभिभावक हीन है । अनाथ होगये हैं वहाँके शिशु । स्वामिहीना हैं वहाँकी नारियाँ, वहाँकी व्यवस्था आवश्यक है, अब तो आवश्यक ही है विभीषण यह तेरे लिए ।'

'श्रीरघुनाथ, निखिल ब्रह्माण्डोंकी व्यवस्था अनन्तकालसे जिनके संकल्प मात्रसे चलरही है, लङ्काकी सुव्यवस्था कठिन होती उनके लिए ?' आज अपना ही क्षुद्रत्व दीखता है विभीषणको —'तुममें स्वयं लङ्काका लोभ था और तुम जानते हो, तुम्हारे स्वामी उदार चक्र चूड़ामणि हैं ।'

'परमोदार श्रीराघवन्द्र ।' यही तो बात है जो आज अपनी क्षुद्रता पर अत्यन्त आकुल बनाये हैं—'उनके यहाँ सेवकके स्वत्वकी सीमा नहीं है । तुमने स्वयं अपने उस स्वत्वको सीमित करलिया, हाय रे भाग्य ।'

'तुम इस अयोध्यामें रह सकते थे । तुम आग्रह करते, अपनोंका आग्रह कभी इन श्रीचरणोंमें अस्वीकार हुआ है ? तुम्हें इन पाद पद्मोंकी सेवा प्राप्त हो सकती थी सदाके लिए ।' विभीषणने दृष्टि नीचेसे हटाकर प्रभुके चरणोंकी ओर देखा—'अब कुछ हो नहीं सकता । श्रीरामका संकल्प अन्यथा हुआ नहीं करता । व्यर्थ है अब यह सब अभिलाषा ।' अपना हृदय ही हार गया उनका ।

'तुम यहाँ आ सके, इस सुरवन्द्य दिव्यपुरीमें पहुचनेका अवसर मिला तुम्हें, श्रीरघुनाथकी असीम कृपा । देव भी यहाँ स्वेच्छा प्रवेश नहीं पाते और तुम राक्षस हो ।' विभीषण भाव विह्वल होगये हैं—'इस धन्यधराके, यहाँके पुण्य-प्राण निवासियोंके दर्शन करलो अब । तुम्हारा यह परम भाग्योदय ·······'

'ये अवधपुरवासी, ये महर्षि वशिष्ठ और ये श्रीभरतलाल ।' विभीषण अब श्रद्धा गद्‌गद देख रहे हैं, देख रहे हैं अपलक नीचेकी ओर ।

—o—

१०४. अङ्गद—

'आगयी अयोध्या, आगया मैं इस धन्य-भूमिमें।' बालिकुमार पता नहीं कबसे इस दिनकी प्रतीक्षामें थे। जबसे उनके पिताने अपने अन्तिम क्षणोंमें उन्हें श्रीरघुनाथको सौंपा था, उनका स्वप्न, उनका महातीर्थ होगयी थी अयोध्या।

'अयोध्या—आराध्यकी अवतार-स्थली, उनकी लीला-भूमि !' अङ्गदके लिए वह पता नहीं किस क्षण हृदयमें पुण्य स्थली बनी और बनी सो बन गयी। पता नहीं किस क्षण, क्योंकि उन्होंने अयोध्याका नाम अपने पिताके रहते सुना था और अनेक बार उल्लसित होकर अपने शैशवमें भी अवधका वर्णन पूछा था। उन्हें स्मरण नहीं कबसे अयोध्याके दर्शनकी उत्कण्ठा उनके प्राणोंमें आ बसी थी।

'कैसी होगी अयोध्या ? कैसे होंगे वहाँके मानव निवासी ? माता कहती हैं, मानव गुफा-गृह नहीं बनाते।' शैशवमें जो सुना था, उसका अपने ढङ्गसे चिन्तन चलता था—'अमित पराक्रम हैं, अयोध्या नरेश और वे क्षमाशील हैं।' अपने पिताका प्रचण्ड पौरुष अंगदका परिचित है, किन्तु पराक्रम और क्षमा ? श्रद्धा हुई यह सुनकर।

'मैं अयोध्या जाऊँगा।' मातासे कभी कहा था उन्होंने, किन्तु उस समय किसे पता था कि यह इच्छा इस रूपमें सार्थक होनी है।

'अपना इतना सौभाग्य नहीं।' उस समय ताराने एक निःश्वास लिया था। माताकी यह निराशा तब समझमें आनी कठिन थी और पिताने झिड़क दिया था प्रस्ताव सुनकर ही।

कल एक झाँक मिली थी दूरसे। कितना उत्सुक हो उठा था अन्तर विमान छोड़ देनेको और जब प्रभुने हनुमानको सन्देश देकर भेजा—'कितना धन्य, कितना महान सौभाग्य पवनपुत्रका।' ईर्षा नहीं हुई, किन्तु इतना अवश्य लगा कि यदि अंगद भी ऐसा सुयोग्य होता, हनुमानका अनुगामी होकर ही उसे साथ जानेका आदेश मिल गया होता।

रात्रि उत्सुकतामें व्यतीत होगयी थी। भरद्वाजाश्रमकी रात्रि, किसीको भी निद्रा कदाचित ही आयी हो और युवराज अंगदको तो प्रतीक्षाकी वह रात्रि कितनी लम्बी लगी थी, कहना कठिन है।

'यह अयोध्या !' युवराज गद्गद होउठे जब पुष्पक कुछ नीचे आया और पुरीके सदन एवं पुरजनोंकी आकृति तनिक स्पष्ट हुई—'ये नगर-जन !'

'अनुकम्पा श्रीरघुनाथकी। वानर आने योग्य हैं इस पुरीमें? सुर भी आवें तो उन्हें साहस करना होगा। सेवकोंकी श्रेणीमें भी तो खड़े होने योग्य नहीं वे।' अंगद केवल नीचे देख रहे हैं—'पिताने ठीक ही झिड़क दिया था मुझे। माताके निःश्वासका अर्थ आज समझ सकता हूं। लेकिन श्रीअयोध्यानाथके औदार्यकी सीमा तो नहीं है।'

'अयोध्याके ये दिव्य सौध। ये पुर-वीथियाँ।' वानर युवराजका हृदय मचला पड़ता है यहाँकी रजमें लोट-पोट होनेको—'यह तेज और यह सौम्यता पुरजनोंकी। इनकी पद-रज प्राप्तिका भाग अन्ततः अंगदको मिला। धन्य हुई आज अभिलाषा। कृतार्थ हुआ आज यह कपि।'

'ये नगर-जन, ये पुर-सेवक।' युवराज अंगदकी दृष्टि राजपुरुषों एवं ऋषिगणोंकी अपेक्षा सेवकों पर ही अधिक जाती है—'इनके साथ इनकी आज्ञामें रहनेका अवसर मिल जाय मुझे........।'

'कहाँ रहूंगा मैं यहाँ?' जैसे सदाके लिए उन्हें यहीं बस जाना है। उनकी दृष्टि अपने लिए स्थान ढूँढ़ने लगी है। सौध नहीं, राजसदनके समीप नहीं, वे तो नगरके अन्तिम भागोंमें बने भवनोंकी ओर ही अधिक देखरहे हैं—'उधर कहीं एक उटज बनानेकी अनुमति मिल जाय।'

'किष्किन्धाका युवराज अङ्गद, छिः। वानरराज किसी औरको यह पद दे सकते हैं।' आज अङ्गदको बड़ा भारी लग रहा है उनका युवराज होना—'उनको अंगदकी ही आवश्यकता क्यों होनी चाहिए और श्रीरघुनाथ, वे अपने राजसदनकी कोई तुच्छातितुच्छ सेवा देनेका अनुग्रह नहीं करेंगे? यह अयोध्या....' युवराज अंगद देख रहे हैं, एक-एक स्थल जैसे उनके हृदयमें अंकित होता जाता है। वे देखते जारहे हैं अद्भुत भावसे।

—*—

१०५ जाम्बवान्—

अयोध्याको देखकर, नित्य नूतना अयोध्याकी आज अद्भुत शोभा देखकर विमानारोहियोंमें केवल कपिदलके दो व्यक्तियोंको कोई आश्चर्य नहीं हुआ था। एक श्रीहनुमानको और दूसरे रीछराज जाम्बवान्को। श्रीहनुमान अभी कल सन्ध्याको ही अयोध्या जा चुके थे। नगरकी सज्जा रात्रिमें कितनी बढ़ जायगी, उन प्रज्ञा पारङ्गतके लिए अनुमान कर लेना कठिन नहीं था और रीछराज—वे सतयुगीन अनुभवी वृद्ध थे। उन्होंने इस धन्यधराको देखा था पहिले भी और उनकी स्थिर मतिमें अब कुतूहल प्रवेश नहीं कर पाता। वे आश्चर्यमें नहीं पड़ा करते। भगवान वामनको विराट बनते जिसके नेत्रोंने देखा हो—कोई आश्चर्य उसे चकित करनेकी शक्ति कहाँसे पावे !

लोमशकाय, विशालवपु, वज्रपुष्ट देह, अपार अनुभवी नेत्रद्वय, ऋक्षराज जाम्बवान् श्रीरघुनाथके दक्षिण पार्श्वमें किञ्चत हटकर बैठे हैं। वे सम्मान्य हैं। यद्यपि वे कपिराज सुग्रीवके सचिव हैं, किन्तु सुग्रीवका गौरव है उनका सम्मान करनेमें। उनका सम्मान तो श्रीरघुनाथ करते हैं और लङ्काके युद्धमें यह सिद्ध होगया है कि शत्रु भी उनका सम्मान ही कर सकते हैं। जिसे कोई दिव्यास्त्र क्षति नहीं दे पाता, जिसके मनको कोई आसुरी माया अर्धक्षणको भी भ्रान्त नहीं करती, उस सतत जागरूक परम मतिमान् महाप्राज्ञ महाप्राणका सम्मान ही तो किया जा सकता है।

जाम्बवान्की प्रज्ञा—उस प्रज्ञाके पीछे केवल प्रतिभा नहीं हैं, वह प्रतिभा युगोंके अनुभवोंसे परिपुष्ट है। कोई विषय, कोई प्रसङ्ग, जाम्बवन्त मौन रहेंगे और यदि उनके अधर हिलेंगे, उनके शब्द सबके लिए पूर्व स्वीकृत हैं। उनके आदेश, उनकी सम्मतिका कभी कोई प्रतिकार कर नहीं सकता और यदि कोई अज्ञ यह दुस्साहस कर ले, पश्चाताप उसका निश्चित स्वत्व है।

जाम्बवान्की शक्तिका अब तक अनुमान नहीं किया जा सका। मेघनाद और और रावण भी उनके एक मुष्टि-प्रहारका सह लनेमें सक्षम नहीं निकले। उन्हें भी मूर्छा ही आगयी। अनेक बार स्वयं ऋक्षराजके मनमें यह उत्सुकता उठी है 'कोई द्वन्द्वयुद्ध देनेवाला समशक्ति प्रतिद्वन्दी मिलता।' किन्तु उनकी उत्सुकता कब पूर्ण होगी वे स्वयं नहीं जानते।

आज भावविह्वल हैं ऋक्षराज जाम्बवन्त भी। उनके नेत्रोंने भी नीचे कुछ अपूर्व दृश्य देखा है। सतयुगसे अब तकके संसारकी साक्षिणी दृष्टिके लिए अपूर्व दृश्य ?

नीचे लगी है वह दृष्टि अपलक और ऋक्षराजके सम्पूर्ण शरीरके दीर्घ केश (उन्हें रोम कहते बनता नहीं) खड़े हो रहे हैं। अद्‌भुत वेश, आप अनुमान नहीं कर सकते कि केशोंके सम्पूर्ण देहमें खड़े हो जानेसे कितना अद्‌भुत वेश बन गया है स्वयं जाम्बवन्तजीका।

अपलक नीचे देख रही है उनकी दृष्टि। इधर उधर भी वहाँ नीचे कोई हैं, जैसे पता नहीं। अयोध्याके सदन, उन सदनोंकी शोभा, राजपथोंपर अपार भीड़, रथ, गज, अश्वोंकी अछोर पंक्तियाँ और यह जयघोष एवं वाद्योंका तुमुल कोलाहल, कुछ दीखता नहीं, कुछ सुनायी नहीं पड़ता। ऐसा क्या दीख गया नीचे कि उसीमें ये परम गम्भीर महावृद्ध इस प्रकार समाधिस्थ हो रहे हैं?

एक दूर्वादल श्याम जटामुकुटी, बल्कल परिधान कुमार वह राजकुमार है, कहना कठिन है आज। अपने आजानु बाहुओंसे अपने मस्तक पर अग्रजकी पादुकायें उठाये वह क्षीणकाय, तेजोनिधान आगे बढ़ता आरहा है और वही है जिसने इन सतयुगके महाप्राणकी दृष्टि अपनेमें बाँधली है।

जाम्बवन्त सतयुगके जन हैं। उन्होंने लोकोत्तरतपस्वियोंकी साधना देखी है। बाल्मीकि और रावण जैसे मुनि एवं असुर महातापसोंकी सहस्रशः तपस्याओंके प्रत्यक्ष दर्शनकी स्मृतियाँ उनका अन्तर संजोये हैं और त्याग—त्रिभुवनेश्वर बलि का त्याग जैसे आज भी उनकी दृष्टके आगे ही है। शिवि, रन्तदेव—लोक प्रख्यात त्यागी उनके सम्मुख शिशु रहे हैं और ध्रुव तथा प्रह्लादका प्रेम, भगवद्‌भक्ति उन्होंने नहीं देखी, यह भी नहीं है, किन्तु यह अयोध्याका राजकुमार—जाम्बवान्‌की दृष्टिके लिए भी यह अपूर्व है।

यह दैन्य, यह साधना, यह निरभिमानिता, यह त्याग एवं तप, जिसमें कर्ताको पता तक नहीं कि उसने कोई त्याग या तप भी किया है, यह भ्रातृ-प्रेम और यह विह्वलता—ऋक्षराजको लगता है कि जितने भी भक्तिके साधन हैं, जिनमें-से एक-एक जीवको सनाथ कर देता है, सब एकत्र आगये हैं और फिर भी भरत अमाप हैं। भरतको पाकर सनाथ हुए हैं सब साधन। भरत—ऋक्षराज की अपलक दृष्टि लगी है श्रीभरतलाल पर।

—·|·—

१०६. हनूमान—

'अयोध्या आगये हम।' श्रीपवनकुमारकी अनुभूति—आप कभी अपनी जन्म-भूमिसे, अपने प्रिय स्वजनोंसे कुछ वर्ष पृथक रहे हैं ? उस पृथकताके पश्चात् जब आप लौटे हैं और आपको दूरसे अपने नगर या ग्रामोंके वृक्ष-भवन दीखने लगे हैं, कैसी अनुभूति हुई आपको, कुछ स्मरण है ? यदि स्मरण हो तो श्रीआञ्जनेय की अनुभूतिका किञ्चित् अनुमान लगा सकते हैं आप।

अभी कल सन्ध्या समय श्रीपवनपुत्र अयोध्या आये थे। केवल एक रात्रि व्यतीत हुई है—कहाँ, उन्हें तो लगता है कि युग बीत गये इस अपनी भूमिके दर्शन किये। अपनी भूमि, श्रीहनुमानके हृदयमें तभी अयोध्या अपनी जन्मभूमि बनगयी, जब भी उन्होंने इस नगरके प्रथम दर्शन किये। अयोध्या के पुरवासी तभी उन्हें सगे स्वजन लगे, जब उन्हें कोई पुरमें पहिचानता तक नहीं था। जन्म-जन्मकी—सदाकी अपनी शाश्वत भूमि अयोध्या……श्रीहनुमान के प्राणोंने पहिली झलकके साथ उसे पहिचान लिया था।

प्रभु सम्मुख आसीन है श्रीजानकीके साथ। वे आनन्दघन सदा सानुकूल हैं। उनकी सेवा, उनका सामीप्य तो औरोंको सुलभ होजाता है, यदि पवनपुत्रकी कृपा प्राप्त होजाय। इतने पर भी—जी हाँ, इतने पर भी अयोध्याका आकर्षण और ही है। अपनी अयोध्यामें श्रीसीतारामकी जो शोभा है, अन्यत्र उसकी आशा कोई कैसे करेगा ?

'अयोध्या आयी।' श्रीअञ्जनी नन्दनका हृदय हर्षसे भर गया है। 'अयोध्या, अपनी नित्य भूमि अयोध्या। कुछ अपरिचित नहीं, कुछ अद्भुत नहीं। जिसकी सज्जा, जिसकी कला स्रष्टाको भी चकित करदे, उस पुरी में हनुमान के लिए अद्भुत कुछ नहीं, किन्तु उसके समान प्राणोंको और कुछ प्रिय भी नहीं।

ये वन, ये उपवन, ये नगरोद्यान—ये भवन, ये सभासदन, यह राज-सौध, ये वीथियाँ, ये पथ, ये चतुरष्क—लगता है कि एक-एक कण चिरपरिचित है अयोध्याका। एक-एक जन स्वजन है और प्रत्येक पशु, प्रत्येक पक्षी, या भृङ्ग अत्यन्त प्राचीन मित्र हैं। प्राण सबसे मिलनेको आतुर हो उठे हैं। सबको कैसे अङ्कमाल दे दी जाय तत्काल……?

'श्रीराम, श्रीसीताराम !' जैसे रेणुके कण-कणमें, सरयूके जलके प्रत्येक सीकरमें

और प्राणियोंके रोम-रोममें आञ्जनेयके सम्मुख बैठ युगल सरकार विराजमान हैं— यही तो अयोध्याका स्वरूप है।

'मर्यादा पुरुषोत्तमकी जय!' 'महाराजाधिराज श्रीरामकी जय।' नीचेसे सहस्र कण्ठ जयघोष करते हैं और बार-बार हनुमानका तुमुल घोष विमानको गुञ्जित करता है। वे क्षण-क्षण पर भूल रहे हैं कि विमानमें हैं। उन्हें लगता है वे अयोध्यामें हैं। अयोध्यावासियोंके मध्यमें हैं और अपने आराध्यका सब पुरवासियोंके साथ स्वागत करना है उन्हें भी।

पवनपुत्र के उल्लसित कंठका जय-घोष, पुष्पक गूँज उठता है और बार-बार कम्पित हो उठता है, क्योंकि दोनों हाथ उठाकर उछल-उछल पड़ रहे हैं श्री आञ्जनेय अपने आनन्दोद्रेकमें।

श्रीरघुनाथ, श्रीजनक नन्दनी, श्रीलक्ष्मणलाल अथवा कपिराज, कपि युवराज, ऋक्षपति आदि किसीको इस समय दूसरेकी ओर ध्यान देनेका अवकाश नहीं है। पुलक पूरित तन, वाष्प-विह्वल लोचन, धरा-निबद्ध नयन इस समय सभी होरहे हैं। आत्म-विस्मृत हैं। इतने पर भी श्रीहनुमानका हर्ष विह्वल जयघोष, एक दो बार श्रीरघुनाथने देखा उनकी ओर और देखा श्रीजानकीने भी। स्नेह सिक्त उज्ज्वल स्मित आया अधरों पर और हृदय, शिशुका अत्यधिक उल्लास देख कर वात्सल्यमयी जननीके हृदयमें क्या आता है?

श्रीहनुमानकी दृष्टि भी नीचे है। वे भी नीचे ही देख रहे हैं, किन्तु उनकी दृष्टिमें व्यक्ति नहीं है। उनकी दृष्टिमें दृश्य नहीं है। उनकी दृष्टिमें साज-सज्जा नहीं है। वे नहीं देखते स्वागतार्थ निर्मित मणि-तोरण एवं प्रदीप्त दीपावलि, वे नहीं देखते अश्व, गज एवं रथोंकी पंक्तियाँ, वे नहीं देखते भाव-विह्वल समूह। महर्षि वशिष्ठ पर उनकी दृष्टि नहीं, कुमार शत्रुघ्न पर उनकी दृष्टि नहीं और आप आश्चर्य करते हों तो कर लें, भरतलाल पर भी उनकी इस समय दृष्टि नहीं।

तब क्या देखती है हनुमानकी दृष्टि? अयोध्याको। रोम-रोममें कण-कणमें जिसके श्रीसीताराम प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हैं, उस राममयी, रामरूपा अयोध्याको देखकर विह्वल हो रहे हैं श्रीहनुमान।

—★—

१०७. श्रीलक्ष्मण—

'हम अयोध्या आगये !' पुष्पकमें इस समय अपेक्षाकृत सबसे अधिक सावधान हैं कुमार लक्ष्मणलाल। वे बीच-बीच में नीचे देख लेते हैं और फिर अपने सम्मुख सिंहासनासीन अग्रजकी ओर। यह निश्चित है कि इस समय कोई आदेश नहीं मिलेगा। कोई सेवा अभी प्राप्त नहीं होनी है, किन्तु कुमारको प्रमाद तो स्पर्श करता ही नहीं।

प्रभु कुछ नीचे दिखलाना चाहें, कुछ कहना ही चाहें, अशक्य तो नहीं। उस समय दृष्ट अन्यत्रलग्ना तो नहीं मिलनी चाहिए उन्हें। लेकिन दृष्टि बार-बार नीचे चली जाती है। बार-बार हृदय उत्सुक होता है, सच पूछिये तो नीचेसे दृष्टि हटानेकी इच्छा नहीं होती है। उसे बलात् हटाना पड़ता है।

'यह अयोध्या। कुमारने प्रथम झांकीके साथ ही मस्तक झुकाया था जन्मभूमिको ओर स्वभावतः उत्तङ्ग राजसदन पहिले स्पष्ट हुआ विमानसे। वातायनों पर माताओंके दर्शन हुए सेविकाओं के मध्य और पुनः मस्तक झुका। कुछ और भी दीखा, कोई और उत्सुक नेत्र……'।

विमानकी मन्दगति भी पर्याप्त है नीचेके दृश्योंको सम्मुखसे हटा देनेके लिए। नीचेके दृश्य, प्रत्येक दृश्य ही तो हृदयको उन्मथित किये देता है। प्रत्येकके ही साथ स्मृतियोंके अम्बार हैं।

'यह सरयू पुलिन, ये आम्रोद्यान, ये राजपथ। यह मित्रमण्डल और यह राजसदनका वहिर्द्वार जहाँ वल्कल पहिने श्रीरघुनाथ रथारूढ़ हुए थे बन जाते समय।' दृश्य हैं और दृश्योंके साथ पता नहीं कितनी स्मृतियाँ हैं।

विमानसे ही प्रणति प्राप्त हुई देवालयोंको और दिव्यसलिला सरयूको भी। सहसा मुनि-मण्डल दीख पड़ा 'रघुकुलके परमाश्रय गुरुदेव।' श्रद्धा उमड़ पड़ी मस्तक झुकनेके साथ।

'यह—यह शत्रुघ्न ?' दृष्टि शीघ्र इस बार नीचेसे हटायी नहीं जासकी—राजकुमारका वेश, रत्नालङ्करण और अश्वारूढ़ शत्रुघ्नमें वही सदाकी स्वस्थ शीघ्रता, प्रबन्ध पटुता और शौर्य, किन्तु अनुजका यह श्रीमुख।' दृष्टि वीक्षण लगी रही वहाँ—'यह ठीक कि आज नेत्र आह्लाद भरे हैं, उत्फुल्ल है मुख, किन्तु इस आह्लादमें भी पीताभा और इतने कृशकुमार शत्रुघ्न ?'

'हे भगवान !' एक बार दृष्टि ऊपर खींच लीगयी विमानमें, किन्तु आधे क्षणमें

वह फिर नीचे गयी और इस बार तो दीर्घश्वास निकल गया, नेत्र बरस पड़े। यह क्या देख रहे हैं वे—'यह वेश आर्य भरतका ? इतना कृशकाय······ ?'

कुमार लक्ष्मण अपलक देखते रहगये कुछ देर। सुना है उन्होंने श्रीभरतलालके तपका विवरण, किन्तु इतना कठोर तप, इतना क्षीण देह ? श्रवणकी हुई बात—सुना सत्य जब नेत्रोंके सम्मुख आता है, झकझोर कर रख देता है हृदयको। हृदय कर्णोंसे कम प्रभावित होता है, किन्तु नेत्रोंका प्रभाव, और आज जो नेत्र दिखारहे हैं नीचे।

पूरे चौदह वर्ष कुमार लक्ष्मणलालने निद्रा ली नहीं है—यह कहना चाहिए। आहारकी भी यही अवस्था रही और निरन्तर वे सेवा तत्पर रहे, किन्तु उनको तो लगा ही नहीं कभी कि वे कोई तप कररहे हैं। अग्रजके साथ रहनेका उनका आह्लाद—आज श्रीभरतको देखते ही उनके सम्मुख एक अद्‌भुत सत्य आगया। सहसा—'श्रीरघुनाथसे पूरे चौदह वर्ष पृथक रहना······।' इस भ्रातृ-वियोगका असह्य वेदनामय स्वरूप।

'कितनी व्यथा ! कितनी वेदना और कितने दीर्घकाल तक !' शत्रुघ्नका पीताभ श्रीमुख और भरतलालका अतिशय क्षीण काय। सहानुभूतिकी पीड़ा आपने कभी सचमुच अनुभवकी हो तो कदाचित् कुछ समझ सकें।

'कैसी हो गयी होंगी माताएँ ? सभी मित्र, पूरे पुरजन ओह ! वीतराग ऋषिकुमारोंके श्रीमुख भी तो पीतप्राय हैं।' एक बार फिर दृष्टि चारों ओर घूम गयी और आजके उल्लास, आजकी सज्जाके पीछे जो दीर्घकालीन दुःखकी अस्पष्ट रेखा छिप गयी है, उसे देख लेनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई।

'धन्य अग्रज !' श्रीभरतलाल पर ही दृष्टि बार बार जाती है और चित्त उनके चरणोंमें मस्तक रख देनेको आतुर हो उठा है।

—※—

१०८ श्रीजानकीजी—

'मेरी बहिनें !' श्री विदेह-नन्दिनीकी दृष्टि बिमानसे राजसदनके उत्तुङ्ग शिखरस्थ गवाक्ष पर गयी और उनके कमलदलायत लोचन भर आये—'इतनी कृश ? इतना पीताभ सुख इन सबोंका ?'

'वस्त्र और अलङ्कार गात्रकी कृशताको कैसे छिपा सकते थे। स्वयं श्री-जानकी अत्यन्त कृश हैं, यह उन्हें कहाँ स्मरण है। उनकी कृशता समझमें आ सकती है, किन्तु अयोध्याके राज सदनमें अपने आराध्योंकी सन्निधिमें रहकर भी उनकी बहिनें इतनी दु;खिनी रही होंगी, सोचा तक नहीं था उन्होंने।

'मानधनी उर्मिलाका क्लेश–ओह, सूख गयी यह नित्य सुप्रसन्न उत्साहमयी !' स्थितिकी विषमताको अब अन्तर स्पष्ट करने लगा था—'और यह माण्डवी, क्या अन्तर था इसमें और उर्मिलामें ? लक्ष्मण वनमें थे अग्रजके समीप, किन्तु नन्दिग्रामकी तपस्याने भरतको ही कहाँ नगरमें आने दिया। कभी अथवा नित्य भी यदि यह अभिवादन कर आती हो—क्लेश बढ़ता ही तो रहा वह उग्र तप देखकर।'

'लेकिन यह श्रुतिकीर्ति ?' सबसे लाड़ेली, सबसे छोटी बहिनकी बात समझमें आना औरोंके लिए भले कठिन हो, श्रीमैथिलीके लिए तो कठिन नहीं होना था—'कुमारके समान यह भी प्रसन्नताका वाह्य दिखावा ही करती रही है। कितना क्लेश, कितनी व्यथा थी इस दिखावेमें दैव !'

'माताएँ।' विमानकी गतिसे जो देखा जा सकता था, उसीमें श्रीजानकीने जितना देखा, उन्मथित कर दिया उतनेने ही उनके अत्यन्त भावप्रवण हृदयको—केवल छोटी माता (सुमित्रा) अपेक्षाकृत स्वस्थ हैं। सबकी सम्हाल, सबकी व्यवस्थाकी व्यस्तता उन्हें शोकके लिए भी कहाँ अवकाश देती है। वे स्थिर न रहें, असीम है उनका धैर्य और यही धैर्य तो राजसदनका आधार है।'

बड़ी माँ सदासे तपस्विनी हैं। उनकी वेदना·······।' श्रीजनकनन्दिनीने अञ्चलके छोरसे अपने नेत्र पोंछे, किन्तु असफल था यह प्रयास। आज नेत्रोंके विन्दु कहाँ विरमित होते हैं इस प्रकार। 'जिनका सर्वस्व छीन-सा लिया—वत्सहीना गौ जैसी दीना माँ, लगता है युगोंके पश्चात् उनके शीर्ण शरीरमें आज प्राण आये हैं। आज उनके श्रीचरण मिलेंगे मुझे वन्दन करनेको।' दो क्षण नेत्र बन्द होगये। भावोंके आवेगमें हृदयने कुछ चिन्तन करना ही बन्द कर दिया।

'एकान्त गवाक्षमें स्थित मध्यम माता (कैकेयी), हाय रे दैव ! वे आज भी जैसे हिचक रहीं थीं, अपने आपसे भय खा रही थीं। लगता था—दृष्टि ऊपर विमानकी ओर उठावें या न उठावें – संघर्ष चल रहा था चित्तमें। काहेका संघर्ष ? कदाचित यह कि कोई कुछ व्यङ्ग न कर दे ?'

'जो अयोध्याके साम्राज्यकी अधीश्वरी थीं, जिनके नेत्रसंकेतकी सादर सुरेन्द्र भी प्रतीक्षा करते थे और जिनके कोपसे लोकपाल भी सशंक रहते थे, वे आज सबसे सशंकित ....।' अश्रु नहीं, हृदय उमड़ा पड़ रहा था नेत्रोंके मार्गसे—'गौरवकी गरिमा, मानिनियोंकी मूर्धन्या मध्यम माँ और आज वे सबसे उपेक्षिता। जिसे सर्वाधिक स्नेह दिया उन्होंने—एक अल्प भूलका यह दुःसह दण्ड कि आज उसके आगमन पर अन्तरके आह्लादको व्यक्त करते भी उन्हें हिचकना पड़ता है। उन्हें इधर उधर देखना होता है कि....।'

विमान चल रहा है। पुष्पक मन्दगतिसे मण्डल लेते गगनसे भूमिकी ओर आ रहा है। अयोध्या स्पष्टसे स्पष्ट तर होती जारही है, किन्तु श्रीजानकीके नेत्र तो कुछ देखते नहीं हैं। वे तो राजसदनके गवाक्षको देखकर जैसे आत्मलीना हो गयी हैं।

नेत्रोंकी अश्रुधारा कुछ देखने नहीं देती और हृदयकी भावधारा उससे प्रबल है। जो एक झलक मिली—उन्मथित कर दिया है उसीने अन्तरको और पता नहीं क्या-क्या सोचती मूर्तिके समान निश्चिल हो गयी हैं वे सिंहासन पर और इस समय श्रीरघुनाथ भी इस अवस्थामें नहीं कि उनकी स्थिति पर ध्यान दे सकें।

'अरे ! ये बड़े देवर !!' सहसा तब दृष्टि सावधान हुई जब विमान भूमिसे कुछ ही ऊपर रह गया था। दृष्टि श्रीभरतलाल पर गयी और—मस्तक पर अग्रजकी पादुका दोनों करोंसे उठाये श्रीभरलाल—वात्सल्यका जो प्रवाह उच्छलित हुआ, उसका वर्णन अशक्य है।

—※—

१०९ श्रीरघुनाथ—

'अयोध्या आयी।' कमल-दलायत-लोचन श्रीराघवेन्द्रकी दृष्टि कहाँ नहीं है—ऐसा तो कुछ नहीं होता, कभी नहीं होता जो उनकी दृष्टिमें न रहता हो और अपने जनों पर तो सदा उनकी उत्सुक दृष्टि लगी रहती है।

अयोध्याके लोग—श्रीरामके अपने निजजनोंने ही तो अवधमें जन्मका सौभाग्य पाया है। उनके प्राण नेत्रोंमें आ गये हैं और वे नेत्र पुष्पककी ओर लगे हैं। कोई हृदय सचाईसे श्रीरामकी प्रतीक्षा करे—रामके हृदयमें उसके समीप पहुँचनेकी प्यास पहिले जाग जाया करती है। आज अयोध्याका एक-एक प्राणी उल्लसित है, उत्कण्ठित है—उनके श्रीराम आ रहे हैं उनके मध्य और श्रीराम—वे आतुर हैं, अभीप्सु हैं एक-एकको अपनी विशाल भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लेनेके लिए।

नीचे लगे हैं श्रीरामके नेत्र। वे कहाँ देख रहे हैं? कौन उनकी दृष्टिका केन्द्र है? प्रश्न यह कीजिये कि कौन उनकी दृष्टिका केन्द्र नहीं है? कोई ऐसा नहीं। भर-भर आते हैं इन भुवनाभिराम श्रीरामके दीर्घ दृग। शरीर जैसे तनिक हिलनेमें भी असमर्थ है। निश्चल मूर्ति—और यह दूर्वादल श्याम मूर्ति द्रवित हुई जारही है। रोम-रोम उत्थित है। सम्पूर्ण शरीरसे स्वेद धारा छूट रही है प्रेमावेशके कारण। विह्वल अवरुद्ध कण्ठ श्रीराम केवल देख रहे हैं अपनी पुरीकी ओर।

कभी मस्तक झुकता है और करबद्ध हो जाते हैं मुनि-मण्डल एवं पूज्यजनोंके प्रति। कभी सम्पूर्ण अङ्ग कम्पित होने लगता है, थर-थर काँपता है और कभी मूर्ति सा स्थिर हो जाता है। नेत्रोंसे निझर झर रहे हैं और बार-बार उल्लासित उठ-सा पड़ता है श्रीअङ्ग।

श्रीराम क्या सोचते हैं? उनके मानसकी छाया भी अगम्य रही है भगवती भारतीके लिए। वे करुणा वरुणालय—अपनों पर उत्सर्ग होजानेकी उनकी उमङ्गका अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। आज अयोध्याका उल्लास.....।

'श्रीराघवेन्द्रकी जय।' 'महाराजाधिराज श्रीरघुनाथकी जय।' धरा और गगन गूँज रहा है जय-ध्वनिसे और परम संकोचशील श्रीराम संकुचित हुए जारहे हैं। इस उमङ्गमें, इस उल्लासमें उन्हें इस अपार समुदायके स्वागतका केन्द्र बनाना है।

'ये सुरगण?' श्रीरघुनाथकी दृष्टि रूप या वेशकी वञ्चनामें आती नहीं—'आज ये सेवकों और नागरिकोंमें सम्मिलित होगये हैं। इनका स्वरूप

सबके सम्मुख व्यक्त करना अशिष्टता है और इनसे सेवा लेनी—पड़ेगी ही इस समय। इनकी इच्छा, इनके उत्साहका सम्मान.........।' लेकिन संकोच होता है, जैसे इच्छा-गति विमान अपने मुख्यारोहीके इस संकोचके कारण ही मन्दगति होगया है। वह उतर रहा है धराकी ओर, किन्तु उसकी गति अतिशय शिथिल है।

'ये द्विजश्रेष्ठ! यह मुनिमण्डली! ये ऋषिगण।' बद्धाञ्जलि मस्तक झुक-झुक गया—'इनके आश्रमोंमें जाकर पादाभिवन्दन करना था मुझे और ये स्वयं आये हें। ये प्रतीक्षा कर रहे हैं। कष्ट होरहा है इन्हें।' और पुष्पककी गतिमें तनिक त्वरा आगयी।

'ये गुरुदेव स्वयं!' सहसा सिंहासनसे उठ खड़े हुये श्रीराम। गुरुदेवको देख-कर वे बैठे रहें—सम्भव कैसे है यह?

'और यह भरत.......!' मस्तक पर दोनों करोंसे पादुका उठाये ऊर्ध्व दृष्टि, शिथिल पद, बढ़े आरहे भरतकी ओर देखा श्रीरामने और उत्तरीयका वल्कल गिर गया खिसक कर, धरा रहा धनुष और धरे रहे युगल त्रोण। श्रीजानकी समीप हैं, कुमार लक्ष्मण उठ खड़े हुए हैं—इधर देखनेका अवकाश कहाँ है।

श्रीराम सिंहासनसे उठे थे और वेग पूर्वक बढ़ गये पुष्पकके द्वारकी ओर। पुष्पक अपने आरोहीकी इच्छा समझ सकता है। विमान उतर गया क्षणार्द्धमें भूमि पर और उन्मुक्त-उद्‌घटित हो गये उसके द्वार।

'श्रीराघवेन्द्र की जय!' एक साथ लक्ष-लक्ष कण्ठोंसे गूँजा जयघोष।

वह उतरे, वे आ रहे हैं अस्त व्यस्त दौड़ते श्री रघुनाथ, किन्तु भरतने रोक लिया हैं अपनेको। मर्यादा पुरुषोत्तमको पहिले गुरुदेवको प्राणिपात करना चाहिए और ये सम्मुख आ रहे हैं गुरुदेवके नव दूर्वादल श्याम श्रीराम।

❋

११०. श्रीभरत—

'प्रभु आये ! आये मेरे स्वामी ! मेरे अग्रज ! मेरे सर्वस्व ! अयोध्याके नाथ !' श्रीभरतलालका भावसमुद्र आज अपनी सीमा तोड़ चुका है।

नीलकान्त मणि जिसके श्रीअङ्गकी शोभासे शोभित हो उठे, नन्दिग्रामका यह तपस्वी——उसके अधोवस्त्रके रूपमें आज वल्कल शोभित है। कौशेय वस्त्र भी इतनी शोभा कदाचित् ही दे सके और उत्तरीयका वल्कल इस उमड़ते उल्लासमें कब कहाँ गिर पड़ा, इस महातापसको स्मरण नहीं।

दूर्वादल श्याम शरीर पर पीत यज्ञोपवीत—सजल जलद पर विद्युच्छटाकी शोभा देखी है आपने ? आज अलकें नहीं हैं पूरे चौदह वर्षकी तपस्याने उन्हें जटाएँ बना दिया है। कपिशाभ जटाएँ और उनके ऊपर कर-कंजोंसे सादर, सम्भाल कर पकड़ी हुई चन्दन-कुंकुम-चर्चित पादुका द्वय।

त्रिभुवन जिसके स्मरणसे युग-युगतक पवित्र होता रहेगा, उस तापसका यह अतिशय क्षीण काय, किन्तु कायाकी यह क्षीणता कहाँ लक्षित होती है। इस दिव्यदेहसे जो तेजोराशि प्रस्फुटित हो रही है—अपने तपःतेजमें शाश्वत सुपुष्ट यह भाव-प्राण, भावदेही सुरासुर वन्द्य।

'आये मेरे स्वामी !' दृष्टि ऊपर लगी है। पुष्पक समीप आता जारहा है और श्रीभरतलालका श्रीअङ्ग जैसे आनन्दसे उत्फुल्ल हुआ जाता है। उनके पङ्कजारुण चरण भावोन्मादमें डगमग पड़ते हैं धरापर और लगता है, उन सुकुमार श्रीचरणोंका स्पर्श पृथ्वीको भी पुलकित किये देरहा है। हरिताभ तृणराजिमें सुन्दर, नन्हें, सुकुमार सुमन-समूह झूम उठते हैं, मुस्करा उठते हैं जहाँ ये चरण अपने अङ्कन छोड़ते हैं।

लगभग मध्याह्नका समय; किन्तु आकाश आज विमानोंसे आच्छादित है। सुर-सुन्दरियोंके करोंसे राशि राशि सुमन मेघ मालाके सीकरोंके साथ धरा पर झर रहे हैं। गगन जयघोष एवं मंगल वाद्योंसे गूँज रहा है, किन्तु श्रीभरतलाल यह सब कहाँ देखनेकी स्थितिमें हैं। उनके प्राण पुष्पक दर्शनमें लगे हैं और लो, उतर गया पुष्पक भूमि पर।

'आगये—आगये मेरे आराध्य !' अत्यन्त उतावलीमें पड़े डगमग दो पद आगे श्रीभरतलालके और सहसा शरीर स्थिर हो गया—मूर्तिके समान निस्पन्द। 'करुणा-वरुणालयने कृपाकी। अवधके ये असंख्य आतुर प्राण—इनकी अभीप्सा खींच लायी

श्रीरघुनथाको ! तू किस गणनामें है ? अपनोंके अपराध देखना नहीं जानते ये दयानिधान, अतः तू उनके श्रीचरणोंके आज दर्शन कर सका। तेरी हठ—तेरी धृतष्टता रह गयी। तेरा मान रख लिया तेरे इन सहज शीलमय स्वामीने किन्तु तेरी भीमा भरत ? कहाँ जा रहा है तू ?

'गुरुदेव हैं, विप्र वृन्द हैं, सखा हैं, नागरिक हैं सम्मान्य अतिथि हैं।' श्रीभरतलालको एक साथ पता नहीं कौन कौन स्मरण आगये और इस स्मरणने ही उन्हें निश्चल बना दिया है-'तेरी गणना सेवकोंकी गणनामें है ? सेवकों जितना स्नेह भी है तेरे प्राणोंमें ? सब श्रीराघवेन्द्रके श्रीचरणोंमें प्रणिपात करलें, उनका स्नेह सत्कार प्राप्त करलें—दूरसे तू भी प्रणाम कर ले सकता है सबके अन्तमें और प्रभु केवल देख लें तेरी ओर, धन्य नहीं होगया तेरा जीवन ?'

उन्मुक्त हो गया पुष्पकका द्वार विमानके धराका स्पर्श करते ही और उसमेंसे यह जो आतुर दौड़ती नीलोज्वल ज्योति निकली—भरतके नेत्र अपने अग्रजके अरुण चरणोंमें ही लगे हैं। अत्यन्त आतुर धावित ये श्री चरण।

गुरुदेवको प्रथम पणिपात करना ही था और साथ आये सखाओंने भी महर्षिके पदोंमें मस्तक रखा तो उनका परिचय देना आवश्यक हो गया। यह कार्य तो श्रीरामका ही था। अत्यन्त संक्षिप्त परिचय—'ये सब मेरे सखा हैं। लङ्काके समर-समुद्रमें मेरे लिए ये पोत बने। मेरी विपत्ति बँटानेको अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया इन्होंने। ❋

शिष्टाचार सम्पन्न हुआ और मुड़े श्रीरघुनाथ। श्रीभरतलाल चौंके–'प्रभु आरहे हैं। इधर ही आरहे हैं मेरे स्वामी।'

दोनों भुजाएँ फैलाए, नेत्रोंमें असीम स्नेहाश्रु लिये, पुलक प्रपूरित तन, दौड़ते चपल-पद, अङ्कमें भर लेनेको आतुर आ रहे हैं श्रीरघुनाथ ! प्रभु स्वयं दौड़ आरहे हैं !

❋ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे।........ श्रीरा. च. मा. उत्तर ७. ६. ८

—+—